नयी कविता के खण्ड-काव्यों में अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय हैदराबाद की पी-एच. डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध)

1994

प्रस्तुतकर्त्री :

ए० शैलजा दोरा, एम. फिल्

निर्देशक :
डॉ० सी० एच० रामुलु,
एम. ए. पी-एच. डी.
रीडर, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।

अध्यक्ष :
डॉ० शशि मुदिराज,
एम. ए., डी. लिट्.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।

C E R T I F I C A T E

Certified that this thesis is a Bonafide record of the Research work done by Smt.**A.Shailaja Dora** in Hindi under my guidance and supervision during 1989-94.This is an original Research work on

NAI KAVITHA KE KHAND KAVIYON ME ASTITVAVADI JEEVAN - DARSHAN

by her and this thesis has not formed in whole or part, the basis for any award of Degree or Diploma.

Hyderabad.

Date :

(Dr. CH. Ramulu)
Supervisor

This thesis may be accepted for adjudication.

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad,
Hyderabad-500 134

Head, Department of Hindi.
Prof. & Head, Dept. of Hindi
[illegible]
[illegible]
HYDERABAD-500 134

D E C L A R A T I O N

I Mrs. **A. Shailaja Dora** hereby declare that this thesis **NAI KAVITHA KE KHAND KAVIYON ME ASTITVAVADI JEEVAN - DARSHAN** is prepared by me on the basis of my own independent Research work done under the guidance and supervision of **Dr.CH.Ramulu** Reader in Hindi, University of Hyderabad.

A Shailaja Dora
Signature of the Candidate

अनुक्रमणिका
****

पृष्ठ संख्या
****

प्राक्कथन
******

प्रथम अध्याय 1 – 59.

अस्तित्ववादी जीवन दर्शन: स्वरूप और संधारणा
****

1.1. अस्तित्ववाद : स्वरूप और संधारणा

1.2. अस्तित्ववाद का प्रारम्भ और विकास

1.3. अस्तित्ववाद : परिभाषा

1.4. अस्तित्ववाद के उदय के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ

1.5. अस्तित्ववादी दर्शन के तत्व

1.5.1. अस्तित्ववादी चिन्तन में शून्यता, निराशा, व्यथा, विसंगति, संत्रास, एकाकीपन आदि का स्थान

1.5.2. अस्तित्ववादी चिन्तन में कर्म और संघर्ष का स्थान

1.5.3. अस्तित्ववादी जीवन दर्शन में मृत्यु का स्थान

1.5.4. अस्तित्ववादी चिन्तन में क्षण का महत्व

1.5.5. अस्तित्ववादी चिन्तन में "समाज" का स्थान

1.5.6. अस्तित्ववादी चिन्तन में जीवन – मूल्यों का स्थान

1.5.7. अस्तित्ववादी चिन्तन में काल और इतिहास का स्थान

1.5.8. अस्तित्ववादी चिन्तन में ईश्वर का स्थान

1.5.9. अस्तित्ववादी चिन्तन में मानवीय स्वतन्त्रता का स्थान

1.5.91. वैयक्तिकता के सन्दर्भ में

1.5.9.2. व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के संदर्भ में

1.5.10. अस्तित्ववादी चिन्तन में नैतिकता का स्थान
1.5.11. अस्तित्ववादी चिन्तन में घृणा, अलगाव, प्रेम, व्याकुलता, अहं, लज्जा की भावना
1.5.12. अस्तित्ववादी चिंतन में मनुष्य का स्थान
1.5.13. अस्तित्ववादी चिन्तन में उत्तरदायित्व की भावना का स्थान
1.5.14. अस्तित्ववादी चिन्तन में यथार्थवाद का स्थान
1.5.15. अस्तित्व हेतु का स्थान

1.6. अस्तित्ववाद दो विचारधाराएँ

1.6.1. ईश्वरवादी विचारधारा-पाश्चात्य संधारणा
1.6.1.1. सारेन कीर्केगार्द
1.6.1.2. मार्टिन बूबर
1.6.1.3. ग्रैबियल मार्सेल
1.6.1.4. ईश्वरवादी विचारधारा-भारतीय संधारणा
1.6.1.5. अरविंद का दर्शन
1.6.1.6. राधाकृष्णन के अनुसार
1.6.1.7. दयानन्द सरस्वती का त्रैत सिद्धान्त
1.6.2. अनीश्वरवादी विचारधारा - पाश्चात्य संधारणा
1.6.2.1. नीत्शे का दर्शन
1.6.2.2. हैड़गर का दर्शन
1.6.2.3. ज्याँ पॉल सार्त्र
1.6.2.4. आल्बेयर कामू
1.6.2.5. अनीश्वरवादी विचारधारा - भारतीय संधारणा
1.6.2.6. चार्वाक दर्शन
1.6.2.7. महात्मा बुद्ध

1·7· अस्तित्ववादी चिन्तन के विरूद्ध लगाये गये कतिपय आरोप-
औचित्य - अनौचित्य
1·8· अस्तित्ववाद की आलोचना

द्वितीय अध्याय 60 - 198·

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद और नयी कविता के
खंड काव्य तथा अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद और
नयी कविता के खंड काव्य
****

2·1· ईश्वरवादी विचारधारा
2·1·1· ईश्वर-आस्था
2·1·2· आस्था से अनास्था
2·1·3· भय एवं संत्रास
2·1·4· नियति
2·1·5· अलगाव
2·1·6· उदासी - उद्विग्नता
2·1·7· दु:ख : पीड़ा
2·1·8· निराशा : विसंगति
2·1·9· कुण्ठा
2·1·10·धर्म
2·1·11·ऊब
2·1·12·निरर्थकता

2·2· अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद और नयी कविता के खंड काव्य

2·2·1· कर्म

2·2·2· संशय : द्वन्द्व, निर्णय

2·2·3· संघर्ष

2·2·4· संकल्प

2·2·5· मैं : स्व

2·2·6· पौरुष

2·2·7· लघु मानव

2·2·8· उत्तरदायी

2·2·9· अहं

2·2·10·ईश्वर की मृत्यु : अनास्था

2·2·11·अनास्था में आस्था

तृतीय अध्याय 199-277·

वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्ववादी दर्शन

3·1· व्यक्ति

3·2· व्यक्ति स्वातंत्र्य

3·3· समाज

3·4· व्यक्तिगत एवं समष्टिगत मूल्य

3·5· व्यवस्था

3·6· मर्यादा

3·7· परंपरा

3·8· इतिहास

3·9· परिस्थितियाँ

चतुर्थ अध्याय 278-363

मानवीय यथार्थ और अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन

4·1· यथार्थ

4·2· सत्य

4·3· युद्ध

4·4· काल

4·5· मृत्यु

4·6· क्षण

4·7· अस्तित्व की सार्थकता

पंचम अध्याय 364-428·

मानवीय सम्बन्ध और अस्तित्ववादी चेतना

5·1· मानवीय सम्बन्ध

5·1·1· पति - पत्नी सम्बन्ध

5·2· चेतना

5·3· प्रेम

5·4· घृणा

5·5· चिन्ता

5·6· इच्छा

5·7· प्रश्न

5·8· स्व / स्वाभिमान/ विवेक

5·9· असहमति/असंतोष

5·9·1· नारी का आक्रोश

5.10. अस्तित्व बोध

5.11. नैतिकता

5.12. चेतना

5.13. जीवन की सार्थकता

षष्ठ अध्याय 429-467.

संप्रेषण और संपूर्ण अस्तित्ववादी जीवन दर्शन

6.1. संप्रेषण

6.2. स्पर्श

6.3. सूक्ष्मता

6.4. लज्जा

6.5. अस्तित्व खोना

6.6. मुक्ति

6.7. आत्मानुभूति : आत्मसाक्षात्कार

6.8. शून्य

6.9. संपूर्णता

6.10. नए अर्थ

उपसंहार 468-

सहायक ग्रन्थ सूची I-

****

प्राक्कथन

मनुष्य महज़ माँस का पुतला नहीं होता। उसकी नियति महज़ मिट्टी नहीं होती। व्यक्ति का एक वैचारिक व्यक्तित्व होता है। जीवन में ही नहीं मृत्यु में भी उसे जीवन मूल्य चाहिए। मनुष्य का होना आत्मा का होना है और आत्मा का होना माँस मिट्टी का होना ही नहीं है। पशु का भी होना नहीं है। मनुष्य का होना उसके अस्तित्व का पशु से, माँस से मिट्टी से इतर महान होना है। एक परिपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करके ही व्यक्ति वास्तविक अर्थ में सार्वभौम बन सकता है। इसमें द्वन्द्व चिन्तन से मथा हुआ आत्मिक जीवन दर्शन है जिसके दायरे में दुनियादारी बेमानी लगती है।

चिन्तन का मुख्य काम यह है कि व्यक्ति को व्यक्तिगत सत्ता को शेष सृष्टि से सम्बन्धित करे - इस प्रकार कि व्यक्ति अपने जीवन की विविध सम्भावनाओं का साक्षात्कार कर सके। व्यक्ति का शेष जगत से संभावना मूलक संबंध ही नैतिकता है। विश्व को जानने का असली अर्थ यह समझना कि इसकी सम्बद्धता से व्यक्ति को कैसे चलना या बढ़ना है। जीवित रहने का अर्थ है -- नैतिक निर्णय लेते या करते चलना और सम्पूर्ण भावना प्रवेग के साथ अपनी जिम्मेदारी का पूर्ण एहसास रखना।

यही सब हमें अस्तित्ववाद में दिखाई देता है, जो आधुनिक युग का बहुचर्चित और सर्वाधिक प्रतिष्ठित दार्शनिक मतवाद है, जिसमें जीवन के प्रति वैयक्तिक दृष्टि की प्रधानता है। बीसवीं शताब्दी की दुर्दान्त प्रवृत्तियाँ निर्वैयक्तिक्तात्मक और विघटनकारी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के इकाई की संभावना और विकास को संयोजित और नियंत्रित कर रहीं थीं। सामाजिक संस्थान और राज्य व्यक्ति की गरिमा को विभिन्न वर्जनाओं और निषेधों द्वारा

बाँध रहे थे और आधुनिक जीवन की जटिलताएँ उसकी नियति रही थीं। इन्हीं परिस्थितियों में अस्तित्ववाद पनपा। मानवता पर आये इस संकट के कारण अनिवार्य हो गया था कि मानव को पुन: उसके प्राकृतिक आन्तरिक स्वरूप में ऊर्ध्वमुखी चेतना का आधार प्रदान किया जाए और उसके अस्तित्व को आन्तरिक गरिमा का सबल और बौद्धिक सम्बल दिया जाए जिससे वह सम्पूर्ण मानव बन सके।

मनुष्य की स्थूल और सूक्ष्म अन्तर्निहित क्षमता जो मनुष्य की संकल्प शक्ति और चयन बुद्धि द्वारा विकसित और सार्थक बनती है अस्तित्व है।

अस्तित्ववाद मानवीय जिजीविषा, सत्ता, स्वतन्त्रता और महत्ता का दर्शन है।

अस्तित्ववादी दर्शन पर शोध करने का महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह एक ही दर्शन है जो यह कहता है कि व्यक्ति में स्वनिर्माण की योग्यताएँ अंतर्निहित हैं और तदनुरूप वह अपने आपको ढालता है।

अस्तित्ववाद सम्बन्धी चर्चा हिन्दी साहित्य में बहुत कम हुई है।

नयी कविता के निम्न खंड-काव्यों को इसमें लिया गया है। प्रत्येक काव्य का भाव इस प्रकार है --

1. आत्मजयी -- इस काव्य में जीवन मृत्यु मूल्य के कथ्य को चुना-धुना-गुना गया है, जिसे अध्यात्मवाद से लेकर व्यक्ति अस्तित्ववाद तक आसानी से व्याख्यायित किया जा सकता है। इस व्याख्या का मकसद जीवन - मूल्यों की तलाश है जीवन-मूल्यों का सम्बन्ध समूची मानवता से है - मृत्युबोध में से आत्मबोध की उपलब्धि।

2· अंधायुग:--

अंधायुग सांस्कृतिक मूल्यों का पतन और सामन्ती मूल्यों का प्रभाव दर्शाता है। इसका मुख्य मुद्दा युद्ध - युद्धोत्तर मानवीय मूल्य-ह्रास का है। मनुष्य और उसका परम अस्तित्वाधार ईश्वर और उसका लोक-रूपांतरण इस कृति की अभिव्यक्ति का मूलकेन्द्र है। यानी इस विशाल वटवृक्ष का महाबीज रूप वह [लघु] व्यक्ति है, जो प्रत्येक परिस्थिति - नियति में, भूत-भविष्य में किसी न किसी रूप - रूपांतरण में ईश्वर को वर्तमान पाता है।

3· आत्मदान:--

इस काव्य में सामाजिक मूल्य तथा अहल्या के मन का द्वन्द्व दोनों का संघर्ष है। इसका मुख्य उद्देश्य पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी की स्थिति को स्पष्टकर उसे वर्तमान नारी - मुक्ति आंदोलन से जोड़ देता है।

4· संशय की रात :--

यह काव्य मूल्यों और मान्यताओं के ऊहापोह को प्रस्तुत करनेवाला काव्य है। इस कृति का संदेश ही यह है कि मूल्यामूल्य का विचार करते समय युद्ध और शांति व्यष्टि और समष्टि की बात न करके संशय और कर्म में किसी एक का चयन राम के सहारे कर्मवाद का प्रतिपादन किया है। कर्म ही मानव का वरेण्य मूल्य है।

5· कल्पांतर :--

निस्सीम अंतरिक्ष में फैले अनन्त ग्रह नक्षत्रों के बीच पृथ्वी के विराट अस्तित्व और जीवन्त अद्वितीय से काव्य प्रारंभ होता है। विज्ञान ने मानव को सुख दिया है। किन्तु यह भी सत्य है कि उसने मानव को निष्क्रिय और अकर्मण्य बनाया है। विज्ञान की चकाचौंध में मानव अपने को ही भूल बैठा है। वह विज्ञान का दास हो गया है।

6· कनुप्रिया :--

प्रेम में आस्था प्रकट करते हुए नर-नारी के प्रेम सम्बन्ध को परम मूल्य के रूप में प्रकल्पित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमे नारी के सम्बन्ध में एक मूलभूत प्रश्न उठाया गया है कि वह पुरुष की सच्ची सहधर्मिणी हो अथवा मात्र केली का साधन। इस प्रकार राधा की वैचारिक भावभूमि पर नर-नारी के शाश्वत सम्बन्धों के साथ समसामयिक जीवन-मूल्य की खोज इस खण्ड काव्य का उद्देश्य रहा है।

7· एक कंठ विषपायी :--

इस काव्य में सिर्फ मृत्यु को सत्य मानकर एक महत् जीवन दर्शन की स्थापना की गई है। यह स्थापना भारतीय संस्कृति की मृत्यु विषयक अवधारणा के अनुकूल है। जहाँ व्यक्ति मृत्यु को अन्तिम सत्य या महत् सत्य के निमित्त के रूप में स्वीकार करने से कतराता है। सबसे बड़ा प्रश्न है कि मृत्यु की पीड़ा से निष्कृति किस प्रकार मिल सकती है। इस सूक्ष्म प्रश्न का उत्तर यही है कि कुण्ठित विवेक पर विजय पाई जाय।

8· महाप्रस्थान :---

महाप्रस्थान एक सवाल है। सवाल है मनुष्य की मुक्ति, धर्म, दर्शन और विचार या राज्य व्यवस्था का। मानवीय विकास और संगठन की दृष्टि से राज्य व्यवस्था आवश्यक है और व्यवस्था को अपना अस्तित्व टिकाये रखने के लिए युद्ध आवश्यक है। इसलिए की हर चरम सीमा पर पहुँचने के उपरान्त एक स्थिति ऐसी भी आती है कि जहाँ न्याय के लिए, सत्य के लिए अधिकार के लिए या भौतिक संदर्भों में जीते हुए हमारे मन में पनप चुकी संस्कृति, मर्यादाएँ या प्रतिष्ठा के लिए युद्ध करना पड़ता है, जो कि एक सामूहिक अंधता है।

9· इतिहास पुरुष:--

इसमें क्षणजीवी मनुष्य की अदम्य जिजीविषा और अखण्ड शक्ति को जमाकर विरक्ति और वर्जन की सीमा से मानव चेतना को परे मानते हुए युग जीवन को आशा और लोकमंगल से समन्वित किया गया है।

10· प्रवाद पर्व:--

इस काव्य में व्यक्ति और शासन के अधिकारों की समस्या पर एक वैचारिक प्रश्न चिह्न लगाया गया है।

11· शम्बूक:--

जो विद्रोह किसी आस्था की धरती से नहीं उठता वह हवा में गुबार की तरह निरर्थक होकर खो जाता है। शम्बूक का विद्रोही स्वभाव उन गहरे मानव मूल्यों की उपज है जिनके आधार पर नयी कविता के आंदोलन काल में नये मनुष्य की परिभाषा निर्मित हुई थी।

उपर्युक्त काव्यों में प्रस्तुत अस्तित्ववादी दर्शन और मृत्युबोध संबंधी चिन्तन के आधार पर मैंने विचार विश्लेषण किया है।

इस शोध प्रबन्ध का विभाजन छह अध्यायों में किया गया है।

पहले अध्याय में अस्तित्ववाद स्वरूप और संधारणा, अस्तित्ववाद का प्रारंभ और विकास, परिभाषा, उदय के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ, दर्शन के तत्व, अस्तित्ववादी विचारधाराएँ-ईश्वरवादी विचारधारा पाश्चात्य संधारणा में सारेन कीर्केगार्द, मार्टिन बूबर, गैब्रियल मार्सल, भारतीय संधारणा में - अरविंद, राधाकृष्णन, दयानन्द सरस्वती का द्वैत सिद्धान्त, अनीश्वरवादी विचारधारा पाश्चात्य संधारणा में - नीत्शे, हैडगर, ज्याँ पाल सार्त्र, आल्बेयर कामू, भारतीय संधारणा में चार्वाक, महात्माबुद्ध, तथा अस्तित्ववादी चिंतन के विरुद्ध लगाये गये कतिपय आरोप-औचित्य -अनौचित्य एवं अस्तित्ववाद की आलोचना पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में ईश्वरवादी अस्तित्ववाद और नयी कविता के खंड काव्य तथा अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद और नयी कविता के खंड काव्य में आनेवाले तत्वों का क्रमश: विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्ववादी दर्शन में व्यक्ति स्वातंत्र्य पर बल देते हुए व्यक्तिगत एवं समष्टिगत मूल्यों का अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में मानवीय यथार्थ और अस्तित्ववादी जीवन दर्शन में मानवीय यथार्थ को बताते हुए अस्तित्व की सार्थकता बतायी गयी है।

पंचम अध्याय में मानवीय सम्बन्ध और अस्तित्ववादी चेतना में मानवीय सम्बन्धों को दिखाते हुए जीवन की सार्थकता दिखायी गयी है।

षष्ठ अध्याय में संप्रेषण और संपूर्ण अस्तित्ववादी जीवन दर्शन में संप्रेषण के माध्यमों को दिखाते हुए आत्मसाक्षात्कार के साथ संपूर्ण अस्तित्ववादी जीवन दर्शन पर विचार विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

उपसंहार में विषय का मूल्यांकन किया गया है। सहायक ग्रन्थों की सूची संलग्न है।

इस शोध ग्रंथ के प्रस्ताव से लेकर रूपरेखा बनाने, पुस्तकें उपलब्ध कराने तथा निर्देशन देने और शोध प्रबन्ध के इस आकार ग्रहण तक जिन्होंने मुझे सबसे अधिक प्रोत्साहन दिया है। मैं अपने शोध प्रबंध के निर्देशक आदरणीय डॉ॰सी॰एच॰रामुलु जी का आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ।

विभागाध्यक्ष श्रद्धेय प्रोफेसर डॉ॰शशि मुदिराज के द्वारा विषय की स्वीकृति प्रदान करने के लिए अपना आभार प्रकट करती हूँ।

आदरणीय प्रोफेसर डॉ॰ नूरजहाँ बेगम ने विषय चयन के समय और बाद में पंजीबद्ध होते समय जिस सदाशयता एवं स्नेह से समर्थन प्रदान किया उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

अपने पूज्य माता - पिता के प्रोत्साहन के कारण ही मैं यह कार्य पूरा करने में समर्थ हो सकी हूँ। उनकी मैं चिर ऋणी हूँ।

अपनी बड़ी बहन सुजाता अमबाबु, छोटी बहन शशि तथा मेरे सास-ससुर के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ और अंत में मेरे पति श्री श्रीनिवास जी के प्रति अपना हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इस कार्य को पूर्ण रूप देने में अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया है।

अंत में अपने इस प्रयास को शोध प्रबंध के रूप में सुधीजनों के सम्मुख प्रस्तुत करती हूँ।

शैलजा दोरा
-शैलजा दोरा

प्रथम अध्याय

अस्तित्ववादी जीवन दर्शन : स्वरूप और अवधारणा

मानव प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट कृति है। किन्तु मानव क्या है? यह प्रश्न अनादिकाल से ही मानव की जिज्ञासा का केंद्र रहा है। वह जानता है कि "मानव स्वयं" उसके गहन और विस्तृत अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है। मानव द्वारा मानव को उसके समग्र रूप में जानना ज्ञान क्षेत्र का सबसे प्रमुख उपादेय तथा गूढ़ विषय है।

मानव रहित सृष्टि की कल्पना करना एक भयावी उजाड़ तथा श्मशानवत क्षेत्र के विषय में सोचना है। अत: मानव, विश्व का वह अनूठा उपादान है, जिसकी प्रतिष्ठा तथा स्वतंत्रता की महत्ता सभी धर्मों, विश्वासों तथा विचारधाराओं में स्वीकार कीगयी है। ईश्वर में आस्था रखनेवाले दर्शन मानव में ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति पाते हैं तो अनीश्वरवादी मानव की सर्वशक्तिमत्ता को प्रतिष्ठित करते हैं। महाभारत में कहा गया है कि ---

"गुह्यं ब्रह्मं तदिदं वो ब्रवीमि।
न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।।"[1]

मानव विश्व में इतना महत्वपूर्ण प्राणी है कि दार्शनिक तथा सामाजिक चिंतन का केंद्र ईश्वर, पदार्थ तथा विज्ञान न रहकर स्वयं मनुष्य ही रह गया है। इसलिए मानव को परिभाषित करना सरल भी नहीं है।

कॉरपस ज्यूरिस ⁅2⁆ ने मानव के बारे में लिखा था, "बुद्धि शून्य पशु तथा जड़ वस्तु से भिन्न जीवन, बुद्धि, इच्छा शक्ति तथा स्वतन्त्र अस्तित्व से संपन्न प्राणी शरीर तथा मस्तिष्क से युक्त जीवन, मानव जाति का प्रतिनिधि, शरीर तथा आत्मा से बना मनुष्य, पुरुष, स्त्री, बच्चा, नैतिक आदर्शों का अभिकर्ता, आत्म – चैतन्य प्राणी ही संपूर्ण मानव है।

यदि और भी व्यापक अर्थ में मानव को परिभाषित करना है तो वह मात्र एक जीवित प्राणी ही नहीं है, प्रत्युत वह एक पदार्थ भी है, जिसका शरीर उसके भौतिक पर्यावरण को प्रभावित करता है। वह एक जीवित प्राणी है, जिसके अंतर्निहित प्रयोजनवत्ता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह निज के मस्तिष्क से संपन्न प्राणी है जो भूत तथा भविष्य में देखने की क्षमता रखता है। साथ ही अपने निजी तथा वैयक्तिक संसार का अवलोकन करने में समर्थ है। वह संवेग तथा भावनाओं से युक्त एक सामाजिक तथा नैतिक प्राणी है, जिसके व्यक्तित्व का विकास तथा निर्माण सामाजिक पर्यावरण में होता है। उसकी नैतिक दृष्टि उसे आत्म – साक्षात्कार के योग्य बनाती है तथा दूसरों के अंत: अध्ययन में समर्थ बनाती है। वह एक धार्मिक प्राणी भी है जो अपने जीवन एवं कर्म के लिए दैविक एवं आध्यात्मिक सहायता प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्न करता है। आध्यात्मिक तत्व के प्रति उसके अन्तर् में उत्कट प्यास होती है और उससे मिलाप चाहता है।⁅3⁆

इसके अतिरिक्त मनुष्य एक विवेकशील प्राणी भी है जो अपने स्वयं के कर्मों का परीक्षण ह और मूल्यांकन करता रहता है तथा सत्य एवं मिथ्या और अच्छाई एवं बुराई के बीच भेद करता हुआ अपनी त्रुटियों का सुधार करता रहता है।⁅4⁆ इस प्रकार मानव एक जटिल प्राणी है।

वह बाह्य एवं आंतरिक दो प्रकार से जीवन जीता है। दोनों ही ओर से सदैव शक्ति प्राप्त करता हुआ अपने अस्तित्व को बनाये रखने की चेष्टा करता है।

1.1. अस्तित्ववाद : स्वरूप और संधारणा :---

अस्तित्ववाद "अस्ति" में अस्ति होने का बोध कराता है।(5) यों पेड़-पौध, पशु-पक्षी आदि सभी का अस्तित्व होता है। किन्तु अस्तित्ववाद के अर्थ में मनुष्य का अस्तित्व ही स्वीकार्य है। वह "होने" की सतत प्रक्रिया से गुजरता रहता है। पर उनका आत्म विस्तार प्राणि शास्त्रीय प्रक्रिया का अंग है। मनुष्य अपना विस्तार या होने को अपने खुद के निर्णय से करता है।

"अस्तित्व" शब्द अंग्रेजी के "एक्जिस्टेंस" शब्द का पर्यायवाची है।(6) साधारण भाषा में इन्द्रिय सुलभ प्रत्येक उपस्थिति को अस्तित्वपूर्ण कहा जा सकता है। "कोश" के अनुसार अस्तित्व का अर्थ है --"जीवित रहने की वह पद्धति जो अन्य वस्तुओं के साथ समायोजन में निहित है।(7) प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात "अस्तित्व" शब्द दार्शनिक पद के रूप में ग्रहण किया गया।(8)

"एक्ज़+इस्ट" शब्द का अस्तित्व "सार" का पूर्ववर्ती है।
(Existence preceedes Essence) (10)
अस्तित्ववादियों ने "अस्तित्व" और "सार"शब्दों का विशेष अर्थों में प्रयोग किया है। इनके अनुसार "सार" प्रकृति का निश्चित आकारयुक्त, प्रयोजनशील, निष्क्रिय तत्व है और "अस्तित्व" वह चेतना सम्पन्न क्रियाशील अनिश्चित अंश है जो सृष्टि में मानव -मात्र को ही लक्षित

होता है।§1.1§ सार्त्र का कथन है कि प्रारम्भ में मनुष्य कुछ भी नहीं होता। बाद में ही वह कुछ होता है, वह स्वयं अपना ही बनाया हुआ होता है।§1.2§ अतः यह स्पष्ट है कि अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है।

वस्तुओं की सत्ता अपने अस्तित्व को नहीं जानती। व्यक्ति चिन्तनशील होने के नाते जानता है कि वह है। उसकी "हूँ" की यह भावना ही शेष जगत् से उसे अलग विशिष्टता प्रदान करती है।

मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। स्वतंत्रता "होने" की बुनियादी शर्त है, किन्तु यह चुनाव, निर्णय, क्रिया और दायित्व से बंधा हुआ है। इनके माध्यम से ही मनुष्य अपनी सम्भावनाएँ अन्वेषित करता है, जो उसकी अपनी होती है, "यूनीक" होती है। स्वतन्त्र होकर ही वह प्रामाणिक जिन्दगी जी सकता है। मनुष्य एक सिद्ध पदार्थ नहीं है उसका स्वभाव और उसकी सार सत्ता पहले से निश्चित नहीं है। सृजनशील मनुष्य अपने स्वरूप का निर्माण एवं निर्धारण स्वयं करता है। उसकी जीवन यात्रा अनेक सम्भावनाओं के बीच होती है, उन अनेक सम्भावनाओं में से कुछ को चुनकर मनुष्य आत्मनिर्माण करता है।

1.2. अस्तित्ववाद का प्रारम्भ और विकास :---

अस्तित्ववाद आधुनिक यूरोपिय चिंतन की देन है और इसका प्रारंभ सुप्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक सारेन कीर्कगार्द के चिन्तन से होता है।

नैतिक दृष्टि से यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण मानव बनने का प्रयत्न करे। मानव समाज में सभी मनुष्य समान हैं

में बांधा जा सकता है। अस्तित्ववाद ने प्रथम उन्मेषकाल से ही व्यक्ति की गरिमा और उसके महत्व का प्रतिपादन किया।

यूरोप में युद्धोत्तर परिस्थितियों के कारण इस चिंतनधारा का तेजी से विकास हुआ। दो महायुद्धों के बीच मानवीय व्यक्तित्व का जो विघटन हुआ, उसने प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति को जीवन और जगत् के प्रति नये सिरे से सोचने पर विवश किया। युद्ध की विभीषिका ने आदमी को एकबारगी नंगा कर दिया। उसके मन में कुंठा, त्रास और भय की भावना विष की तरह फैल गई। परम्परागत आदर्श और जीवन मूल्य चरमराकर टूट गए। इन सारे विघटनों और टूटनों के बीच मानव अस्तित्व की रक्षा का सवाल मुख्य हो गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रमुख अस्तित्ववादी विचारक हैं सारेन कीर्केगार्द, मार्टिन बूबर कार्ल जैस्पर्स, गैब्रियल मार्सल, नीत्शे, डॉ॰मार्टिन हैडगर, ज्यॉं पाल सार्त्र और आल्बेयर कामू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भारतीय चिन्तकों में महर्षि अरविंद, राधाकृष्णन, स्वामी विवेकानंद, दयानन्द सरस्वती, चार्वाक तथा महात्मा बुद्ध के दर्शनों में अस्तित्ववाद के आधुनिक आध्यात्मिक स्वरूप का चिन्तन उपलब्ध होता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और विचारक डॉ॰सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन "अज्ञेय" के गद्य लेखों और नवीनतम काव्य रचनाओं में अस्तित्ववाद के विचारों का ग्रन्थन और चिन्तन मिल जाता है।

युद्धों के पश्चात् व्यक्ति के पास केवल उसका अपना अस्तित्व रह गया था। युद्ध के पूर्व जिस अस्तित्व पर सन्देह किया जाता था और कोई निर्णायक उत्तर नहीं मिलता था, उस अस्तित्व पर विचार करने के लिए मनुष्य विवश हो गया। खंडित होते हुए मूल्यों और टूटते हुए

विश्वासों के बीच आदमी प्रश्नाकुल हो उठा था। इसी पृष्ठभूमि में "अस्तित्ववाद" पनपा।

1.3. अस्तित्ववाद : परिभाषा :---

अस्तित्वत्ववाद को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है लेकिन हमने कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं को ही उद्धृत किया है।

1. अस्तित्ववादी दर्शन चिन्तन का वह रास्ता है जो सम्पूर्ण पार्थिव ज्ञान को अपनाते हुए उसे इस क्रम में परिवर्धित करता है, जिससे मानव पुनः स्वयं जैसा बन सके।(13)

2. "अस्तित्व" शब्द का उपयोग इस दावे पर जोर देने के लिए किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में स्वयं जैसा (Unique) है और आध्यात्मिक या वैज्ञानिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में अविश्लेषणीय है। यह वह अस्तित्वमय है, जो स्वयं चिंतन करता है यह कि वह स्वतंत्र है और चूँकि वह स्वतंत्र है इसलिए सहन करता है, यह कि उसका भविष्य कुछ अंशों में उसकी स्वतंत्रता पर निर्भर है अतः उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।(14)

3. अस्तित्ववाद व्यक्तिगत जीवन या "अस्ति" का दर्शन है। वह उस व्यक्ति की स्थिति को समझने का प्रयत्न है, जो वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए अपने कर्मों के लिए स्वयं पूरी जिम्मेदारी महसूस करते हुए जीवन - यापन करता या करना चाहता है। (15)

4. जर्मन विचारक डॉ.मेक्स बेन्स ने भी अस्तित्ववाद पर विचार करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि अस्तित्ववाद व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना का दर्शन है। उसके अनुसार व्यक्ति में स्व-निर्माण की योग्यताएँ अंतर्निहित होती है और तदनुरूप वह अपने आपको ढालता है। अर्थात् व्यक्ति स्वयं अपना नियंता है।(16)

5• अस्तित्ववाद अधुनातन जीवन के विभिन्न निषेधों, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों की यांत्रिकता के बीच आबद्ध व्यक्ति - इकाई की आकुल चिन्ता का वैज्ञानिक और समीचीन विश्लेषण है।§17§

1•4• अस्तित्ववाद के उदय के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ :----
****

युग प्रवर्तन के साथ मानव मस्तिष्क की चिंतनधारा विकसित और परिवर्तित होती रहती है और वही युग - दर्शन का रूप ग्रहण करती है। यही कारण है कि जैसे - जैसे युग बदलता है दार्शनिक चिन्तन धाराएँ भी न्यूनाधिक रूप में बदलती रहती हैं। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि दार्शनिक भविष्य दृष्टा होते हैं। उनके विचारों में युग परिवर्तन की भी शक्ति होती है। दोनों ही तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि दर्शन का सम्बन्ध युग विशेष से बहुत घनिष्ठ होता है अ फिर वह चाहे कितना भी देशकाल व्यापी क्यों न हो। अतः किसी भी दर्शन को समझने के लिए उसके उदय *काल* की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

अस्तित्ववाद के प्रेरक तत्व हैं: फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति, दोनों विश्वयुद्ध और विज्ञान। सर्वप्रथम अमेरिका का स्वातन्त्र्य संग्राम घटित हुआ, जिसने ब्रिटिश राजतन्त्र को छिन्न - भिन्न कर दिया और ब्रिटेन के अधिकार को निश्शेष बना दिया। औपनिवेशिक शासन को बदलने में इसका महत्वपूर्ण हाथ है। दूसरी क्रान्ति औद्योगिक है, जिसने प्रजातन्त्र की भूमिका पर ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपिय देशों को कृषि - प्रधान न रहने दिया, उन्हें औद्योगिक बना दिया। अन्त में फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में

महत्वपूर्ण और समयोचित परिवर्तन किये।) फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने सभी धार्मिक अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, बन्धनों और अत्याचारों के विरुद्ध जेहाद का नारा लगाकर मनुष्य को स्वतन्त्र और समान घोषित किया।

फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू से यह ज्ञात होता है कि अबतक धार्मिकता की जो हवा चल रही थी जिसमें समस्त मूल्यों तथा प्रतिमानों का स्रोत किसी दिव्य सत्ता को माना जाता था और मनुष्य को सदैव निम्न स्तर का समझा जाता था। इस क्रान्ति के कारण इस सिद्धान्त में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। क्रान्ति का लक्ष्य मनुष्य को जन्म से स्वतन्त्र मानना और बन्धुत्व समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों की प्राप्ति कराना था। इस तरह से व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा हुई।

(अस्तित्ववाद के उदय, प्रचार और प्रसार का दूसरा और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण दो विश्व युद्धों की विभीषिका से उत्पन्न आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विद्रूपता, वैषम्य, अस्थिरता एवं निराशा की भावना का होना है।)

युद्ध के दिनों मनुष्य ने क्षण भर में अपनी सम्पत्ति नष्ट होते देखी, नित्यप्रति अपने मित्रों, सहयोगियों, परिजनों और बन्धुओं को मरते देखा, बमों की गड़गड़ाहट आकाश में होनेवाली अग्नि-वृष्टि साइरन का बार - बार बजना, लोगों का हवाई हमलों के बीच मोर्चों में रक्षा-प्राप्ति के लिए भाग दौड़ करना, प्रत्येक प्रकार की आवश्यक वस्तुओं का अभाव और इसी प्रकार के बीसों अन्य यन्त्रणाओं के बीच पलकर अस्तित्ववाद बड़ा हुआ।

युद्धकालीन विभीषिका ने मानव-जीवन की क्षुद्रता, नृशंसता, स्वार्थपरता एवं कटुता का ऐसा पर्दाफाश किया कि मानवता के शुभ पक्षों पर से आस्था ही डगमगाने लग गयी। सर्वत्र निराशा, वेदना और करुणा का वातावरण छा गया। मृत्यु के जिस भयंकर स्वरूप एवं परिणाम के दर्शन लोगों को विश्वयुद्धों में हुए। उसने एक प्रतिक्रिया का रूप धारण कर लिया और जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का आविर्भाव अनिवार्य हो गया। अतीत और भविष्य को लेकर मानव जीवन में स्वर्णिम कल्पनाएँ होती रहीं, युद्धों के भयंकर परिणामों ने उनकी निस्सारता प्रकट कर दी, जिसे न तो धार्मिक अन्ध विश्वास रोक पाये और न ही काल्पनिक आश्वासन। मनुष्य की गरिमा का नये स्तर पर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपने में स्वत: सार्थक और मूल्यवान है, वह आन्तरिक शक्तियों से सम्पन्न, चेतना- स्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वत: निर्णय लेनेवाला प्राणी है। फलस्वरूप लोगों की प्रवृत्ति आत्मपरक चिन्तन की ओर झुकने लगी।

1·5· अस्तित्ववादी दर्शन के तत्व :---

अस्तित्ववादी दर्शन को सही रूप में समझने के लिए उसके तत्वों का अवलोकन करना आवश्यक है।

1·5·1· अस्तित्ववादी चिन्तन में शून्यता, निराशा, व्यथा, विसंगति, संत्रास, एकाकीपन आदि का स्थान :----

अस्तित्ववादी दर्शन में शून्यता (Nothingness), निराशा (Despair), व्यथा (Anguish), विसंगति (Absurdity), संत्रास (Dread), अपराध भावना (Guilt), एकाकीपन (loneliness),

आदि प्रत्येक मानवीय अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है।

हैडगर ‖18‖ के अनुसार मनुष्य स्वयं को - न जाने कहाँ से" इस संसार में फेंका हुआ समझता है। जहाँ से उसे फेंका गया है वह स्थान उसके लिए अज्ञात है, शून्य है। यह मनुष्य के भूतकाल से सम्बन्धित शून्यता है, जब मनुष्य मरता है तब भी वह न जाने कहाँ" जायेगा, उसका उसे मान नहीं है। यह मनुष्य की भविष्य से संबंधित शून्यता है क्योंकि यह भूत और भविष्य सम्बन्धी शून्यता मनुष्य के संरचनात्मक पक्ष से सम्बन्धित है। अत: यह मनुष्य के वर्तमान पर भी छायी रहती है। इस प्रकार मनुष्य के भूत, भविष्य और वर्तमान में सभी जगह शून्यता का ही निवास है।

कीर्केगार्द के आस्थावादी दर्शन में निराशा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसके अनुसार निराशा मुख्य रूप से मनुष्य के ईश्वर में "आत्म परकीयकरण" ‖ Self-Alienation ‖ के कारण उत्पन्न होती है। ईश्वर से अपने सम्बन्ध को कटा हुआ देखकर मनुष्य अपने अस्तित्व की निर्मूलता का बोध प्राप्त करता है और स्वयं को व्यग्र एवं एकाकी अनुभव करता है। वह जब स्वयं को ईश्वर के साथ पुन: संयुक्त कर लेता है तो वह निराशा से मुक्त हो जाता है।‖19‖

चेतनात्मक दृष्टि से अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ वैयक्तिक अस्तित्व एक निश्चित कार्य रूप से आबद्ध होता है। अस्तित्वमय का सम्पूर्ण परिवेश संसर्गजनित संस्कार, सहयोगीजन और यांत्रिक व्यवस्था- सब मिलकर उसकी चेतनात्मक स्वतन्त्रता को निर्धारित और नियंत्रित करना प्रारंभ कर देते हैं। स्थापित मूल्य एक निश्चित आग्रह के साथ वर्जनाओं द्वारा चेतना को प्रभावित करते हैं और अन्तत: आकांक्षित

अस्तित्व रूप में से विपरीत नियति में मानवीय चेष्टाओं को आबद्ध कर देते हैं, यह मानवीय इकाई की मूलभूत चेतना और आकांक्षा का दमन है, और विश्वजनीत "विसंगति" (Absurdity) है। (20)

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण में संत्रास कोई संक्रमणशील, क्षणिक अनुभूति मात्र नहीं है अपितु मनुष्य की वह बीजभूत भावावस्था है, जो उसके समक्ष उसके संसार में होने तथा उसके अस्तित्व के संरचनात्मक पक्ष को व्यक्त करती है। मानव अस्तित्व की समीपता, पतनावस्था (Fallenness) और अल्पकालिकता (Temporarity) ही मनुष्य के संसार में होने के संरचनात्मक पक्ष हैं, जो संत्रास की अनुभूति के माध्यम से व्यक्त होते हैं। (21)

2. अस्तित्ववादी चिन्तन में कर्म और संघर्ष का स्थान :---

कर्म मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। कर्म के अभाव में मानव-जीवन निष्क्रिय एवं शिथिल बन जाता है। इसलिए अस्तित्ववाद कर्म को मानवीय अस्तित्व का सर्वश्रेष्ठ तत्व मानता है, जिसके द्वारा जीवन की समस्त व्यर्थवादिता एवं अर्थशून्यता को उद्देश्य, आदर्श प्रयोजन एवं अर्थों से महिमा मंडित किया जा सकता है।

अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य संसार में आने के पश्चात् स्वयं ही अपने कर्मों तथा स्वतन्त्र चयन द्वारा अपने अस्तित्व को अर्थ प्रदान करता है।

सार्त्र के अनुसार कर्म के अतिरिक्त और कुछ यथार्थ नहीं है। (22)

कर्म के द्वारा ही मनुष्य स्वतन्त्र निर्णय लेता है और अपने अस्तित्व को सार प्रदान करता है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र रूप से पृथक दिखायी पड़ता है।

3. अस्तित्ववादी जीवन दर्शन में मृत्यु का स्थान :---

मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमा मृत्यु है। कीर्केगार्द के अनुसार मृत्यु एक चुनौती है, लेकिन यह मनुष्य के अस्तित्ववाद का अंत नहीं है। बल्कि वह उसे जीवन धारण करने का एक अवसर प्रदान करती है। अत: मानव को सदैव अपना ध्यान आत्मातिक्रमण की ओर ही लगाना चाहिए।§23§

मार्सल का कथन है कि मृत्यु हमें तभी दुखदायी और भयानक लगती है, जब हम अपने शरीर का अस्तित्व ही अपना अस्तित्व मानते हैं। इस स्थिति में हमें लगता है कि शरीर के नष्ट होते ही हमारा अस्तित्व भी नष्ट हो जायेगा। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। मानव अस्तित्व और उसके जीवन में भेद है। उनका कहना है कि पहले मेरा अस्तित्व है बाद में जीवन।§24§ जब हम इस भेद को समझ लेते हैं तो मृत्यु हमें उतनी भयानक प्रतीत नहीं होती क्योंकि तब यह केवल मेरे शरीर को ही नष्ट करती है, मेरे अस्तित्व को नहीं।

हेडगर के अनुसार मृत्यु मानवीय अस्तित्व की सम्भावना है।§25§ जन्म होता है फलत: मृत्यु आती है। इस सम्भाव्य मृत्यु का सेवन मनुष्य प्रारम्भ से ही करता है। वस्तुत: मृत्यु उसके अस्तित्व में ही समाहित है। उसे हटाया नहीं जा सकता। इसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। व्यक्ति मरता है इसका अर्थ है कि मृत्यु एक ऐसी

अस्तित्वगत सम्भावना है। जो अन्य सम्भावनाओं का हरण ही नहीं करती बल्कि उनकी नश्वरता और अनिश्चितता भी सिद्ध करती है। पृथ्वीनाथ शास्त्री के अनुसार "मृत्यु तो एक अनुभूत दृष्टिकोण है कि मैं जो कुछ हूँ- इस अनुभूत दृष्टिकोण पर विजय मात्र है।}26}

मरने के बाद हम अपने पीछे कुछ ऐसे अर्थ और सूत्र छोड़ जाते हैं, जिन्हें दूसरे बदल लेते हैं अर्थात् हम अपने बाह्य अस्तित्व के आयाम में अस्तित्व रख पाते हैं अतः मृत्यु जन्म के समान ही एक तथ्य मात्र है। किसी भी तरह मृत्यु का यह बंधन हमारी स्वतन्त्रता की बेड़ी नहीं बन सकता।

4. अस्तित्ववादी चिन्तन में क्षण का महत्व :---

अस्तित्ववादी मनुष्य क्षण-क्षण में जीवित रहता है। वह प्रत्येक क्षण स्वतन्त्र चयन करता हुआ अपने अस्तित्व को अर्थ प्रदान करता है। वह हर क्षण चुनाव करता है, चुनावों की धारा ही जीवन की समग्रता है। इस समग्रता को उसके सही रूप में देखने के लिए उसे टूक - टूक करके देखना होगा। अस्तित्ववादी दार्शनिक की दृष्टि में यह जीवन के निषेध का नहीं, जीवन की स्वीकृति का सबसे बड़ा प्रमाण है। डॉ॰रामस्वरूप चतुर्वेदी}27} का यह कथन उचित है। "वह }अस्तित्व-वाद} जीवन को निरुपाय तथा निरर्थक समझकर उसे एक मानवीय अर्थ तथा मूल्य देने की चेष्टा करता है। इसीलिये अस्तित्ववादी दृष्टि में प्रत्येक क्षण का अतुलनीय महत्व है।

व्यक्ति एक क्षण पूर्व जिस संवेदना में जी रहा था, दूसरे क्षण वह उसका साथ छोड़ जाती है। और दूसरी संवेदना उसका स्थान ले लेती है।

अत: व्यक्ति दो क्षणों में, दो संवेदनाओं के बीच जीता है। यही जीवन की क्षण - क्षण परिवर्तित प्रक्रिया उसे प्रत्येक क्षण के प्रति सचेत रहने की ओर प्रेरित करती है। एक क्षण मनुष्य जिस सत्ता का साक्षात्कार करता है, दूसरे क्षण वह उसका साक्षात्कार उसी रूप में नहीं कर सकता क्योंकि तब वह दूसरी संवेदना और दूसरे सत्य के साथ व्यस्त हो जाता है।

देवराज के अनुसार क्षण के दो स्तर माने जा सकते हैं -- सूक्ष्म और स्थूल। "सूक्ष्म" क्षण में व्यक्ति सत्य के साक्षात्कार करानेवाले क्षण की अनुभूतियों को व्यक्त करता है। यह मुक्ति का क्षण हो सकता है। जबकि स्थूल क्षण में असत्य, भौतिक, आसक्ति युक्त कालखण्ड की अभिव्यक्ति होती है।§28§

1·5·5· अस्तित्ववादी चिन्तन में "समाज" का स्थान :---

यद्यपि अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने व्यक्ति के महत्व पर ही सर्वाधिक बल दिया है लेकिन इसके साथ ही उन्होंने उसका सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित किया है। कीर्केगार्द और नीत्शे सामान्यत: समाज और राज्य को मनुष्य के आत्मोत्थान में बाधक ही मानते हैं, क्योंकि समाज और राज्य के अन्य व्यक्तियों द्वारा मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, जिससे मनुष्य चयन करके अपने अस्तित्व का निर्माण नहीं कर सकता लेकिन जहाँ उनकी नैतिकता सम्बन्धी धारणा का प्रश्न आता है, वे दोनों समाज के महत्व को भी स्वीकार करते हैं।

जैस्पर्स ने अपने संलाप सिद्धान्त § Communication के माध्यम से मनुष्य और समाज के सम्बन्ध पर विचार किया है।§29§ व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता, अकेले रहने पर वह अवसादपूर्ण एकान्त

में खो जाता है। सच्चाई यह है कि मनुष्य दूसरों से सम्बद्ध होने पर ही स्वयं को प्रकट कर सकता है।

मार्सल के अनुसार अन्य लोगों के अस्तित्व का सबसे बड़ा महत्व इसलिये है कि मनुष्य उनके अस्तित्व का सामना करके ही अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त कर सकता है।﴾30﴿ यदि कदाचित संसार में मनुष्य के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति न होता तो वह अपने अस्तित्व को "अपना" ही क्यों कहता? "अपना" एक सापेक्ष शब्द है। दूसरे के अस्तित्व पर ही मनुष्य का अस्तित्व निर्भर है।

रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है - समाज, राजनीति और संसार से टूटकर अलग जीने की बात केवल सोची जा सकती है। व्यवहार में कोई भी व्यक्ति समाज से हमेशा तटस्थ नहीं रह सकता।﴾31﴿

1·5·6· <u>अस्तित्ववादी चिन्तन में जीवन मूल्यों का स्थान</u> :---

मूल्य ही मानव की चयन की भावना का नियंत्रण करते हैं। मूल्य तथ्यात्मक की अपेक्षा एक क्रियात्मक धारणा है। किसी युग की मूल्य भावना इस युग की व्यवस्था को प्रतिफलित करती है। इसलिये कालक्रम में यह जड़ हो जाती है, क्योंकि इस मूल्य भावना के प्रति लोगों के मन में मोह हो जाता है। नवीन स्थितियों, शक्तियों और सम्भावनाओं को दृष्टिगत रखते हुए नये क्रान्तिकारी मूल्यों का बीजारोपण होते रहना चाहिए। नये मूल्यों की यह विशेषता होगी कि वह वर्तमान समाज व्यवस्था के पश्चात् आनेवाली समाज व्यवस्था को प्रतिफलित करेंगे।

अस्तित्ववादियों की दृष्टियों में सब प्रकार के मूल्य - धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य निरर्थक हैं क्योंकि ये वैयक्तिक स्वतन्त्रता में बाधक हैं।

अस्तित्ववादियों का मत है कि हर एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए एवं अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र है। वह स्वयं अपने लिये नये - नये मूल्य निर्माण कर सकता है। आदर्शवादी, परम्परावादी सार्वभौम एवं सार्वकालिक सिद्धान्त एवं दर्शन में उसकी कोई आस्था नहीं है। वह व्यक्ति के अस्तित्व को व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर मानता है। हर एक व्यक्ति अपने जीवन का इच्छानुसार निर्माण करने में स्वतन्त्र है। वह स्वयं भाग्य विधाता है। अपनी इच्छा, अपनी रुचि, अपनी पूर्ति एवं अपनी तृप्ति के क्षेत्र में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। समाज, धर्म, ईश्वर एवं किसी प्रकार के सार्वभौम नियमों का पालन करने के लिए वह विवश नहीं है।

अस्तित्ववादी मनुष्य को मूल्यों के बाह्य बन्धनों से मुक्ति दिलाकर आन्तरिक दायित्व से सम्पन्न देखना चाहते हैं। वे स्थापित मूल्यों के विरोधी और व्यक्ति विवेक के कायल हैं। उन्हें चर्च, समाज या राज्य द्वारा थोपे गए दायित्व स्वीकार नहीं है। वे अपने विवेक के आधार पर अपना पथ स्वयं बनाना चाहते हैं। जगदीश कुमार के अनुसार प्रयोगवादियों की शब्दावली में कहें तो वे लोग राही नहीं राहों के अन्वेषी हैं।(32)

1·5·7· अस्तित्ववादी चिन्तन में काल और इतिहास का स्थान :---

अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार मानव अस्तित्व का काल और इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हैडगर मानता है कि ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जब मनुष्य नहीं था तब भी काल था। लेकिन गम्भीरता से विचार करें तो हम यह नहीं कह सकते कि जब मनुष्य नहीं था तब भी काल था। मनुष्य सदा से है अब भी है और भविष्य में भी रहेगा क्योंकि मनुष्य अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहेगा। हैडगर यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य का ही ऐतिहासिक अस्तित्व है। मनुष्य के बिना काल का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अत: काल-मानव - अस्तित्व सापेक्ष है।(33)

डॉ·लालचन्द गुप्त मंगल लिखते हैं सार्त्र के संबंध में कि सार्त्र यह मानता है कि हर व्यक्ति का अपना भूत और भविष्य होता है।(34) यह न समझना चाहिए कि काल की अखण्ड प्रवाहित होनेवाली धारा के मध्य मनुष्य सहसा उत्पन्न हो जाता है। वरन मनुष्य का एक सुनिश्चित अतीत होता है, जिसके प्रति वह पूर्ण उत्तरदायी होता है। मनुष्य वर्तमान काल में जो कुछ है अपने अतीत के कारण ही है। भविष्य में वह जो कुछ बननेवाला है उसका अभी म उसमें अभाव है। अपने भविष्य का निर्माण वह भूत और वर्तमान के प्रति निष्ठावान होकर ही करता है।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में कितनी ही बातों पर कितना ही मत - विरोध क्यों न हो, पर एक बात पर सारे दार्शनिक अवश्य ही एक मत होते हैं। वे इतिहास और काल को मानवीय अस्तित्व का एक बुनियादी आयाम मानते हैं। सारे प्राणियों में मानव ही एक ऐसा अद्भुत (अनन्य) जीव है। जिसका काल के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहता है।

उसके लिये सारा का सारा भविष्य खुला हुआ है, जिसमें वह वर्तमान की स्थितियों को भी बदल सकता है। अनागत की ओर उन्मुख होकर वह वर्तमान की स्थितियों को भी बदल सकता है। और उसे अतीत से भिन्न भी नहीं होने देता। हमारे जीवन की सार्थकता भी उसी सीमा तक है, क्रियाशीलता की जिस सीमा तक हम उसे बीते हुए कल, आज और आनेवाले कल के साथ युगपत रूप में संयुक्त कर पाते हैं। अत: अस्तित्ववादी दर्शन में काल मानवीय अस्तित्व की एक बुनियादी शर्त है। काल के बिना कोई भी मानवीय सार्थकता उपलब्ध नहीं हो सकती।

1.5.8. अस्तित्ववादी चिन्तन में ईश्वर का स्थान :---

ईश्वर की सत्ता के प्रश्न को लेकर अस्तित्ववादी दार्शनिकों की स्पष्टत: तीन कोटियाँ हैं --- आस्थावादी, मध्यमार्गी और अनास्था - वादी।

आस्थावादी दार्शनिकों का कथन है कि यद्यपि मनुष्य स्वतन्त्र है, लेकिन उसे ईश्वर के समक्ष उपस्थित होकर निर्णय लेना है और इस निर्णय का पूर्ण उत्तरदायित्व स्वयं मनुष्य पर है, वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर की सत्ता हमारे अन्तरतम में विद्यमान है। वह हमें हमारे अंतर में रह हमारी सहायता करता है। वह अन्दर से ही हमारे अन्तर्विरोध विषाद और वेदना को देखता है। उसमें श्रद्धा उत्पन्न होते ही वह हमें आन्तरिक बल प्रदान करता है और विषाद तथा वेदना से हमारी रक्षा करता है।

मध्यमार्गी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता में आस्था न रखते हुए किसी दिव्य सत्ता की आवश्यकता अनुभव करते हैं। दूसरे ईश्वर की सत्ता के प्रश्न के सम्बन्ध में वे प्राय: मौन रहना ही अधिक पसन्द करते हैं,

क्योंकि उनका वर्ण्य-विषय केवल मनुष्य और उसका अस्तित्व है।

अनास्थावादी दार्शनिक ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करके मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्र मानते हैं। उनके अनुसार मनुष्य अपने स्वतन्त्र चयन के प्रति स्वयं पूर्ण उत्तरदायी है।

1.5.7. अस्तित्ववादी चिन्तन में मानवीय स्वतन्त्रता का स्थान :----

अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। ज्यों ही मनुष्य का संसार में आगमन होता है। वह अपने स्वतन्त्र चयन के द्वारा कार्य करके अपने अस्तित्व को अर्थ प्रदान करता है। जबतक मनुष्य स्वतन्त्र रहकर चयन नहीं करता और उस चयन के अनुसार कार्य नहीं करता तब तक वह अस्तित्वहीन ही रहता है।

आस्थावादी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर के अनुग्रह से प्रभावित होकर ही मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है।

अनास्थावादी दार्शनिकों के अनुसार मनुष्य ही सर्वोपरि है। उनका यह मनुष्य पूर्णत: स्वतन्त्र है।

सार्त्र कहते है कि यदि मनुष्य अपना सार स्वयं नहीं चुन सकता तो उसकी सारी स्वतन्त्रता दासता से कम नहीं है।§35§

1.5.7.1. वैयक्तिकता के सन्दर्भ में :---

मनुष्य की स्वतन्त्रता का तादात्म्य किसी विशेष स्थिति या लक्ष्य से नहीं वह तो एक प्रवाह है, जो स्वयं अपने आपको ढकेलता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वह रुक नहीं सकता, किसी एक रूप को अपनाकर शान्त नहीं हो जाता।

1·5·9·2· व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में:---

सार्त्र के अनुसार अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व वृत्ति की परिधियों के मध्य आकर संघर्ष, भय, घृणा और प्रेम आदि सम्बन्धी अनेक मानवीय भावों के उद्भावक एवं प्रेरक बनते हैं। इन्हीं विशेष प्रेरणा भूमियों के ही कारण व्यक्ति - व्यक्ति के मध्य आकर्षण और विकर्षण की स्थिति बनती है और इन्हीं विशिष्ट भावना - तरंगों की प्रतिक्रिया स्वरूप व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का दूसरों के निषेध द्वारा अपहरण होता है। फलत: विरोध और विद्वेष की स्थिति उत्पन्न होती है। तबतक उसकी स्वातन्त्र्य भावना को स्वच्छन्द रूप से विचरण करने का अवसर प्राप्त नहीं होता। लेकिन समाज में तो मनुष्य को रहना ही पड़ेगा। अशिव का चयन नहीं किया जा सकता। अत: जो हमारे लिए शिव नहीं है। वह दूसरों के लिये भी शिव नहीं हो सकता।

सार्त्र के अनुसार परिस्थितियों द्वारा संबंधित मानवीय स्वतंत्रता का स्वरूप यद्यपि बाह्य दृष्टि से सीमित एवं नियंत्रित लक्षित होता है। लेकिन वस्तुत: ऐसा नहीं है। परिस्थितियाँ व्यक्ति की शक्ति को भले ही शासित करें किन्तु स्वतन्त्रता तब भी अविभाषित रहती है।

1·5·10· अस्तित्ववादी चिन्तन में नैतिकता का स्थान :---

सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य के नैतिक आचरण पर बल देते हैं। कीर्केगार्द ने अपने दर्शन में मनुष्य के नैतिक अस्तित्व को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में सत्यं, शिवं और सुन्दर की अपेक्षा ऊँचा नहीं है। हर मानव अस्तित्व अनिवार्य रूप से सत्यं, शिवं

और सुंदरं रहता है। अस्तित्ववाद व्यक्ति के लिए इन तीनों का पारस्परिक संग्रन्थन अस्तित्व में होता है, विचार में नहीं।§36§

हृदयनारायण मिश्र के समकालीन दार्शनिक चिन्तन में उन्होंने नैतिकतावादी दृष्टिकोण को दर्शाया है। "उनके अनुसार नैतिकता आत्मकेन्द्रित होती है। आत्मगत चिन्तन पद्धति के मार्ग को अपनाकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि नैतिकता का उद्देश्य आत्मोत्थान ही होता है। मनुष्य की नैतिक भावना और जीवन के सभी कार्य - कलाप आत्मोत्थान के लिये ही होने चाहिए। कीर्केगार्द की दृष्टि में यही नैतिकता सर्वोच्च है।§37§

1·5·11· अस्तित्ववादी चिन्तन में घृणा, अलगाव, प्रेम, व्याकुलता, अहं, लज्जा की भावना :----

अस्तित्ववादी चिंतन में घृणा अपना स्थान रखती है, कोई भी व्यक्ति ईर्ष्या और द्वेष के कारण किसी से भी घृणा करने लगता है। यह एक वैयक्तिक प्रक्रिया हैं। किन्तु इसके दो पक्ष हैं, जो घृणा करता है उससे भी घृणा की जा सकती है, अर्थात् घृणा अपने आप में भी घृणा की वस्तु है। वह जिस वातावरण में रहता है। उससे ताल - मेल नहीं बैठा पाता, उसकी आकांक्षाएँ अधूरी रह जाती है और पूरे परिवेश के प्रति उसके मन में घृणा का भाव पैदा हो जाता है।

अस्तित्ववाद की प्रमुख प्रवृत्ति अलगाव है, व्यक्ति समाज में रहते हुए भी अपने को अलग समझता है । वह सारे सम्बन्धों से अपने को विमुख पाता है। समाज से सटकर जीने के बदले कटकर जीता है। अलगाव की इस भावना ने आदमी को अजनबी और बेगाना बना दिया है।

और तब वह अपने को एक बाहरी दुनिया का आदमी समझने लगता है।

अस्तित्ववाद प्रेम को मानवीय चेतना के अनिवार्य तत्व के रूप में उपस्थित करता है। वह शरीर को प्रेम का आधार मानता है, वस्तुत: शरीर ही वह उपकरण है जिससे प्रेम की चेतना को एक आधार मिलता है। ज्यों पाल सार्त्र ने भी चेतना और शरीर का परस्पर अस्तित्ववादी संबंध माना है। [38] प्रेम के अंतर्गत प्रेमी और प्रिय की दो स्थितियाँ होती हैं। दोनों में एक दूसरे के प्रति चाहत होती है। इस चाहत में समान चिन्तन अपेक्षित है। जो सखाभाव या मित्र - भाव से ही संभव है। सार्त्र ने भी स्पष्ट लिखा है कि प्रेम में स्वातन्त्र्य अपेक्षित है।[39] प्रिय के लिए प्रेमी के मन की चाहत वैसी नहीं होती, जैसी सामान्य वस्तुओं के प्रति होती है। उस चाहत में प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता भी सुरक्षित रहती है।

आज नाना प्रकार के मानसिक तनावों के बीच मनुष्य जीवित है। अपने परिवेश से वह संतुष्ट नहीं है और न परिस्थितियों से समझौता ही कर पाता है। ऐसी स्थिति में वह व्याकुल और बेचैन हो जाता है। यह व्याकुलता ही उसके असंतोष और आक्रोश की पृष्ठभूमि तैयार करती है। अस्तित्ववाद में हमें मनुष्य को व्याकुल भाव-स्थिति का परिचय मिलता है, जिससे व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए प्रयत्नशील होता है।

अस्तित्ववादी विचारधारा में अहं (Ego) को एक आवश्यक तत्व माना गया है। यह मानव व्यक्तित्व का आधार और अस्तित्व चेतना का बोधक है। अहं - चेतना के रूप में ही अस्तित्व का गठन होता है। अत: इकाई के रूप में भी, व्यक्ति की सत्ता महत्व रखती है, क्योंकि अहं उसका आधार होता है।

वैयक्तिक तौर पर अहं - चेतना अंतर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों होती हैं। व्यक्ति समाज के समक्ष जो कुछ कहता है, वह उसके आंतरिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जो बाह्य रूप में प्रकट होता है वह, और जो भीतर रहता है वह दोनों अहं - चेतना के बहिर्मुखी और अंतर्मुखी रूप हैं।

अस्तित्ववादी दर्शन के अंतर्गत लज्जा, संकोच भी अपना महत्व रखते हैं। झूठी मर्यादाओं और अनेक सामाजिक वर्जनाओं के कारण इंसान अंतर्मुखी (Introvert) हो जाता है। अपने मनोभावों को वह सहजता के साथ व्यक्त नहीं कर पाता। प्राय: दूसरों के सामने कुछ कहने में वह लज्जा, संकोच का अनुभव करता है। झेंपना, हकलाना या पसीना छूटना आदि मन की इस लज्जाशील स्थिति को प्रकट करते हैं।

1·5·12· अस्तित्ववादी चिन्तन में मनुष्य का स्थान :---

अस्तित्ववादी दर्शन का मूल केन्द्र बिन्दु मनुष्य और उसका अस्तित्व है। इसके अनुसार मनुष्य अकारण और अचानक ही संसार में आता है और आने के पश्चात् वह जो कुछ भी बनता है स्वयं ही बनता है। आस्थावादी मनुष्य संकट के समय ईश्वर - सहायता की याचना करता है। जबकि अनास्थावादी मनुष्य अपने प्रयत्न, पुरुषार्थ, कर्म, संघर्ष और चयन पर ही विश्वास रखकर आगे बढ़ता है। मनुष्य पूर्णत: स्वतन्त्र, उत्तरदायी, अपरिभाष्य, विशेष, सर्वशक्ति सम्पन्न, चेतनाशील, अतिमानव, अथवा अतिक्रमणशील, मूल्य निर्माता एवं वेदना, विषाद, निराशा, शून्यता और मृत्यु आदि द्वारा सीमित प्राणी होता है, जिसका प्रमुखतम कार्य अपने अस्तित्व को अर्थ प्रदान करना

होता है। कामू का कथन है --"आदमी" की चेतना और शक्ति मनुष्य की सबसे बड़ी गवाही है। हमें इसी मानवीय साक्ष्य की रक्षा करनी है।§40§ सार्त्र कहता है कि अस्तित्ववाद का प्रथम प्रयास यह है कि प्रत्येक मनुष्य को जो कुछ वह है उसके प्रति सजग किया जाए और उसके अस्तित्व के पूर्ण उत्तरदायित्व को उसी पर स्थित कराया जाए। संक्षेप में अस्तित्ववादी मनुष्य का यही स्वरूप है।§41§

1·5·13· अस्तित्ववादी चिंतन में उत्तरदायित्व की भावना का स्थान:--

उत्तरदायित्व का सम्बन्ध मनुष्य की स्वतंत्रता के साथ ही जुड़ा हुआ है। अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है इसलिए वह हर कार्य के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। वह जो कुछ करता है अथवा वह जो कुछ है उसके लिए भी वही उत्तरदायी है।

1·5·14· अस्तित्ववादी चिंतन में यथार्थवाद का स्थान :---

अस्तित्ववाद कला-जीवन के कटु-तिक्त यथार्थ को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित कर जगत-जीवन की निरर्थकता से मानव-मन को निर्भीक, निराशावादिता § Courageous pessimism § से तरंगित करना चाहती है। इसलिए अस्तित्ववादी कला हमारे जीवन को अकृत्रिम रूप में हमारे सामने रखती है और हमें अपनी नंगी जिंदगी को रू-ब-रू देखने का साहस देती है।

1·5·15· अस्तित्व हेतु का स्थान :---

अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने अस्तित्व का कारण नहीं होता। अर्थात् वह अपने अस्तित्व को स्वयं उत्पन्न नहीं

करता। यह बात बाह्य वस्तुओं और मनुष्य के चेतनामय अस्तित्व दोनों के सम्बन्ध में सत्य है।§42§

1.6.0. अस्तित्ववाद : दो विचारधाराएँ :---

अस्तित्ववाद तात्त्विक विवेचनों को आधार मानकर विकसित हुआ है। इस काल में दो तरह के अस्तित्ववादी विचारक हैं, जिन्हें ईश्वर-वादी और अनीश्वरवादी अस्तित्ववादी चिन्तकों की संज्ञा दी जा सकती है। लेकिन दोनों तरह के विचारकों में एक समानता है-- वे यह मानते हैं कि अस्तित्व मानवीयतत्व की दिशा में उन्मुख है और यह कि विषयात्मकता अथवा विश्वगत सम्बद्धता ही प्रारंभिक बिन्दु है। इन दोनों तरह की विचारधाराओं का प्रारंम्भिक स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अस्तित्ववादी विचारकों कीर्केगार्द और नीत्शे के दर्शन में उपलब्ध होता है। कीर्केगार्द मानवीय अस्तित्व और उसके तनाव की व्यवस्था ईसाई आस्था के संदर्भ में करता है और नीत्शे परम्परागत ईश्वर की मृत्यु की उद्घोषणा द्वारा मानवीय अस्तित्व की समसामयिक विडंबना को अभिव्यक्त करता है।

1.6.1. ईश्वरवादी विचारधारा :---

ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को मानते हैं, किन्तु व्यक्ति के अस्तित्व के लिए उसे किसी प्रकार भी उत्तरदायी नहीं मानते। चर्च की शक्ति के क्रमगत विकास उसके जटिल स्वरूप ने आधुनिक व्यक्ति आस्था और ईसाई आस्था के बीच इस तनाव को जन्म दिया है। अस्तित्ववाद के मूल में परम्परागत धार्मिक संस्थानों, समाज और राज्य की व्यक्तिगत विघटनकारी धारणाओं में विरोध का भाव निहित

है। चर्च का अनावश्यक महत्व और उसका नियंत्रणकारी रूप व्यक्ति-चिंतन की स्वतंत्रता का हनन करता है तथा करूणा सम्पन्न ईश्वर और साधक के बीच में अवरोध बनता है।

विश्वगत मानवीय अस्तित्व व्यक्ति इकाई के रूप में अपने चारों ओर बिखरे हुए समाज और परिस्थितियों से संघर्षशील रहता है। इसी संघर्ष क्रम में अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए और सार्थक अस्तित्व के प्रमाणीकरण के लिए वह व्यक्तिगत रूप से निर्णय करता है तथा अस्तित्व सातत्य के लिए विभिन्न कार्य - भूमिकाओं में जुटा रहता है। जीवन-निर्वाह और सार्थक अस्तित्व बोध के इस संघर्ष के साथ ही वह मानसिक आस्था के रूप में ईश्वरीय तत्व भी सतत चेतना को हृदयंगम करने का यत्न करता है। वैयक्तिक स्तर पर गृहित ईश्वर बोध और तद्गत अनुभूतियाँ उसकी निजी उपलब्धि है। धर्म - संस्थान अपने परम्परागत पार्थिव रूप और नियंत्रणात्मक कार्य - प्रणालियाँ एवं नकारात्मक निषेधों द्वारा उसकी आन्तरिक आस्था के सृजनशील स्वरूप की हत्या करते हैं। यह आधिबोध ही मूलरूप से आस्थाशील अस्तित्ववादी चिन्तकों का प्रस्थान बिन्दु है।

1.6.1.1. सारेन कीर्केगार्द :---

सारेन कीर्केगार्द को अस्तित्ववाद का जनक माना जाता है। कीर्केगार्द ने अस्तित्व सम्पन्न मनुष्य की चार विशेषताएँ गिनायी है। प्रथमत: अस्तित्व सम्पन्न व्यक्ति वह है जो स्वयं से असीम सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध है और स्वयं में तथा अपनी नियति में अनन्त रुचि रखता है। दूसरे अस्तित्व सम्पन्न व्यक्ति सदैव यह अनुभव करता है कि उसके समक्ष निश्चित लक्ष्य की दृष्टि से उसका अस्तित्व निर्मित होते

चलने की स्थिति में है। तीसरे, अस्तित्व सम्पन्न व्यक्ति भावपूर्ण - प्रत्यय से अनुप्रमाणित होता है, वह प्रेरणा सम्पन्न होता है। वह एक प्रकार से ससीम में असीम का ही अवतार होता है। चौथे, यह भाव ही अस्तित्ववान व्यक्ति को चेतना प्रदान करता है। कीर्कगार्द ने इस भाव को "स्वातन्त्र्य - भाव" कहा है।

कीर्कगार्द देकार्ते के प्रसिद्ध सूत्र "मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ" की आलोचना करते हैं कि देकार्ते अपने दार्शनिक चिन्तन का आरंभ उस वस्तु के अस्तित्व में संदेह रखकर करता है, जो संदेह के योग्य ही नहीं है। होना यह चाहिए, "क्योंकि मैं हूँ और क्योंकि मैं सोचता हूँ, अतः मैं सोचता हूँ कि मैं हूँ। .... सोचने के लिए ही मेरा अस्तित्व आवश्यक है।(43)

ज्यों ही हम अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी कर अपने अस्तित्व के बारे में सोचते हैं त्यों ही अपने अन्दर विरोधी भाव जागते हैं। एक ओर इस संसार में हम स्वयं को नश्वर, सान्त, अपूर्ण और सीमित पाते हैं तो दूसरी ओर हम अनन्त, अमर, सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान और शाश्वत बनना चाहते हैं। ऐसे समय में हमारे मन में अन्तर्विरोध (इनर काण्ट्राडिक्शन), वेदना (डेस्पेयर) और संत्रास (ड्रेड) आदि भावों का अवतरण होता है। कीर्कगार्द के अनुसार मनुष्य को ऐसे समय ईश्वरीय सहायता की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य अपनी निर्बलता और असहाय स्थिति का अनुभव करके श्रद्धा में अस्तित्वात्मक उत्प्लवन "एग्ज़िस्टेंशल लीप टू फेथ" करता है। वह सहसा विश्वास कर लेता है कि ऐसी स्थिति में ईश्वर उसकी सहायता अवश्य करेगा और उसे अन्तर्विरोध से बचा लेगा। कीर्कगार्द कहता है कि ईश्वर को प्राप्त न कर सकने की ग्लानि ईश्वर प्रेम को बढ़ाया करती है। मनुष्य के

जीवन का वह प्रत्येक क्षण व्यर्थ जाता है। जिसमें वह ईश्वर से युक्त नहीं होता।"(44)

1.6.1.2. <u>मार्टिन बूबर</u> :---

मार्टिन बूबर भी आत्मगत चिंतन पद्धति का कट्टर समर्थक है। वह मानता है कि जबतक व्यक्ति - व्यक्ति का मिलन नहीं होता तबतक समाज का ढाँचा बन ही नहीं सकता क्योंकि मिलन ही वास्तविक जीवन जीना है। इसी समस्या के समाधान के लिए उसने "मैं" तुम" और "मैं" "यह" का आधार ग्रहण किया है।

व्यक्ति की यह मिलन भावना बूबर के अनुसार त्रिस्तरीय होती है। प्रकृति के साथ इसका प्रथम स्तर है। यहाँ व्यक्ति प्रकृति से निर्जीव "यह" का वस्तुगत सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। बल्कि "तुम" का व्यक्तिगत सिंचित नाता जोड़ता है। उसे (मनुष्य को) प्रकृति की अनुभूति होती है। वह उससे शिक्षा प्राप्त करता है और अपने हृदय में प्रकृति के द्वारा भावानुभूति की उत्तेजना का अनुभव करता है। यह सम्बन्ध एकान्त और एक पक्षीय (क्योंकि इस सम्बन्ध में प्रकृति निरपेक्ष रहती है।) होने के कारण अनुभव युक्त तो होता है, परन्तु पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

मिलन का दूसरा स्तर मनुष्य के साथ जीवन में दिखायी पड़ता है। इस स्तर पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भाषा के माध्यम से अपनी बात प्रकट करता है और उसमें उपयुक्त प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है। यह सम्बन्ध द्विपक्षीय होता है।

अध्यात्म के साथ जीवन में तीसरा सम्बन्ध कल्पित किया गया है। यहाँ व्यक्ति अध्यात्म की अनुभूति करता है, जिससे सहजानुभूति और प्रेरणा जागरित होती है। यह सम्बन्ध एकपक्षीय तो नहीं होता लेकिन यहाँ दूसरा [अध्यात्म] तत्व इतना अधिक महान होता है कि वह व्यक्ति की सामर्थ्य का अतिक्रमण करता रहता है। वह उसकी वाणी की पकड़ में नहीं आ पाता, फलतः उस संवाद की झाँकी ही अभिव्यक्त की जा सकती है।

1.6.1.3. गैब्रियल मार्सल :-

गैब्रियल के अनुसार समस्त चिंतन का केन्द्र मनुष्य का अस्तित्व है। कर्म अस्तित्व का एक अंग है। कर्म का आधार विचार है। मनुष्य विचार करता है, विचारों में चयन करता है और अपने संकल्प के अनुसार कार्य करता है।

मार्सल ने " मैं क्या हूँ " और " मैं क्या कर सकता हूँ " के मूलभूत अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है। समर्पण अथवा अधिकार की अवस्था में मैं निरन्तर प्रस्तुत रहता हूँ। इसी कारण " बाह्य एवं आभ्यंतर में द्वन्द्व की स्थिति रहती है।

उसका मत है कि ईश्वर का अस्तित्व बौद्धिक प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसका अस्तित्व तो हमारे अस्तित्व के साथ घनिष्ठ रूप में बंधा हुआ है।

जीवन के विकास क्रम में व्यक्ति अकेला नहीं रहता। बल्कि अन्य लोगों के साथ जीवन व्यतीत करता है। इस सामाजिक जीवन-यापन के कारण वह दूसरों को समझता है और उनसे सम्बन्धित कतिपय प्रश्न उसकी चेतना को उद्वेलित करते हैं। इससे उसमें अस्तित्व की आरम्भक

भावना का उदय होता है और समाज में क्रियाशील अन्य लोगों की अस्तित्व सम्बन्धी परिकल्पनाओं के प्रत्यक्षीकरण द्वारा अपने अस्तित्व की पुष्टि करता है।

1•6•1•4• भारतीय संधारणा :---

अपने वर्तमान रूप में अस्तित्ववाद पाश्चात्य चिंतनधारा की देन है। किन्तु कुछ अर्थों में भारतीय चिन्तन से भी इसकी समता प्रकट होती है। अस्तित्ववाद और भारतीय चिंतन दोनों की चिन्तन प्रक्रिया आत्मपरक है। डेल्फिक के आत्मानुसंधान के सूत्र स्वयं को जानो (Know thyself) की विवृत्ति द्वारा सुकरात ने अस्तित्ववादियों को अस्तित्व का मूल मंत्र दिया किन्तु यह सूत्र भारतीय दर्शन का मूलाधार है। (45)

अस्तित्ववादियों की तरह भारतीय दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया है कि दर्शन मानवीय अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकता बल्कि उसके स्वरूप और संभावना को प्रकट करता है। वे इस बात पर अस्तित्व-वादियों से सहमत हैं कि दर्शन केवल बौद्धिक जिज्ञासा की खोज नहीं है वह तो मानवीय जीवन के संकट बोध का संधान है। (46)

गीता में दो हजार वर्ष पूर्व लगभग यही उपदेश दूसरे शब्दों में दिया गया था। सार्त्र ने जिस आशा को त्यागने की बात कही है, गीता में उसे फल के रूप में त्यागने की बात कही है। गीता में कर्म को एक महत्वपूर्ण फल मान लिया है। भारतीय दर्शन मूलत: अस्तित्व के सम्बन्ध में विचार करता है। शरीर के स्थान पर वह आत्मा के अस्तित्व को प्रमुखता देता है क्योंकि आत्मा शाश्वत है।

बृहदारण्यक उपनिषद §43§ कहती है --- "ब्रह्मवा इदमग्र आसीत एवमेव" अर्थात् आरंभ में यह जगत ब्रह्म ही था एक अकेला। क्या ब्रह्म के पूर्व भी कोई सत्ता थी? इस ब्रह्म का प्रारंभ कैसे हुआ? ब्रह्म का ब्रह्म होना ही अस्तित्व में आना है। यह अस्तित्व का अर्थ है ऐसे पदार्थ का होना जो पूर्व में नहीं था। दर्शन की मुख्य समस्या है उसका रूप में आना जो नहीं है और जो है उसके नहीं हो जाने की प्रक्रिया।

जड़ और चेतन का द्वन्द्व ही अस्तित्व का मूल तत्व है। व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसके अहं को ठेस लगती है। वह अपने होने के अस्तित्व को सिद्ध करता रहता है। सार्त्र जिन निष्कर्षों पर पहुँचता है भारतीय दर्शन वहाँ से विचार प्रारंभ करता है।

"मैं हूँ" यह सार्त्र के लिए अन्तिम सत्य है जबकि भारतीय दर्शन इसी उत्पत्ति से विचार प्रक्रिया को प्रारंभ करता है। अस्तित्व के लिए सदा से मृत्यु घातक रही है। जो अनुभव करनेवाला है वही समाप्त हो जाता है। भारतीय दर्शन मृत्यु को अन्तिम स्थिति नहीं मानता वरन् उसे जीवन के लिए अनिवार्य अंग मानता है। मुण्डक उपनिषद में लिखा है -- द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड में ---

"तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा:
सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा
तथाक्षराद्विविधा: सोम्य भावा:प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।

उक्त श्लोक का अर्थ यह हुआ कि वह सत्य उपदेश यह है जैसे प्रचण्ड,प्रदीप्त अग्नि से एक ही प्रकार की सहस्रों चिनगारियाँ पैदा होती हैं, हे सोम्य! इसी प्रकार अक्षर से विविध "भाव" अर्थात् असंख्यात्मक "चेतन" और "जड़ - जगत", सत्तारूप - जगत {भावा: *Substances* } उत्पन्न होता है, उसी में फिर लौट जाता है। विराट पुरुष से ही सबकुछ उत्पन्न होता है।

भारतीय दर्शन भय की स्थिति को समाप्त करने की चेष्टा करता है, वह व्यक्ति को एक इकाई की अपेक्षा पूरी सृष्टि से जोड़ कर देखता है। आत्मा की अमरता का सिद्धान्त व्यक्ति को दीनता में भी आशावादी बनाता है। अत: मानव कभी निराश नहीं होता क्योंकि उसके समक्ष मृत्यु नहीं वरन् जीवन है, जो मानव को यथार्थ का ज्ञान कराती है।

आस्था ही अस्तित्व का मूल कारण है। आस्था के अभाव में जो अस्तित्व है उसे व्यक्ति नकार देता है और अपने आप अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। दर्शन में नष्ट होने का अर्थ समाप्त होना नहीं है वरन् नवीन रूप धारण करना है। यही अस्तित्व का सार है कि जो है उसे मिटाया नहीं जा सकता। बीज वृक्ष बनेगा लेकिन किसी न किसी रूप में अस्तित्व बना रहेगा।

आत्मा शाश्वत है चूँकि आत्मा मृत्यु के बाद शरीर धारण कर फिर आ जाता है। इस कारण से भारतीय संधारणा में अस्तित्ववाद स्थान नहीं रखता।

1.6.1.5. अरविंद का दर्शन :---

भारतीय संस्कृति और दर्शन अपने आपको जानने की है। "आत्मानरथिनम् विद्ध" यहाँ के ज्ञान तथा योग का प्रथम आदर्श रहा है। वेद ने अपने अमर शब्दों द्वारा इस अभिप्सा को जाति में जगाया। उपनिषदों में तो आत्म - जिज्ञासा जीवन का प्रथम तथा पूर्ण विषय बन गया।

यदि मानव अपने व्यवहारिक पक्षपातों को छोड़कर उथली चेतना से हटकर, जरा अपने अन्दर की गहरी स्थिति से जगत् के सामान्य संपर्कों को अनुभव करके देखे तो वही उसे आनन्द पूर्ण प्रतीत होंगे। आवरण के पीछे जो छिपा हुआ उसका जो वास्तविक अस्तित्व है, वह आनन्दमय है।(19)

महर्षि अरविंद ने व्यक्ति के अतिरिक्त "स्व" का विवेचन करते हुए अस्तित्व की दार्शनिक व्याख्या की है। उनकी मान्यता है कि अनुपम अथवा दिव्य अतिमानसिक स्तर पर मानवीय अस्तित्व के ऊर्ध्वगामी आध्यात्मिक अस्तित्व की संपुष्टि कर उनके दर्शन में ब्रह्म और जगत् के बीच अभिन्न एकता है। और वे दो परस्पर विरोधी छोर होकर एक दूसरे के साथ है। अतिमानस के स्तर पर ही उस सर्वव्यापी सत्ता का अनुभव होता है। इस प्रकार अरविन्द दर्शन मानव अस्तित्व के विश्लेषण का दर्शन है। जिसमें भारतीय और पाश्चात्य चिंतन का सार व्यंजित है। उनकी जीवन दृष्टि अपूर्व रूप में आशावादी है इसमें निराशा के लिए तो कहीं स्थान नहीं है।

अरविंद का ब्रह्म सत्ता की पराकाष्ठा है। वह नितांत परम अचिंत्य और अगम्य है। परन्तु मानव अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को अधिगत करता है। वह सत्, चित्त, आनन्द है। यह पूर्ण सच्चिदानन्द उनका ईश्वर है, परमात्मा है। मनुष्य के ज्ञान, कर्म और भक्ति की विविध गतियों की उसमें परिपूर्णता है, क्रियात्मक रुप में मनुष्य के लिए वही उच्चतम सत्ता है।

1·6·1·6· राधाकृष्णन के अनुसार :---

राधाकृष्णन दर्शन का मूल्यांकन यथार्थ की कसौटी पर करते हैं। अपने अवसाद, क्रन्दन और निराशा के असदृध क्षणों में मानव व्यग्रता और वेग से सत्य की ओर झुकता है।

व्यक्ति में अपने स्वरुप को पहचानने की सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जीवन के कटु अनुभव और सीमाओं का बोध उसे अपने वास्तविक स्वरुप को पहचानने के लिए बाध्य करता है -- वह कौन है? कहाँ से आया है? उसके अस्तित्व का क्या अर्थ है? वह उस जगत की वास्तविकता और मूल स्रोत को खोजने का प्रयत्न करता है जिस पर उसका अस्तित्व निर्भर है।

द्वन्द्व, द्वैत तथा संघर्ष मानव को क्रमशः अनस्तित्व की ओर ले जाते हैं क्योंकि अस्तित्व की मांग एकता और प्रेम की मांग है।

वर्तमान जीवन का घोर अभिशाप तथा मनुष्य की इस अमानवीय स्थिति का मूल कारण द्वैत बुद्धि है, उसकी विश्लेषणात्मक शंकालु बुद्धि है।

आज का मनुष्य जीवन के प्रति सहज आकर्षण अनुभव नहीं करता। उसमें जीवित रहने की कोई प्रेरणा नहीं है। वह जीता है क्योंकि जीवन के पाट उसे दबाए है। वह रोता है क्योंकि जीवन निरुद्देश्य और निरर्थक लगता है।

आज का व्यक्ति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के प्रति सचेत है। मनुष्य में एक अव्यक्त चाह, अतृप्ति और अतिक्रमण करने की भावना है। वह अपने आप से सन्तुष्ट न होने के कारण अपने से ऊपर उठना चाहता है।

शंकर के अनुसार ब्रह्म से लेकर सरकण्डे तक अथवा उच्च से लेकर निम्न तक सभी का अस्तित्व आत्मा के कारण है। उन वस्तुओं का अस्तित्व है जिन्हें हम देखते तथा अनुभव करते हैं।(50)

आध्यात्मिकता से रिक्त, मात्र विवेक का जीवन जीनेवाला विरोध, द्वैत और संघर्ष का जीवन जीता है। आध्यात्मिकता, मानव-जीवन की पूर्णता है। यही विश्व-विकास का लक्ष्य है। वह आनंद या चेतना की स्थिति है।

मनुष्य का अस्तित्व क्षर-अक्षर का सम्मिलन है। उसकी वास्तविकता द्वयर्थक है। बाह्य और आन्तरिक, भौतिक सत्ता एवं आध्यात्मिक सत्ता में जब तक एकरूपता स्थापित नहीं हो जाती, मानव दुखी और असंयत ही रहेगा।

1.6.1.7. दयानन्द सरस्वती का त्रैत सिद्धान्त :---

स्वामी दयानन्द उपनिषद में त्रैतवाद के पोषक हैं। उनके विचार में मुख्य ग्यारह उपनिषदों में ब्रह्म, जीव, प्रकृति इन तीनों के अनादितत्व का वर्णन है। ब्रह्म को उपनिषदों में एकमेवाद्वितीयम् के रूप में अद्वितीयम् कहा गया है। अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ब्रह्म के समान सामर्थ्य व शक्ति किसी अन्य में नहीं है। तथा साथ ही ब्रह्म से अधिक भी कोई नहीं है। ब्रह्म समस्त पदार्थ से अति सूक्ष्म है तथा आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है और समस्त पदार्थों में सबके अन्तरात्मा के समान रहता है। उपनिषद स्पष्ट करता है "सर्व खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र ओत प्रोत है। सर्व खल्विदं ब्रह्म" के साथ तज्जलानिति शान्त उपासीत पद है, जिसका स्वामी दयानन्द इस प्रकार अर्थ करते हैं कि "हे जीव तू (सर्व व्यापक) ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है। ब्रह्म में किसी अन्य वस्तु का मेल नहीं इससे वह सर्वत्र समान रूप होने से एकरस है जीव व प्रकृति पृथक - पृथक अपने - अपने स्वरूप में परमेश्वर से उसमें स्थित हैं।

स्वामी दयानन्द ईश्वर को मानते थे इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। ईश्वर परमसत्ता है, जिसके न कोई बराबर है। उसी परमात्मा की उपासना का उपदेश देते हैं, जिसको जानकर जीव संसार के जन्ममरण रूपी चक्र से छुटकारा पा, मुक्ति का आनन्द प्राप्त करता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार स्वभाव से सृष्टि नहीं होती किन्तु परमेश्वर की रचना से होती है। क्योंकि बिना कर्ता के कोई भी क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। दयानन्द के लिए ईश्वर और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो पर्यायवाची शब्द हैं।

1·6·2· अनीश्वरवादी विचारधारा :---

इस दर्शन के अनुसार मानव ही सब कुछ है। और उसी का अस्तित्व है। वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते। व्यक्ति की आन्तरिक वैयक्तिकता को सामाजिक और राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण से सम्बन्धित कर परम्परागत आदर्श को मानव की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा करता है।

इस दर्शन के अंतर्गत आनेवाले प्रमुख दार्शनिक हैं, नीत्शे हैड्गर, सार्त्र और अल्बेयर कामू।

1·6·2·1· नीत्शे का दर्शन :---

नीत्शे परम्परागत ईश्वरत्व की परिकल्पना को निरर्थक मानते है और धर्म को व्यक्ति स्वतन्त्रता का अतार्किक अनैतिकरण प्रमाणित करते है। वह परम्परा द्वारा स्वीकृत सभी सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक धारणाओं का विरोध करते हैं।

नीत्शे के अनुसार मनुष्य अकेला ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है।(5।)

आत्मगत चिंतन पद्धति के माध्यम से नीत्शे नास्तिवाद (Nihilism) की स्थापना करता है। इसके अनुसार मनुष्य नियम और मूल्यों को पहले से ही उपस्थित समझकर नहीं खोजता, बल्कि स्वयं अपने मन में उनकी रचना करता है और बाहर की ओर उनका प्रक्षेपण (Project) करता है। आत्मगत संसार के अतिरिक्त और कोई सत्य संसार नहीं है। इस आत्मगत संसार को नीत्शे मानव - परिप्रेक्ष्य (Human perspective) कहता है।

डॉ॰हृदय नारायण मिश्र के अनुसार भी इस नास्तिवाद की स्थिति में पहुँचते ही सभी मूल्य अपना अस्तित्व खो देते हैं। लेकिन मनुष्य की मूल्यों को सत्यासत्य समझने की क्षमता बनी रहती है। शून्यता का सामना करने से मनुष्य को अपना प्रामाणिक अस्तित्व (Authentic Existence) ज्ञात हो जाता है।(52)

1•6•2•2• हैडगर का दर्शन :---

हैडगर के अनुसार (53) यदि ईश्वर नहीं है तो भी आधुनिक मनुष्य के पूर्व एक मानवीय परम्परा है, जो यह मानती है कि वह अस्तित्वतत्वोन्मुखी है और यही परम्परा मानवीय तथ्यों को प्रस्तुत करती है। सर्वप्रथम मनुष्य रहता है, स्वयं को मोड़ता है और दृश्य-पट पर प्रस्तुत होता है और तब स्वयं को व्याख्यायित करता है। अस्तित्ववादी मनुष्य की व्याख्या इस मान्यता के आधार पर करते हैं कि अपने प्राथमिक रूप में वह "कुछ नहीं है" है। वह स्वयं कुछ होगा और उसे स्वयं इस बात का यत्न करना है कि वह क्या और कैसे बनेगा।

हम यथार्थ को नहीं समझ सकते, यथार्थ हमारे लिए अर्थ रखता है। यही समझ सकते हैं यथार्थ अर्थों से भरा है। हम उन अर्थों में से चयन करते हैं। मतलब यह है कि हम यथार्थ को अपनी रुचियों तथा कांक्षाओं की सम्बद्धता में ही जान सकते हैं।

हैडगर भी विश्वसत्ता को जानना चाहता है। उसकी एकता और समग्रता में। किन्तु उस सत्ता को जानने से पहले यह आवश्यक है कि हम स्वयं अपने को जानें/ आत्म सत्ता अथवा मानव सत्ता को हैडगर "डेसीन" (Dasein) कहता है। मनुष्य अकेली सत्ता नहीं है, उसकी सत्ता दुनिया से सम्बन्धित है।

मेरा अस्तित्व दूसरे मनुष्यों के अस्तित्व के गठित और निरूपित होता है। दूसरे मनुष्यों से मेरा सम्बन्ध उस चीज़ को जन्म देता है, जिसे सामान्यत: मनुष्यता कह सकते हैं। "डेसीन" यही सामान्य (Being in Common) सत्ता है। इस सामान्य जीवन को जीते हुए यह भय रहता है कि हमारा व्यक्तित्व खो न जाए। सामाजिक जीवन मानो मेरे लिए मेरे अस्तित्व की सम्भावनाओं का चुनाव करता है और मुझे स्वयं चुनाव करने से रोकता है। अस्तित्ववाद के अनुसार इस प्रकार का निर्वैयक्तिक जीवन वांछनीय नहीं है। ऐसा जीवन मिथ्या (inauthentic) होता है। असली या सच्चा जीवन वह है जिसमें मैं स्वयं अपनी सम्भावनाओं का चुनाव करूँ। समाज की रूढ़ियों को मानकर चलने वाला जीवन सच्चा जीवन नहीं होता।

हैडगर यह मानता है कि मनुष्य को अपना मार्ग स्वयं खोजना चाहिए। अपनी दिशा का निर्धारण स्वयं करना चाहिए। यह भावना एक अज्ञात आशंका अथवा भय को जन्म देती है। वे कहते हैं "मेरे सामने दो ही मार्ग है या तो मैं दूसरों के द्वारा बनाई हुई स्वयं न समझी हुई मिथ्या लीकों पर चलूँ। या अपने अस्तित्व की नींव को स्वयं खोने का जोखिम लूँ। मुझे यथार्थ की तीव्र चेतना तभी होती है जब मैं अपनी दिशा निर्धारण स्वयं करना चाहता हूँ। (54) अपने भविष्य के सम्बन्ध के सम्बन्ध में सोचते हुए मनुष्य में चिन्ता (Care) का मनोभाव उत्पन्न होता है।

अस्तित्व का अन्त मृत्यु में होता है। मृत्यु ही नकारात्मकता (Nothingness) है, असलियत है, वही यथार्थ या तात्त्विक है, सब मिथ्या है।

हम न अपने अतीत को जानते हैं न भविष्य को दोनों और हम नकार या शून्य से घिरे हैं। नकारात्मकता का अर्थ "अस्तित्व का अभाव" और "सार्थकता का अभाव " दोनों है। हैडेगर नास्तिक है।

1•6•2•3• ज्याँ पाल सार्त्र :--

सार्त्र यहमानते हैं कि तत्व अस्तित्व से पूर्व नहीं होता। अस्तित्व ही तत्व से पूर्व होता है। मानव तो सदा से विद्यमान है, जैसा कुछ वह सोचता है, जैसा कुछ बनना चाहता है, वैसा बन जाता है। एक स्थान पर सार्त्र ने लिखा है।-- मैं नहीं मान सका के व्यक्ति अपनी अस्मिता को कहीं बाहर से ग्रहण करता है।8558

सार्त्र के दर्शन में शून्यता का प्रत्यय महत्वपूर्ण है। यही शून्यता तत्वज्ञान है। मनुष्य ही एक ऐसी सत्ता है, जिससे संसार में शून्यता आती है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति सत्व व असत्व का योग है। सत्व के लिए न तर्क चाहिए न प्रमाण। सत्व अनुभवातीत है। सत्व अपने आप में अविशक्त, आकारहीन और अर्थ रहित है। सत्व 8बीईंग8 अविद्यमानता 8नथिगंनेस8 से आया है अर्थात् कुछ नहीं से सत्व का अस्तित्व है और मृत्यु के बाद यह अविद्यमानता का अभिप्राय रूप है। इस प्रकार वस्तु अविद्यमानता का अभिव्यक्त स्वरूप है। सार्त्र के अनुसार चेतना और वस्तु एक दूसरे के सापेक्ष हैं।

सार्त्र ने मानव व्याख्या के रूप में तीन तथ्यों को स्वीकार किया---

1• आपने में अस्तित्व -- जो वस्तु के रूप में है।

2• आपने लिए अस्तित्व :-- जो कुछ अपने निर्माण की दृष्टि से चाहता है, अतः वह अपने विकास के लिए प्रयत्नशील है और अपने

अस्तित्व के लिए उत्तरदायी भी है। मानव स्वतन्त्र होने के लिए अभिशापित है। जो स्वयं वह है, उसका सदैव अतिक्रमण करना चाहता है।

3• दूसरों के लिए अस्तित्व :---

मनुष्य वह भी है, जो दूसरे उसे समझते हैं। इसके अतिरिक्त सार्त्र मनुष्य के अस्तित्व को दो प्रकार का मानता है प्रामाणिक और अप्रमाणिक- प्रमाणिक वह है जो है और अपने अनुसार उचित हो। अप्रमाणिक - जो दिखता है वह है नहीं और जो है वह दिखता नहीं। इसका मात्र कारण "हीन श्रद्धा" (बेडफेथ) है। इस प्रकार अपनी अनुभूतियों के अनुसार जीवन बिताना अस्तित्ववादियों का आधारभूत सिद्धान्त है। इस प्रकार अनुभूतियों से प्राप्त ज्ञान को ही स्वीकार किया है और वस्तुनिष्ठ ज्ञान का विरोध किया।

सार्त्र ने ईश्वर के स्वरूप का खण्डन किया क्योंकि वह मानव स्वतंत्रता का कठोर समर्थक है। ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य के ऊपर पारलौकिक नियंत्रण रखता है। सार्त्र ईश्वर विरोधी होने के कारण किन्हीं पूर्व निर्मित मूल्यों को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार सार्त्र का प्रत्येक मनुष्य स्वयं छोटा ईश्वर है।

सार्त्र के अनुसार सत्य को मानव अपनी अनुभूतियों के आधार पर स्वीकार करता है। मनुष्य जैसा अपने को कल्पित करता है और जैसा कृति शक्ति द्वारा निर्मित करना चाहता है, वैसा बन जाता है, मनुष्य जिस चीज का चुनाव करता है वही श्रेय है जिसे वह वरण नहीं करता वह उसके लिए कभी श्रेय नहीं हो सकता। मनुष्य स्वयं अपने भविष्य का निर्माण करता है।

1·6·2·4· आल्बेयर कामू :---

आल्बेयर कामू के अनुसार हमारे अन्तर की विवेकपूर्ण माँग और बाहर की अविवेकपूर्ण घटनाएँ एवं अनुभव, इन दो छोरों के बीच कोई तारतम्य नहीं है। इसी युक्तियुक्ता और तारतम्य से हीन स्थिति को ही कामू विसंगत कहता है। "अन्तत: विसंगति हमारे सामने उस वस्तु के रूप में प्रस्तुत है जो आनुषंगिक मानवीय जीवन... रूप के विरोध में प्रस्तुत विश्व की अतार्किकता और अभेद्यता के संघर्ष से उत्पन्न होती है।"(56)

कामू यह मानते हैं कि विसंगति से बचने के लिए ईश्वर की शरण में जाना, एक तरह का मेटाफिज़िकल दार्शनिक ढंग का आत्मघात ही है। आत्मघात का मार्ग तो स्पष्टतया विसंगतियों के प्रति आत्मार्पण ही है। अत: विसंगति से बचने का एक मात्र मार्ग है "विद्रोह विसंगतियों के ही परिवेश में रहकर नये मूल्यों की रचना का प्रयास।

इतना होते हुए भी "कामू का दर्शन "निराशा" का नहीं, "विश्वास" का दर्शन है। वह व्यक्ति को, असम्भव परिस्थितियों में भी, अपने अहम् को जीवित रख, स्वयं जिन्दा रहने का सन्देश देता है।

1·6·2·5· भारतीय संधारणा :---

जिस प्रकार से पाश्चात्य संधारणा के अंतर्गत आनेवाले अनीश्वरवादियों को हमने पहले देखा है उसी प्रकार से अब भारतीय संधारणा में हम अनीश्वर-वादी दर्शन को विभिन्न प्रचारकों द्वारा देखने का प्रयास करेंगे।

1•6•2•6• चार्वाक दर्शन :---

चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को स्वयमेव सत्य की खोज करनी चाहिए और अपने आप अपना मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।§57§ यद्यपि जीवन के साथ दु:ख का अटूट संबंध है तथापि जीवन का लक्ष्य सुखोप-भोग है। चार्वाक का कहना है कि दुख की कल्पना करके तथा दुख के आगे आ जाने से सुख को नहीं त्यागा जा सकता है।

जैसा कि अस्तित्व दर्शनों का अभिमत है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय में ईश्वर का हाथ है। चार्वाक दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण और उनका खण्डन देखने को मिलता है।

1• कुछ तत्ववेत्ता ऐसे हुए हैं, जिनका कथन है कि जगत् की रचना अत्यन्त बुद्धिमन्त शक्ति के द्वारा हुई है, वही ईश्वर है। यदि वह ईश्वर न होता तो सृष्टि की जिस व्यवस्था को हम देख रहे हैं वह न दिखायी देती।

इस सिद्धान्त के उत्तर में अनीश्वरवादी विचारकों का कहना है कि सृष्टि की समस्त प्रक्रिया के लिए बुद्धि की आवश्यकता है ही नहीं। उदाहरण के लिए जीव - पिण्डों के भीतर न जाने कितने ऐसे व्यापार हैं जो व्यवस्थित रूप से स्वयं ही चालित होते रहते हैं। उनको संचालित करने के लिए बुद्धि की कोई अपेक्षा नहीं है। यह जो व्यवस्था और नियमबद्धता दिखायी दे रही है। वह स्वाभाविक एवं प्रकृत है। किसी के द्वारा नहीं की गयी है।

2. कुछ तत्ववेत्ताओं ने ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में प्रमाण प्रस्तुत किए हैं कि यह जो विश्व के अणु - अणु में गति दिखायी दे रही है, उसको सबसे पहले जिसने संचालित किया वही ईश्वर है।

इसके विरोध में अनीश्वरवादी का कहना है कि प्रत्येक वस्तु में जो गति दिखाई दे रही है। उसका कारण दूसरी वस्तु है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु में गति पैदा करने की शक्ति प्रवृत्त या सनातन रूप में विद्यमान है। अत: जगत के लिए किसी संचालक तथा प्रेरक की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

3. ईश्वरवादी विचारकों का एक मन्तव्य यह भी है कि इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई हेतु अवश्य है। वह हेतु ईश्वर है। जगत् के इस संपूर्ण कार्य - व्यापार के मूल में वही हेतु (ईश्वर) निहित है।

हेतु का आशय है उद्देश्य या इच्छा। यदि ईश्वर की इच्छा है तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वह भी अपूर्ण है, अतएव अनीश्वरवाद का सिद्धान्त उचित है। क्योंकि हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस वस्तु के लिए ईश्वर की इच्छा है वह उसके पास या अधीन नहीं है। इस दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

4. चौथा ईश्वरवादी मत है कि प्रत्येक ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता के अधीन है। सारे जीव जिस समय विश्व का अनुभव नहीं करते उस समय जो विश्व का अनुभव करता है और जिसके अनुभव पर विश्व की स्थिति निर्भर रहती है, वही पुरुषोत्तम या परमईश्वर है। (57)

इस संबंध में अनीश्वरवादियों का कहना है कि ज्ञानी तो वस्तु पर आश्रित है वह वस्तु सत्य है, जिसको कोई नहीं जानता, किन्तु वह फिर

भी बनी रहती है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व दूसरे की जानकारी पर अवलंबित है। ऐसा कहने का यह निष्कर्ष निकलता है कि यह वस्तु सत्य नहीं है। बल्कि केवल भासमात्र तथा काल्पनिक है। यह एक सर्वसंगत सिद्धांत है कि किसी भी सत्य वस्तु के अस्तित्व के लिए जानकारी (ज्ञातत्व) की आवश्यकता नहीं है।

5. ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में कहा गया है कि अनादिकाल से जो सर्वोपरि सत्ता है, प्रमाद रहित न्यायकर्ता है वही ईश्वर है। उसके बिना क्षुद्र से क्षुद्रतम और महान से महानतम कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान, इच्छा और भावना से संपन्न आत्मा ही ईश्वर है।

यदि ज्ञान, इच्छा और भावना से संपन्न आत्मा ही ईश्वर है तो हमें यह सिद्ध करना पड़ेगा कि आत्मा शरीर से कोई भिन्न वस्तु है। जो स्वतन्त्र, विराट और अनन्त है, तभी हम कह सकते हैं कि विश्व के मूल में परमात्मा का अस्तित्व विद्यमान है।

इस देह में आत्मा नाम की किसी स्वतंत्र वस्तु को प्रमाणित करने के लिए न तो कोई अनुभव ही अब तक विश्वसनीय सिद्ध हो सकी है और न कोई तर्कपूर्ण प्रमाण की आशा की जा सकती है।

अतः आत्मा तथा परमात्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर या किसी अदृश्य शक्ति को स्वीकार करना निरर्थक है।

1.6.2.7. महात्मा बुद्ध :---

बुद्ध ने जितनी तर्कसंगत व्याख्या अस्तित्व की है उतनी सार्त्र भी नहीं कर पाए हैं। बुद्ध ने यथार्थवादी दृष्टि अपनायी और शरीर की सत्ता को स्वीकार किया तथा भौतिक जगत को सत्य घोषित किया। बुद्ध के अनुसार शरीर ही जीवात्मा है जीव का उद्भव भौतिक शक्तियों के अनुकूल संयोग द्वारा ही होता है, शरीर के समान आत्मा या जीव भी अनित्य है उसका भी अंत शरीर के साथ ही होता है। मृत्यु परमाणुओं का विघटन है। उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की व्याख्या की जो अस्तित्ववादी विचारकों का ही एक भाग है। इसी सिद्धान्त के आधार पर बुद्ध ने यह घोषणा की है कि ईश्वर नहीं है क्योंकि जो है उसका कारण अवश्य होना चाहिए और जिसका कारण है वह संसार से अलग कैसे हो सकता है।(58)

बुद्ध ने कहा कि व्यक्ति को मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है कि वह ईश्वर से मुक्ति प्राप्त करे। उसके अनुसार व्यक्ति स्वयं दुख भोगता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। तब ईश्वर बीच में कहाँ से आ गया। कल्पना के कारण व्यक्ति अपने अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पाता और न वह स्वतन्त्रतापूर्वक चुनाव कर पाता है। बुद्ध के क्षणिकवाद का सिद्धान्त भी अस्तित्ववादी विचारधारा का ही एक अंग है। व्यक्ति को चुनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मृत्यु की विभीषिका जीवन के लिए नितांत अनिवार्य स्थिति है। अत: व्यक्ति को पूरी शक्ति के साथ मौत का सामना करना चाहिए। जीवन में मृत्यु, निराशा असफलता और संत्रास इतने अधिक है कि कभी कभी व्यक्ति को जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक सार्थक लगती है।

बुद्ध ने अपना घर-द्वार और राज्य इसलिये छोड़ा कि उन्हें जीवन की निरर्थकता का बोध हो गया था, निरर्थकता बोध अस्तित्ववाद का मूल स्वर है।

बुद्ध विज्ञानवादी थे और वस्तुओं को उनके सही रूप में देखना चाहते थे अतः उन्होंने अनुभव किया कि संसार में हर क्षण नाश होता है और नाश के कारण सर्वत्र दुख ही दुख परिव्याप्त है। बचपन को बुढ़ापा, यौवन को रोग, जीवन को मृत्यु नष्ट कर देती है। बुद्ध ने चार घोषणाएँ की --- 1. ईश्वर नहीं है 2. आत्मा नित्य नहीं है। 3. कोई ग्रन्थ स्वतः प्रमाण नहीं है। 4. जीवन का प्रवाहसतत है।

व्यक्तिवाद, निराशा, भय, निरर्थकता, आकस्मिकता आदि के कारण जीवन में संत्रास है -- बुद्ध ने चार शाश्वत सत्यों की भी घोषणा की थी ----

1. जन्म दुःख है । 2. मृत्यु दुःख है।
3. शोक दुःख है। 3. विनाश दुःख है।

अतः क्षणिकतावाद ही सार्थक है, हर क्षण मानव अपने अस्तित्व के साथ जीता है। यह क्षण व्यापक अनन्त का एक भाग भले ही हो लेकिन यह क्षण ही संसार का प्राण है। क्षण की सत्ता के कारण ही व्यक्ति का अस्तित्व है।

बुद्ध ने व्यक्ति की मुक्ति पर विशेष बल दिया। इसे उन्होंने निर्वाण का नाम दिया। यह निर्वाण पूरी स्वतंत्रता है और मृत्यु ही इस अवस्था तक व्यक्ति को ले जाती है। महावीर स्वामी ने इसे कैवल्य कहा।

व्यक्ति को अपना अस्तित्व सिद्ध करने के लिए संयम, सदाचरण और अहिंसा का पालन करना चाहिए। बुद्ध ईश्वर की प्रासंगिकता को नकारते हैं लेकिन मनुष्य के विकास की बात करते हैं।

अस्तित्ववादी चिंतन के विरुद्ध लगाये गये कतिपय आरोप - औचित्य - अनौचित्य :---

अधिकतर आलोचक अस्तित्ववाद के विरुद्ध केवल इसलिये हो जाते हैं क्योंकि उन्हें अस्तित्ववाद में व्यक्तिवादिता दिखायी देती है। डॉ॰बलभद्र तिवारी ने तो इसे "घोर व्यक्तिवादी दर्शन" ही कहा है।§59§

अस्तित्ववाद की इकाई है व्यक्ति। सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की वास्तविकता उसके "आन्तरिक संसार में है और यह भी मानते हैं कि व्यक्ति अपने योजना निमार्ण और निर्णयों में बिल्कुल अकेला है तथा पूर्ण स्वतंत्र है। सार्त्र तो यहाँ तक कह देता है कि मनुष्य के निर्णय और निश्चय के सम्बन्ध में प्रभावों का स्थान भी गौण है क्योंकि अन्तिम निश्चय व्यक्ति को ही करना है।

"मनुष्य आत्मनिष्ठ" " Man is subjectivity " इसमें "आत्म" पद व्यक्तिवाद - व्यंजक नहीं है। इसका अर्थ है कि मनुष्य का वास्तविक जीवन उसका व्यक्ति अपनी परिस्थितियों के बीच संघर्ष और चिन्ता के साथ जीता है। वह दूसरे संसार का प्राणी नहीं, कोई असाधारण जीव या देव नहीं, वह एक व्यक्ति है। जिसे हम प्रतिदिन देखते हैं, जानते हैं, पहचानते हैं, जो शरीरधारी और नामधारी है। उसका जीवन मूलत: उसके अन्तर का जीवन है -- यही इस व्यक्ति की व्यक्तिवादिता है। उसका हर ज्ञान, उसकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक अनुभूति

उसके आंतरिक जीवन के अंग हैं। सम्भव है कि वह एक विश्वास जगा ले कि वह साधारण हाड़ - माँस का पुतला नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक जीव है, किन्तु यह विश्वास भी उसका आन्तरिक निर्णय ही होगा।

यदि अस्तित्ववाद और व्यक्तिवाद में यदि भेद किया जाए तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि व्यक्तिवाद समाज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण की स्थापना है। इसमें व्यक्ति विशेष केवल अपने ही सम्बन्ध में सोचता है और अपने निर्णयों को सर्वोपरि समझता है। यूनानी दर्शन में पाइथोगोरेस व्यक्तिवादी विचारों का समर्थक था। उसके अनुसार व्यक्ति विशेष ही इस विश्व में सब चीजों का मापदण्ड है। अस्तित्ववाद इन विचारों से सहमत नहीं है। उसके अनुसार दार्शनिक चिन्तन विधि को वस्तुगत न होकर आत्मगत चिन्तन होना चाहिए। मनुष्य का अस्तित्व ही सम्पूर्ण निर्णयों और दार्शनिक समाधानों के लिए उत्तरदायी है। आत्मगत चिंतन में मनुष्य केवल अपनी व्यक्तिगत समस्याओं पर ही विचार नहीं करता, वरन् उसका चिन्तन सम्पूर्ण मानव समाज के प्रतिनिधि के रूप में होता है। अस्तित्ववादी दार्शनिकों के इस आत्मगत चिन्तन में सार्वभौमिक उदार दृष्टिकोण स्पष्ट दिखायी देता है। ऐसी स्थिति में यदि सार्त्र ने इसे "मानवतावाद" कहा है। तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। वस्तुतः यह मानवतावाद की चरमसीमा है। ऐसी स्थिति में अस्तित्ववाद पर व्यक्ति-वाद का आरोप लगाना भ्रान्ति ही है।

मनुष्य का आत्म - सम्मान इसमें है कि वह वस्तु नहीं है। अस्तित्व-वाद के अनुसार मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरितार्थ करके अपना निर्माण स्वयं करता है।

दूसरा, सम्भवत सर्वप्रमुख, आरोप अस्तित्ववाद पर "घोर निराशा-वादिता " का लगाया जाता है। आरोपकार्तों के अनुसार, अस्तित्ववाद जीवन के केवल उन्हीं पहलुओं पर बल देता है, जो निराशा, व्यथा, चिंता, वेदना और क्लेश आदि के पहलू हैं।

इस आक्षेप के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह सत्य है कि युद्धोपरान्त यूरोप की भावधारा निराशामूलक थी, परन्तु निराशा एकदम हतोत्साहित होने की भूमिका नहीं है। अस्तित्ववाद यह नहीं कहता कि दु:खों से भरपूर जीवन का कोई त्राण ही नहीं है, बल्कि वह तो आशा-वादी सन्देश प्रदान करता है। क्योंकि उसने मनुष्य के भाग्य को मनुष्य के हाथों में ही सौंप दिया है। मनुष्य का भाग्य उसके निजी हाथों में है। क्योंकि उसे आत्मनिर्माण की स्वतन्त्रता है। वह जो कुछ बनता है। अपने कार्यों और योजनाओं के द्वारा ही बनता है।

अस्तित्ववाद के ये नकारात्मक तथ्य निराशा एवं पलायन के सूचक नहीं है", अपितु घोर संघर्ष गहन उत्तरदायित्व और अदम्य आशावादिता का सन्देश देते हैं।

उपर्युक्त दो प्रमुख आरोपों के अतिरिक्त भी अस्तित्ववाद के विरुद्ध कुछ और आरोप लगाये गए हैं। इस संदर्भ में डॉ॰लालचन्द गुप्त मंगल कहते हैं ---"मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि ये तथाकथित आरोप आलोचकों के अध्ययन के अभाव के ही सूचक हैं। (60)

अस्तित्ववाद की आलोचना :---

अस्तित्ववाद का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ, उनमें मानव का पूंजीवादी शिकंजे में या साम्यवादी उग्र अधिनायकवाद के चंगुल में फँसे रहने

का प्रश्न महत्वपूर्ण था। इसीलिए इस जीवन - दर्शन का विरोध किया गया जनवादी विचारकों के द्वारा। उनका विचार यह है कि अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के आपत्तिजनक मुद्दे निम्न है :-----

1. पूर्ण सन्तुष्ट और सुखी रहना मानव की प्रकृति में नहीं है।
2. इसीलिये आज तक कोई व्यक्ति या संस्था मानव को सुखी बनाने में सफल नहीं हो सका।
3. मृत्यु तो आनी ही है। अत: स्वच्छन्दतापूर्वक जी कर उसका वरण क्यों न करें।
4. दु:ख और अवसाद जीवन के अनिवार्य एवं काम्य तत्व हैं।
5. इस पीड़ा और संत्रास के भय को निकाल देना चाहिए।
6. अपनी शक्तियों के उद्बोधन द्वारा अस्तित्व को सार्थक करना चाहिए।
7. चयन की स्वतन्त्रता या वैयक्तिक स्वच्छन्दता ही मूलाधार है।

डॉ॰रामविलास शर्मा के अनुसार "अस्तित्ववाद में एक तीव्र विसंगति है। वह केवल आत्मगत सत्य को स्वीकार करता है। दूसरी ओर वह मूल्यों की बात करता है जो स्वभावत: समाजगत है। तर्कसंगत विचारक या तो मूल्यों को समाजगत मानकर मार्क्सवाद की ओर बढ़ेगा जैसा सार्त्र ने किया या वह उन्हें पूर्ण स्वतन्त्र और निरपेक्ष रूप से आत्मगत मानकर मूल्यहीनता की ओर बढ़ेगा।(6)

निष्कर्ष:---

अस्तित्ववाद का केंद्र बिन्दु है मानव। वह मानव के विभिन्न रूपों को देखता है। विश्लेषित करता है और अंत में यह निर्णय लेता है कि मानव

एक जटिल प्राणी है जो सदा अपने अस्तित्व को बनाए रखने की चेष्टा करता है। जहाँ अस्तित्व "सार" का पूर्ववर्ती होता है।

अस्तित्ववाद यूरोपीय चिन्तन की देन है और इसका प्रारम्भ सारेन कीर्केगार्द से होता है। इनके पश्चात् फ्रेडरिक नीत्शे, कार्ल यास्पर्स, गेब्रियल मार्सल, मार्टिन हेडगर, ज्याँ पाल सार्त्र और अल्बेयर कामू, पाश्चात्य दर्शन के अंतर्गत आते हैं तो भारतीय चिन्तन में चार्वाक, महात्मा बुद्ध, महर्षि अरविंद, राधाकृष्ण, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि आते हैं।

अस्तित्ववाद को अनेक विद्वानों ने अपने ढंग से परिभाषित किया है मूलत: यह मानव का आत्मगत चिंतन ही है।

किसी भी वाद को "समझने के लिए देशकालीन सभी परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं। उसी तरह से अस्तित्ववाद के लिए भी देश कालीन सभी परिस्थितियों ने उसके पनपने में योग दिया है।

अस्तित्ववादी दर्शन को समझने में अनेक तत्वों ने अपना साथ दिया है और पाश्चात्य विचारकों तथा भारतीय विचारकों ने अपने - अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। स्थूल रूप में ये तत्व हैं निराशा, विसंगति, एकाकीपन, शून्यता, संत्रास, कर्म, संघर्ष, मृत्यु, क्षण, समाज, जीवन - मूल्य, काल, इतिहास, ईश्वर, नैतिकता, घृणा, प्रेम, अलगाव, अहं, लज्जा, मानवीय स्वतन्त्रता, मानवीय यथार्थ इत्यादि।

अस्तित्ववाद के अंतर्गत दो विचारधाराएँ आती हैं। एक वह है, जो ईश्वर को मानते हैं और मनुष्य का अस्तित्व ईश्वर के समक्ष में ही मानते हैं, जिन्हें ईश्वरवादी विचारक कहते हैं। इसके प्रथम विचारक हैं

कीर्केगार्द तथा दूसरे विचारक हैं, जिन्हें अनीश्वरवादी विचारक कहते हैं, जो ईश्वर को कोई महत्व नहीं देते उनके लिए मानव ही महत्व रखता है। मानव का निर्णय ही आखिरी निर्णय है। स्वतन्त्र मानव ही अस्तित्ववादी व्यक्ति है। इसके प्रमुख विचारक हैं -- फ्रेड्रिक नीत्शे एवं सार्त्र।

भारतीय संधारणा और अस्तित्ववादी जीवन दर्शन दोनों की मूल चिंतन प्रक्रिया आत्मपूरक है। अस्तित्व की महत्ता गीता में, उपनिषद में भी दी गयी है। अरविंद, राधाकृष्ण और दयानन्द सरस्वती के द्वैत सिद्धान्त में भी अस्तित्वबोध देखा गया है। ये प्रचारक ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर को न मानकर मानव को महत्व देनेवाले महात्मा बुद्ध हैं। तथा केवल मानव की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है- चार्वाक दर्शन में।

अब तक अस्तित्ववाद और उसके विभिन्न पहलुओं को देखा गया है आगे अस्तित्ववादी तत्वों को नयी कविता के खंड काव्यों में देखने का प्रयास किया जायेगा।

****

सन्दर्भ सूची

1• महाभारत - शांति पर्व - पृ-18011 - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मानव प्रतिमा से उद्धृत - डॉ• हेतु भारद्वाज - पृ-13•

2• Personality A Psychological Interpretation - Garden W Al port - Pg-35

3• The concept of Man (Introduction) - P.T.Raju Pg-38

4• स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मानव प्रतिमा - डॉ•हेतु भारद्वाज पृ-14•

5• आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द - बच्चन सिंह, पृ-19•

6• अस्तित्ववाद और नयी कहानी - डॉ•लालचन्द गुप्त "मंगल", पृ-63•

7• The mode of being w hich consists in interaction with the things D.D.Runes - The Dictionay of Philosophy - Pg-102

8• Encyclopedia Britannica - Vol.8 Pg-968

9• समकालीन दार्शनिक चिंतन - डॉ•हृदय नारायण मिश्र पृ-250•

10• Jean Paul Sartre - Existence & Humanism - Pg-28

11• आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका - डॉ•बलभद्र तिवारी पृ-43•

12• वही वही पृ-21•

13• Philosophy of existence is a way of thinking w hich uses and transcends all material knowledge in order that man may again become himself - Encyclopedia Britannica Pg-968

14. According to Kierkeega rd the word is that used to empha sise that claim that inexplainable in terms of any Metaphysica l or Scientific system that he is a being who chooses as well as a being who thinks or contemplates that he is free a nd because he is free he suffers a nd that since his future depends in part upon his free choice it is not altogether predictable - Encyclopaedia B ritanica - Pg968A,Pt-8, Vol. 10 - 466

15. अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य - श्यामसुन्दर मिश्र पृ-466.

16. By existent ialism we mean in the first instance the general conviction that the individua l man possess the ability to form himself in his innermost essence into a c haracteristic specific being - Dr. Max Bense - what is existence - Philosophy, translated by Ram Adher Mall. Pg-5

17. अस्तित्ववाद - कुछ नयी स्थापनाएं - श्यामसुन्दर मिश्र, पृ-9.

18. वही वही वही पृ-80.

19. अस्तित्ववाद - दार्शनिक तथा साहित्यक भूमिका -डॉ. लालचन्द गुप्त "मंगल" पृ-92.

20. वही वही पृ-47.

21. Dr. G.Srinivas - The Existential Concepts and the Hindu Philosophycal Systems - Pg.94

22• आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका - डॉ•बलभद्र तिवारी
पृ-51•

23• Existentialism - Jean Paul Sartre - Pg-37-38

24• Gabriel Ma rcel - Being and Having Pg-200

25• An= Introduction to Metaphysics - Hiedegger Pg-42

26• अस्तित्ववाद एक पुनरीक्षण - पृथ्वीनाथ शास्त्री पृ-37•

27• अस्तित्ववाद - डॉ•रामस्वरुप चतुर्वेदी -दे•हिन्दी साहित्य कोश, पृ-93•

28• नयी कविता - डॉ•देवराज पृ-80•

29• Existentialismfrom Dastoevsky to Sartre -
Edwa lter Ka ufma nn - Pg-147

30• The Mystery of Being - Ga briel Ma rcel - Pg- 8

31• शुद्ध कविता की खोज - रामधारी सिंह दिनकर पृ-210•

32• नयी कविता की चेतना - जगदीश कुमार

33• There is no time when Man was not, not because man was from all eternity and will be for all eternity but because time is not eternity and time fashions itself into a time only as a humans historical being there - Martin Hiedegger
An Introduction to Meta Physics - Pg-84

34• अस्तित्ववाद और नयी कहानी - डॉ•लालचन्द गुप्त"मंगल" पृ-83•

35• Existentialism - Je a n Paul Sartre- Pg- 26-27

36. The true is not higher then the good and the beauty but the true and the beautiful belong essentially to every human existence and are unified for any existng individual not in thought but an existence - Soren Kierkegaard, eoncluding Unscientific Post Script - PG - 311

37. समकालीन दार्शनिक चिंतन - हृदय नारायण मिश्र पृ-239.

38. The relation of consciousness of the body is an essential relation - Jean Pa ul Sartre - Being & Nothingness - Pg-329

39. The total enslavement of the beloved kills the love of the lover. The end is surpassed if the beloved is transformed into automations, the lover finds himself alone. Thus the lover does not desire to possess the beloved as one possess a thing, as he demands a special type of appropriation. He wants to possess a freedom as freedom- I bid - Pg-367

40. आल्बेयर कामू - मानवीय चेतना और विवेक - जर्मन मित्र का लिखा गया पत्र - दे. विकल्प प्रवेशांक पृ-207.

41. Existentialism - Jean Paul Sartre - Pg- 19

42. मनुष्य तथा मानवीय अस्तित्व पर ज्याँ पाल सार्त्र - कुमारी दुर्गा पन्त दे. दार्शनिक त्रैमासिक पृ-8.

43. अस्तित्ववाद दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका -डॉ.लालचन्द गुप्त मंगल" पृ-35.

44. वही वही पृ-40.

45• The Hindu Philosophers have always emphasized like the Existentialits that Philosphy should not be divorced from human ex istence but must disclose its nature and potentialities, they agree with the Existentia lists that what occassions philosophical enquiry is not mere intellectual curosity but a crisis in the individual life which calls upon him to make a choice regarding this subseqent existence - G.Srinivasan - The Existentialits concept and the Hindu Philosophical Systems - Pg.8

46• Existentialis and Indian thought - K.Gurudutt- Pg-63

47• बृहदारण्यक उपनिषद - प्रथम अध्याय पृ-695•

48• मुण्डक उपनिषद - द्वितीय मुण्डक - प्रथम खण्ड पृ-166•

49• अरविंद का जीवन दर्शन - डॉ• इन्द्रसेन पृ-35•

50• शंकरमत का विज्ञानीकरण - राधाकृष्ण का विश्व दर्शन पृ-140•

5 0.5 दयानन्द सरस्वती का द्वैत सिद्धान्त पृ- 138

51. Existentialism and Indian thought - K.Gurudutt - Pg-23

52• समकालीन दार्शनिक चिंतन -- डॉ•हृदय नारायण मिश्र - पृ• 276

53• अस्तित्ववाद एवं द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य - डॉ•श्यामसुन्दर मिश्र - पृ• 22•

54• - वही - पृ• 51•

55• परमार्श हिन्दी वर्ष 9, अंक 2, मार्च 1988 - पृ• 26•

56• अस्तित्ववाद दार्शनिक और साहित्यक भूमिका - डॉ• लालचन्द गुप्त "मंगल " पृ• 65•

57. भारतीय दर्शन - चार्वाक दर्शन - डॉ॰ नन्द किशोर देवराज

58. मधुमती - महावीर सिंह - पृ॰ 28॰

59. साहित्य और संस्कृति - डॉ॰ देवराज - पृ॰ 99॰

60. अस्तित्ववाद और नयी कहानी - डॉ॰ लाल चन्द गुप्त मंगल - पृ॰ 102

61. नई कविता पुनर्मूल्यांकन - डॉ॰ रामविलास शर्मा - पृ॰ 104॰

द्वितीय अध्याय

****

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद और नयी कविता के खंड काव्य

तथा

अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद और नयी कविता के खंड काव्य

हिन्दी की नयी कविता चेतना के दो प्रमुख प्रवाहों में अभिव्यक्ति पा रही है। पहला प्रवाह व्यक्ति - निष्ठ है और दूसरा समाज निष्ठ द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ के पश्चात् मानव की बौद्धिकता इन दो चेतना प्रवाहों में विशेष रूप से विभाजित हो गई थी। युद्ध की समाप्ति के अनन्तर विश्व में ऐसा वातावरण बना, जिसने उन दोनों प्रवाहों को आज तक निकट नहीं आने दिया है। हिरोशिमा का अणु विस्फोट, भारत-चीन आदि के राज्य परिवर्तन, शीत - युद्ध की संशयात्मक स्थिति तथा जीवन यापन के साधनों का विशेष व्यक्तियों के हाथों में केंद्रीकरण आदि कतिपय ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जिन्होंने उन दोनों के मिलन की भावी सम्भावना को भी कम कर दिया है।

मानव-चेतना के इस बाह्य - खण्डित रूप को लेकर विश्व का साहित्य और आगे बढ़ रहा है। अत: वह एक भयंकर संशयात्मक स्थिति के मध्य से अग्रसर हो रहा है। इस स्थिति के अनुकूल यूरोप में कुछ नये दर्शनों का विकास हुआ है। यूरोपीय कविता ने उन दर्शनों से समझौता करके अपनी नयी दिशा बनाई है। हिन्दी की नयी कविता भी उसी दिशा में यूरोपीय कविता के पीछे - पीछे चलना चाहती है। जहाँ तक व्यक्ति -

निष्ठ चेतना का प्रश्न है, उसका दर्शन अस्तित्ववाद से प्रभावित है तथा समाज - निष्ठ चेतना पर मार्क्सवाद का प्रभाव अधिक है।

डॉ॰रामगोपाल शर्मा दिनेश के अनुसार "अस्तित्ववादी चेतना हिन्दी की नयी कविता में अधिक स्थान घेरती जा रही है।१।

हिन्दी की नयी कविता पर अस्तित्ववाद का स्पष्ट प्रभाव है-- "डॉ॰कान्तिकुमार ने इस सत्य को स्वीकार किया है -- अस्तित्ववादी विचरणा अवश्य ही नये कवियों का एक महत्वपूर्ण उपजीव्य रही है। वैयक्तिक चिन्तनशीलता और किसी भी स्थिति को आत्यंतिक और अपरिवर्तनशील न मानने की प्रवृत्ति इसके रचयिताओं में पायी जाती है। व्यक्ति की सम्भावनाओं के प्रति नम्र भावना, मूल्यों के नवनिर्माण का आग्रह और उसके आधार पर नवलेखन की कल्पना बौद्धिक जागरूकता आदि प्रवृत्तियाँ नयी कविता के कुछ ही कवियों को आकर्षित करनेवाली सिद्ध हुई है।२।

डॉ॰जगदीश गुप्त मनुष्य को इस रूप में प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं कि नया मनुष्य रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त मानव - मूल्यों के रूप में स्वातंत्र के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करनेवाला समाज को समस्त मानव के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने के लिए कृत संकल्प, कुटिल स्वार्थ भावना से विरत, मानव मात्र के प्रति स्वाभाविक सहअनुभूति से युक्त संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करनेवाले हर मनुष्य को जन्मत: समान माननेवाला मानव व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करनेवाली किसी भी दैविक शक्तियाँ राजनीतिक सत्ता के आगे अनवरत, मनुष्य की अंतरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान प्रत्येक

व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ़ एवं संगठित अंत: करण संयुक्त सक्रिय किन्तु अपीड़क, सत्यनिष्ठ तथा विवेक संपन्न होगा।"‖3‖

पिछले अध्याय में अस्तित्ववादी दर्शन के जिन तत्वों का उल्लेख किया गया है। उनमें से लगभग सभी तत्व नयी कविता में उपलब्ध हो जाते हैं। नयी कविता के प्राय: सभी कवियों ने अस्तित्ववाद का प्रभाव ग्रहण करके व्यक्ति मानव के अजनबीपन, एकाकीपन, विवशता और आध्यात्मिक वेदना आदि की अनुभूतियों को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के प्रभाव से हिन्दी कविता में क्षणवाद, निराशावाद, लघुमानव की प्रतिष्ठा, आकांक्षा, शून्यता आदि की प्रवृत्तियाँ आई है। अब इन्हीं प्रवृत्तियों का सोदाहरण विवेचन इसमें देखा गया है।

इस अध्याय में अस्तित्ववादी दर्शन के अन्तर्गत आनेवाली दो धारणाएँ ईश्वरवादी अस्तित्ववाद और अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद को लिया गया है और इन धारणाओं के अंतर्गत आनेवाले विभिन्न तत्वों को नयी कविता के अंतर्गत आनेवाले कुछ काव्यों में देखने का प्रयत्न किया गया है।

2·1· <u>ईश्वरवादी विचारधारा</u> :---

ईश्वरवादी विचारधारा और उस धारा के अनुयायी/पक्षधर/ उद्घोषक जो भी कहें उनके बारे में हमने देखा है अब इस चिंतनधारा में आनेवाले तत्वों को काव्यों से उदाहरणों को लेते हुए उनका विश्लेषण करेंगे।

2·1·1· ईश्वर : आस्था :---

"ईश्वर वह है जो वस्तुओं के प्रारंभ से पहले था और वस्तुओं के बाद भी रहेगा।"(4) ये श्री अरविंद के शब्द हैं जहाँ पर वे कहते हैं कि "जब हम ईश्वर की उपस्थिति को अनुभव करेंगे और अपनी संपूर्ण सत्ता एवं चेतना को एवं अपने समस्त चिंन्तन, संकल्प और कर्म को उन्हीं के हाथ में अनुभव करेंगे तभी मानव आस्थावान होगा। भगवान से हम जो कुछ पा सकते हैं केवल उसी के लिए भगवान को चाहना उचित मनोभाव नहीं है, परन्तु इन चीज़ों के लिए उन्हें चाहना यदि एकदम मना होता तो संसार में अधिकांश लोग उनकी ओर बिल्कुल न मुड़ते। भगवान के लिए प्यास एक बात है, अवसाद बिल्कुल दूसरी, प्यास पूरी न होने पर अवसाद ही हो यह आवश्यक नहीं है। प्यास पूरी न होने पर और भी गहरी प्यास जग सकती है और दृढ़ संकल्प तथा अटूट प्रयास हो सकता है।(5)

अरविंद दैविक अथवा आध्यात्मिक जीवन का अनुसंधान व्यक्ति की आंतरिकता में करते हैं और इस सम्भावना पर बल देते हैं कि वैयक्तिक निर्माण के संकल्पवान क्षणों में व्यक्ति अपनी बाह्य इयत्ता और सीमाओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस तत्व - चिन्तन में सांसारिक जीवन का नकार नहीं, अपितु जीवन के परिवेश में महानता के अनुसंधान की आकुलता है।

मानव को आस्थावान होना चाहिए और अपनी कार्यशक्ति पर उसे विश्वास होना चाहिए। अज्ञेय की पंक्तियाँ हैं ----

"आस्था न काँपे
मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।"(6)

डॉ॰श्यामसुन्दर मिश्र के अनुसार "आस्थाशील व्यक्ति मन आधुनिक संदर्भों में ईश्वरत्व का अनुसंधान करने की प्रेरणा ग्रहण कर सकता है और जैसा कि मार्शल, कार्ल यास्पर्स और अरविंद के दर्शन . में उस अनुसंधान का स्वरूप व्यंजित है। यह जीवन यथार्थ के अत्यधिक निकट हो सकता है।"(7)

यही कारण है कि प्रत्येक मानव को जीने का कोई न कोई आधार चाहिए जिस पर आस्था रखते हुए वह अपनी जीवन रूपी नैया को पार करा सके। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि मन में छिपे ईश्वर को व्यक्ति देख नहीं पाता और जिसे प्राप्त करने के लिए मानव दूर - दूर तक भटकता है। अंधायुग काव्य में इसे ही प्रतिपादित किया गया है।---

"पर एक तत्व है बीज रूप मन में"(8)

अंधायुग - पृ-132.

हर चीज़ में, हर वस्तु में ईश्वर उपस्थित है अंधायुग काव्य में श्री कृष्ण कहीं भी स्वयं उपस्थित नहीं है - वे कहीं स्वाद में हैं कहीं कथा में, कहीं छाया में है तो कहीं ध्वनि में, यानी वे परोक्ष रूप में सभी जगह हैं -- यह उसी रहस्य को खोलती है, जो "सर्व खल्विदं ब्रह्म" में है। ऐसी स्थिति में कृष्ण मानवीय चरित्र रह भी कैसे सकते थे। वे संपूर्ण घटनाओं के बावजूद परात्पर लीलापुरुष बने हुए हैं तभी तो अवसाद के क्षणों में वे कहते हैं ---

"जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार - बार"।।

अंधायुग ,पृ-130.

हर कार्य किसी न किसी तरह से संपन्न हो ही जाता है। लेकिन वह हमारी जिन्दगी में पूर्णता नहीं लाता, एक ईश्वर ही है जो हमारी जिन्दगी के खालीपन को भरता है। आत्मजयी काव्य में नचिकेता भी यही कहता है ---

"धर्म तो वह भी है, जो कुछ मिल जाता है
धर्म तो वह भी है, जो कुछ हो जाता है।
लेकिन वह समयजात एक आत्म दीक्षा है।
जिससे हम जीवन का खालीपन भरते हैं।।"

आत्मजयी ,पृ-109.

ईश्वर की वंदना करते हुए मानव अपनी आस्था को प्रकट करता है। इसी प्रकार से नचिकेता भी मुकुट और अलंकार नहीं चाहता वह ईश्वर से ऐसे इष्ट की प्राप्ति के लिए वन्दना करता है,जिससे कि मानवता सम्मानित हो ---

"पाऊँ कदाचित वह इष्ट कभी,कोई अमरत्व जिसे
सम्मानित करते मानवता सम्मानित हो।"

आत्मजयी , पृ-15.

ईश्वर की उपासना से मानव के मन का डर दूर हो जाता है और वह निडर बन जाता है। आत्मजयी के सौंदर्यबोध में ईश्वरवादी दृष्टिकोण दिखाया गया है। जहाँ ईश्वर की उपासना से प्रकृति भी निडर हो जाती है ---

"सूर्य को कन्दुक बनाकर,खेलता था नृपत् ईश्वर ।।"

आत्मजयी ,पृ-114.

मानव जब सच्चे हृदय से प्रार्थना करें तो भगवान ही नहीं पत्थर भी पिघलने लग जाते हैं। आत्मजयी काव्य में नचिकेता ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति को इन शब्दों में रखता है।

"अर्पित होते रहे जिस ईश्वर को
वह यदि अस्पष्ट भी हो
तो ये प्रार्थनाएँ सच्ची है।" आत्मजयी ,पृ-16·

उसी व्यक्ति की हर कामना पूर्ति होती है जो साधना करता है शम्बूक कहते हैं ---

"साधना जो भी करें,बलवान हो।" शम्बूक, पृ-74·

और ईश्वर ही उसकी हर कामना की पूर्ति भी करता है तभी तो शम्बूक कहते हैं ---

"वही मंगल मूर्ति/वही कर सकता सदा
हर कामना की पूर्ति ।" शम्बूक,पृ-87

मानव के भाग्य को बदलने की शक्ति केवल ईश्वर में है। अंधायुग काव्य में याचक भी इसे ही दोहराते हैं।---

"मैं वह भविष्य हूँ/जो झूठा सिद्ध हुआ।आज"
अंधायुग, पृ-25·

सागर के सम्मुख बूंद का जो महत्व होता है वह ईश्वर के सम्मुख याचक के ज्योतिष विज्ञान का है। अंधायुग काव्य में याचक कहता है---

"आज मेरा विज्ञान सब मिथ्या ही सिद्ध हुआ
सहसा एक व्यक्ति/ऐसा आया जो सारे
नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था।"।।

अंधायुग, पृ-26·

ईश की वन्दना के लिए जाति भेद की आवश्यकता नहीं सृष्टि का प्रत्येक जीव ईश्वर की वंदना कर सकता है। शम्बूक काव्य में शम्बूक शूद्र होते हुए भी तपस्या करते हैं। उनकी कामना है कि सभी जीव ईश्वर पर आस्था रखें ---

"जन, जन की छाती में
दबे बीज आस्था के------" शम्बूक ,पृ-69·

ईश्वर पर आस्था रखने पर मानव अपने आप को सुरक्षित समझता है उसे ऐसा प्रतीत होता है कि एक वही आत्मीय है, जिससे मानव सब कुछ कह देता है, आत्मजयी काव्य के नचिकेता की भावनाएँ भी कुछ इसी प्रकार की हैं। सृष्टि की सभी रचनाओं के उत्तरदायी से वह यह मांगता है ---

"मुझे हाथ चाहिए वत्सल/नेह ममता से छलछल
आत्मीयता जिसकी छाँह में चल सकूँ
सुरक्षा जिसकी बाँह में पल सकूँ
अमरत्व जो इन विध्वंस,यातनाओं का साक्षी हो।
इस रचना के लिए उत्तरदायी एक ईश्वर दो।

आत्मजयी, पृ- 36

प्रत्येक मनुष्य को वाक् स्वतंत्र प्राप्त है और अगर उसकी इस अभिव्यक्ति पर ही रोक लगा दी जाए तो मनुष्य को पूर्ण रूप से स्वतंत्र

कैसे माना जाएगा। प्रवाद पर्व काव्य में राम भी यही कहते हैं कि मनुष्य के बोल में ही सब कुछ है। मानव बोलते ही एक दिन ईश्वर हो जाएगा, अतः वे कहते हैं कि राज्यों को, इतिहासों को बीच में मत लाओ ---

"ऐसे ही बोलते हुए/ एक दिन मनुष्य
निश्चय ही ईश्वर हो जाएगा।" प्रवाद पर्व, पृ-53.

और इस ईश्वर की सृष्टि में मानव बार - बार जन्म लेता है और हर बार वह अपनी जिन्दगी को एक नया रूप देते हुए अच्छे से अच्छा जीवन जीने के लिए प्रयास करता है। आत्मजयी काव्य के पूर्वापर प्रसंग में नचिकेता भी इसी जीवन दर्शन को सामने रखता है . निर्माता की इस दुनिया में ---

"जिसमें हम बार - बार नये जन्म लेते हैं।
झुठलाये जीवन को फिर साबित करते हैं
कोरे भविष्यों को संस्कार देते हैं।" आत्मजयी, पृ-107

अस्तित्ववाद, विज्ञान के विरुद्ध है क्योंकि विज्ञान मानव को कठपुतली के रूप में नचाता है और यही विज्ञान अगर सत्ता का रूप ले ले तो मानव की क्या स्थिति होगी, वह किसकी शरण में जाएगा , कल्पांतर काव्य में वैज्ञानिक यंत्र ही सत्ता का रूप लेता है।

"याद रखो मेरी सत्ता लोहे की है
वह अडिग, अजेय, अपरिमित है।" कल्पांतर ,पृ-86.

जब सत्ता यंत्र निर्धारित हो और इन्सानों में घृणा पैदा करने के लिए पैठ बांधी हो उससे निर्मित जीवन की कल्पना की जा सकती है

कल्पांतर काव्य में ---

"अंधी सत्ता से जन्मा
है विकराल काल
जीवन का नव निर्माण" कल्पांतर,पृ-10।•

जब व्यक्ति यंत्र के रूप में जिंदगी बीता दे। उसकी दिनचर्या में ईश्वर की उपासना के लिए उसके पास समय हीन हो तो ऐसे यंत्र रूपी मनुष्यों से ईश्वर की आस्था के संबंध में क्या प्रश्न किया जा सकता है। अंधायुग के प्रहरी की स्थिति भी यही है तभी तो वे कहते हैं ----

"हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई आस्था"।। अंधायुग -पृ-28•

अमूर्त ब्रह्मा को इतिहासपुरुष के रूप में लोकमंगलमय, जीवनमंगल रूप देकर उसे सगुण, प्रगतिशील तथा भावमूर्त कर वैभव सौन्दर्य से मण्डित किया गया है। ऐसा लगता है कि सदियों की सौ करोड़ शाखाओं में बृहद व्यापक इस विशाल वट पादप की स्वप्न मौन छाँह में विकासशील सृष्टि तत्व का हस्ता मलकवत आर-पार निरीक्षण कर उसे जरा रोगहीन अमर-अनादि काल विष्णु की गहरा नाभि - गुहा से निकले सहस्रनेत्र ब्रह्मकमल स्वरूप इतिहास - पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ---

"जरा रोगहीन अमर
मैं अनादिकाल विष्णु की गहरी नाभिगुहा
से निकला ब्रह्मकमल " इ•पु• पृ-4•

जिसमें केवल दिकसर्जित व्याप्ति ही नहीं उद्बुद्ध लोक - जीवन की भावना मनीषा में रहनेवाला अन्तर्लीन जाज्वलमय तेज़ भी है।

निःसंदेह, इतिहास पुरुष की चेतना से संयुक्त होकर ही मनुष्य जीवन तथा सृष्टि का अखण्ड प्रयोजन समझ सकता है, जैसाकि वह सृष्टि के सूत्रधार की तरह प्रेरणाप्रद नाट्यभंगिमा के साथ स्वयं कहता है ---

"पल में बदल देता मैं --------"। इ.पु. पृ-6.

इतिहास पुरुष कहता है मानव से कि अब वही उसके हर कार्य का एकमात्र निदान है ----

"तेरी सब व्याधियों का
ओ मानव! एकमात्र मैं ही निदान, भिषक"। इ.पु.पृ-12.

उक्त अंश ईश्वर के अस्तित्व को दृष्टिगत करता है।

मनुष्य ऐसा स्वार्थी जीव है कि वह आखिरी क्षण तक किसी एक का भी साथ नहीं देता। आखिरी क्षण तक मनुष्य का साथ देनेवाला, विश्वास का पात्र केवल श्वान ही होता है। मनुष्य ... मनुष्य में और श्वान के विश्वास को बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है महाप्रस्थान में, जहाँ पर युधिष्ठिर सभी पाण्डवों के हिम में गल जाने के बाद श्वान को लौट जाने को नहीं कह पाते क्योंकि श्वान को लौट जाने को कहना ----

"सृष्टि को लौट जाने के लिए कहना होगा,
और बिना सृष्टि के तो
स्वयं ईश्वर भी नहीं है।" महाप्रस्थान, पृ-134.

यही सृष्टि ईश्वर है यही आदि और यही अंत भी। सभी कृत्यों का वही बीज है। वही हमें सांसारिक उद्विग्नताओं से उभारेगा।

अत: मानव को ईश्वर पर आस्था रख जीवन में आगे बढ़ना चाहिये। कल्पांतर काव्य में भी इसी बात को दोहराया गया है ---

"आदि तुम हो अंत हो तुम
बीज - सूत्र अनंत हो तुम
विकसिता क्रमवंत हो तुम।।"   कल्पांतर , पृ-16.

2.1.2. <u>आस्था से अनास्था</u> :---

ईश्वर पर आस्था रखनेवाले मानव भी कभी कभी आस्था पर ही प्रश्न चिह्न लगा देते है। अंधायुग के युयुत्सु कृष्ण पर आस्था रखते हुए भी सभी के लिए घृणा के पात्र बनते हैं, उनका मन निर्बल हो जाता है। लेकिन मानव को ऐसे समय में ही दृढ़ और अटूट रहना चाहिए। विदुर के शब्दों में पराजय की वेला में ही मानव ईश्वर आस्था पर प्रश्नचिह्न लगाता है ----

"वह बिल्कुल निकम्मी धुरी/तुम हो क्या तुम हो प्रभु।"
अंधायुग, पृ-61.

निष्कर्ष :-- ईश्वर की इस सृष्टि में ईश्वर पर आस्था रखते हुए ही मानव निडर हो अपना अस्तित्व कायम कर सकता है।

2·1·3· भय एवं संत्रास :---

विश्व का जटिल गठन और रूपान्तर परिवेश अस्तित्वमय की विभिन्न परियोजनाओं को नियंत्रित करता है और व्यक्ति-मानस में विभिन्न आशंकाओं को जन्म देता है। वातावरण में निहित भय की सम्भावना व्यक्ति को अपने भीतर समेट लेती है और ऐसी वस्तु से जिससे लगाव है व्यक्ति की चेष्टाओं को अलग करती है। त्रास अथवा भय का निर्णयात्मक स्वभाव यह है कि वह किसी स्थान में स्थिर नहीं किया जा सकता, अतः व्यक्ति अपने कार्यरूपों को आकार देते समय इसका अनुभव करता है।

भय ही मानवीय अस्तित्वमय के अस्तित्व रूप को स्वयं के समक्ष उद्घाटित करता है और परिस्थिति के बोध और उसके सामने महत्वपूर्ण व्यवहार को रूप और आकार प्रदान करता है। डॉ·हेडगर के शब्दों में ----"भय मुझे मेरे पूर्वाधिकारों से हटाता है, मुझे एकान्त में समेट लेता है, जहाँ मैं यह चुनने के लिए विवश हूँ कि मैं "मेरा स्वयं" बन सकता हूँ या नहीं। इस क्षण मेरा वैयक्तिक यथार्थ मेरे समक्ष खुलता है, और आगे चलकर मैं चुन लेता हूँ कि क्या बनूँगा। भय संसार में मेरे जीवन के लगावों और अर्थों से मुझे अलग करता है। मेरे सम्बन्धों और पूर्वाधिकारों में अन्तर्निहित होकर और खोकर मुझे उस मान्यता में अलग कर देता है कि मैं था कि इस निर्वैयक्तिक दृढ़-निश्चय, अप्रमाणिक अस्तित्व का वैयक्तिक भार ले सकता हूँ और वह मैं किसी रूप में नहीं हूँ। किन्तु हमेशा होऊँगा, "हूँ" क्योंकि"मैं" बनने की आशा करता हूँ। भय अथवा संत्रास व्यक्ति को प्रमाणित करता है।

मानव मन में भय की भावना सहज रूप से घर किए रहती है। पिछले दो महायुद्धों के विनाश ने आदमी के भीतर भय और त्रास की बढ़ोत्तरी की है। मानव-व्यक्तित्व का इतना बड़ा विघटन और संहार आज के सामूहिक संत्रास का कारण है। आदमी हमेशा अपने को असुरक्षित अनुभव करने लगा है। उसके मन में बराबर यह डर बना रहता है। कि पता नहीं कब अस्तित्व खतरे में पड़ जाए।

संत्रास एक प्रकार का भय है। भय में भयभीत करनेवाली वस्तुओं का ज्ञान रहता है जैसे प्लेग, युद्ध, हिंस्रपशु आदि। किन्तु संत्रास में संत्रस्त करनेवाली वस्तुओं के नाम रूप का परिचय नहीं मिलता है। वह भी अनिश्चित रहता है। जीवन में शून्यता भर जाती है। हम अपने को नास्ति के सम्मुख खड़ा पाते हैं पर संत्रास से व्यक्ति में संचेतता आती है। वह मनुष्य को स्वतंत्र और प्रामाणिक बनाता है। स्वतंत्र होने की स्पृहा हमें संत्रास की दिशा में ले जाती है। रूढिबद्ध क्रियाकलापों में पनाह लेकर हम संत्रास से बच सकते हैं, किन्तु यह आत्मछल है। अतः संत्रास से पलायन अपने से पलायन है। उसे भोगकर ही हम प्रामाणिक जिन्दगी जी सकते हैं।

ईश्वर पर आस्था रखने पर ही मानव निडर और निर्भय बनता है। "इतिहास पुरुष" काव्य में क्लियोपेट्रा कहती है -- "शंका, भय, नैराश्य छोड़ निज हाथों में ने भाग्य डोर ली, नाज़ुक विहग की उड़ान में, प्रेमिक प्रेम बने दृढ डैने। (पृ-65. इ.पु.)

अस्तित्ववादी पुरुष ही निर्भय होकर जिन्दगी व्यतीत करता है। इतिहास पुरुष काव्य में भी सीज़र - एण्ठनी के संदर्भ में यही बात कही

गई है—

"सीज़र का अग्रणी बन्धु, निर्भय सेनानी
देवर से प्रेमास्पद प्रेमिक बना सेण्टनी।।" {पृ.66;इ.पु.}

मानव को हर समय मन को दृढ़ रखना चाहिए नहीं तो वातावरण या प्रकृति की हर वस्तु भी भय का कारण बन जाती है। आत्मदान की अहल्या को भी ठिठुरती भयावह ठंडी पौष उकसा जाती है---

"केतकी - बेला - चम्पा के फूलों - गंधों ने
ठिठुरती - भयावह ठंडी पौष की
रातों के आघातों ने।" {पृ.15; आत्मदान}

लेकिन मानव का मन कभी - कभी निर्बल हो ही जाता है। ऐसे समय साधारण से साधारण वस्तु जिसकी कभी पूजा की जाती थी वह भी डर का कारण बन जाती है। आत्मदान काव्य की अहल्या जिस देव वृक्ष की पूजा करती थी। आज वही उसके लिए भूतों का घर बन गया है ---

"यह देव - वृक्ष / अब भूतों का घर है,
बाहर हाहाकार निर्जन का/ भीतर दुबका डर है।"
{पृ.27; आत्मदान}

मानव न तो भूत प्रेत देख सकता है और न ही यम, राहु - केतु को, लेकिन उनके बारे में सोचने मात्र से ही हृदय कंपकंपा जाता है। "इतिहास - पुरुष" काव्य में इतिहास पुरुष कहते हैं कि कहीं अप्सराओं का लोभ चित्त पर हावी हो रहा है तो कहीं भूत प्रेत का भय वर्तमान और भविष्य को घेर रहा है ---

"भूतप्रेत, राहुकेतु, यम का भय छेंक रहा
वर्तमान औ" भावी," ॥पृ-32 इ॰पु॰॥

व्यक्ति दृढ रहने का प्रयास करे तब भी , प्रकृति की शीत वायु हर जीव की हड्डियों तक व्याप जाती है जिसके कारण हर जीव भय से सिमट जाता है। शम्बूक काव्य में इसी भाव को देखा गया है --

"हड्डियों तक व्यापकता जब शीत,जीव हो जाते सभी भयभीत
सिमट कर सोते, संजोते ताप,सिहर उठते रोम अपने आप।"
॥पृ-43॰शम्बूक॥

कैसी विडम्बना है शरीर में जब तक प्राण हों वह सृष्टि का सुंदरतम रूप होता है, प्राण के निकलते ही वही विकृत रूप धारण करता है। एक कंठ विषपायी काव्य में भी यही स्थिति है जहाँ शिव की पत्नी सती अपने पिता द्वारा अपने पति के अपमान करवाए जाने के कारण यज्ञ में कूद कर अपनी जान दे देती है ---

"भगवती सती का अधझुलसा शव सामने पड़ा था·····
और उस भयावह निस्तब्धता में महादेवी का नंदी
क्षुब्ध अंगरक्षक - सा पागल खड़ा था----
॥पृ-36; एक कंठ विषपायी॥

पशु ही नहीं जब मानव भी पागल और हिंसक बन जाते हैं तो यह समझ के बाहर रहता है कि वह किस ढंग से पेश आएँगे। क्योंकि ये व्यक्ति जिंदगी से हारे हुए होते हैं। अश्वत्थामा के संदर्भ में, कृतवर्मा कहते हैं कृपाचार्य से अंधायुग में ---

"कृपाचार्य / भय लगता है/ मुझको/ इस अश्वत्थामा से

(पृ.45; अंधायुग)

अश्वत्थामा अपने "पिता" की अर्धसत्य के कारण हुई मृत्यु और पांडवों के युद्ध में हुई जीत को मन में रखते हुए वह भी अवनीति के रास्ते पर चलना चाहता है और इसलिए विपक्ष के हर एक की वह हत्या करना चाहता है ऐसे व्यक्ति मन में ऐसी भावनाएँ रखते हुए समाज में, एक अलग प्रकार का ही व्यवहार करते हैं -- अंधायुग काव्य में अश्वत्थामा के संबंध में संजय कहते हैं ---

"वीर नहीं वह तो जैसे भय की प्रतिमूर्ति है।"

(पृ. 92. अंधायुग)

दुनिया में कभी - कभी ऐसे व्यक्ति भी दिखाई देते हैं जो साधारण मानव के लिए भय की प्रतिमूर्ति बनते हैं। रावण एक ऐसे ही इतिहास पुरुष थे जिन्हें ब्रह्मा वेदपाठ सुनाया करते थे। उनके सामने सभी भाषाएँ, अभिव्यक्तियाँ भय से देखती थी। उनके पास केवल आदेश थे और शेष के पास केवल झुके मस्तक ----

"इस जाज्वल्य आधिपत्य के सम्मुख सारी भाषाएँ /
अभिव्यक्तियाँ/ असहमतियाँ भयातुर विस्फारित नेत्र
बन चुकी थी।" (पृ-46 प्र.पर्व)

ऐसे राजा की प्रजा और कैसे रह सकती है हर क्षण भयभीत और सहमी। राम कहते हैं प्रवाद पर्व में ---

"और प्रजा/ कहाँ भी प्रजा/ प्रत्येक राजपथ/
ग्राम पर/ राज्य-भय के सधे पैरों की ‡पृ-46; प्र·पर्व‡

यह स्थिति प्रजा के शासक रावण के कारण उत्पन्न हुई है प्रवाद पर्व में, तो कल्पांतर काव्य में यह स्थिति विज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। कल्पांतर काव्य में भय के कारण एक पत्ता तक नहीं हिल रहा है। मानव एक दूसरे को शंका की नज़र से देख रहे हैं।

"संशय, भय की कीलों से जकड़ा
हिलता था नहीं एक पत्ता" ‡पृ-80; कल्पांतर‡

विज्ञान ने यहाँ तक अपनी सत्ता जमा ली है कि मानव भय के कारण जकड़ा हुआ फटी हुई नज़रों से एक दूसरे को देखता है। कल्पांतर काव्य में भी यही स्थिति है विज्ञान मानव का नामोनिशान अर्थात् उसका अस्तित्व ही मिटा देना चाहता है। वह विराट सन्नाटा फैला रहा है, जिसमें आदमी की साँसें तक नहीं सुनाई पड़ रही हैं। सबकी घिग्घी बंधी हुई है और इसीमें वह सुख का अनुभव करता है ---

"सबके चेहरे निर्भाव हुए
कितना सुख है।" ‡ पृ · 86· कल्पांतर‡

कैसी विडम्बना है किसी का भय किसी को सुख प्रदान करता है। और अगर यही चलता रहा तो एक भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि मानव चुप नहीं बैठा है वह पृथिवी के अस्तित्व की रक्षा के लिए हर संभव प्रयास कर रहा है। कल्पांतर काव्य में स्वर्ण दैत्य यही कहता है कि हर एक क्षेत्र में मानव प्रतिद्वन्द्वी बना रहा है और पिछड़े देशों की जनता को भड़का रहा है ---

"यदि रुक न सका उसका प्रसार
तो हो जायेगा शक्ति-प्रभावी भयाकार।" ॥पृ-58;कल्पांतर॥

क्योंकि विज्ञान यह चाहता है कि पृथ्वी उसके डर से सदा कांपती रहे और इसलिए वह अपने अस्त्र - शस्त्रों से दुनिया को आतंकित करना चाहती है ---

"हम भूत खड़े कर दें भय के
अज्ञात त्रास, संकट का वातावरण रचें
***** **** ****
बस सदा कांपती रहे धरा।।" ॥पृ-59; कल्पांतर॥

विज्ञान अनेक विधाओं से मानव को भयभीत कर उसका पूरा अस्तित्व मिटा देना चाहती है —

"भय, रोमांचों, आतंकों की परम आँच में
मूर्ति पकायी जाती है इस तंत्र की।" ॥पृ-82• कल्पांतर॥

विज्ञान को अस्तित्ववाद नहीं मानता क्योंकि विज्ञान मानव को बौना बना देता है जिस विज्ञान को मानव ने ही निर्मित किया है अब वही विज्ञान मानव को एक कठपुतली के समान नचा रहा है। उसे होनेवाले विनाश की न तो कोई चिन्ता है या भय है। "कल्पांतर" काव्य में अर्थमंत्री कहता है पराविधुता से ---

"खामोश, पराविधुता/ हमारे अस्त्र
परीक्षण, अन्वेषण / आगम के किसी
अनिश्चित भय से / हर्गिज़ बंद नहीं होंगे।"
॥पृ-63; कल्पांतर ॥

विज्ञान ने ऐसा आतंक फैला दिया है अपने अस्त्र - शस्त्रों से कि मानव के विचारों पर भी ऐसा कुठाराघात किया है कि अब उसके दिमाग में निर्माण से संबंधित कोई विचार जन्म ही न लें। विज्ञान ने मानव को पूर्ण रूप से जर्जर बना दिया है।-- कल्पांतर काव्य में --

"कर दिया खोखला मैं ने सब उनका दिमाग
दुह दुहकर सभी विचार"।। ﴾पृ-88, कल्पांतर﴿

फिर भी मानव को हिमालय की तरह अड़िग, शक्तिशाली निर्भय होना चाहिए तभी वह अपनी ही नहीं दूसरों की भी रक्षा करने में कामयाब हो सकता है। द्रौपदी को युधिष्ठिर समझाते हैं ---

"निर्भय होना ही हिमालय होना है।
और/ अनासक्ति ही स्वर्ग है।" ﴾पृ-82; म॰प्र﴿

और व्यक्ति तभी निर्भय हो सकता है जब वह सबकुछ त्याग देता है। प्रवाद पर्व में राम कहते हैं ---

"और व्यक्ति/ पद, मर्यादा, अधिकार/
सबकुछ का त्याग कर ही/
निर्भय हो सकता है।" ﴾पृ-103, प्र॰पर्व﴿

क्योंकि जिंदगी भर भय में ही रहें तो भीरू के सिवा और कुछ नहीं कहलाएँगे। अगर मानव निर्भय हो जाये तो भय खुद उससे डरने लगेगा। युधिष्ठिर भी पार्थ को यही समझाते हैं। "महाप्रस्थान" काव्य में ---

"भय का निर्भय से/ जितना भय लगता है
उतना और किसी से नहीं।" ﴾पृ-127- म॰प्र॰﴿

लेकिन इससे पहले कि अर्जुन निर्भय हो हिम उन्हें चपेट लेता है। संतोष कुमार तिवारी भी इसी बात को लेकर कहते हैं कि वास्तव में प्रज्ञा अग्नि को वहन करने के लिए मूल्य चुकाना होता है, निर्भय प्रज्ञा यात्रा ही स्वर्गारोहण करती है। " निर्भय न होने की स्थिति में अर्जुन भी हिम समाधि लेते हैं जिस पर युधिष्ठिर कह उठते हैं ---

"तुम निर्भय होने से पूर्व ही/ शेष हो गये।" (पृ-128, म॰प्र॰)

अर्जुन से पहले द्रौपदी को भी युधिष्ठिर यही बात समझाते हैं कि इस देवलोक में किसी का भी संसार स्वीकृत नहीं होता। इसलिए यथार्थ में जो सबकुछ नष्ट हो गया है उसे स्मृतियों से भी नष्ट हो जाने दो ---

"जो वास्तविकता में नष्ट हो चुका
उसे स्मृतियों में भी नष्ट हो जाने दो
और निर्भय हो जाओ।" (पृ-81, म॰प्र॰)

लेकिन मानव का एक गुण है कि वह अन्धेपन में ही अधिक रहना चाहता है। वह चाह कर भी उसमें से उभरना नहीं चाहता । क्योंकि उसमें रहना ही उसे अच्छा लगता है। वह यथार्थ का सामना नहीं करना चाहता। धृतराष्ट्र की स्थिति भी ऐसी ही है। वे भय के अन्धेपन में रहना ही पसंद करते हैं ---

"भय का अंधापन, ममता का अंधापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया।" (पृ-13, अंधायुग)

और धृतराष्ट्र आखिर में सब कुछ नष्ट होने के बाद इस अंधेपन में से उभरते हैं। उनके पास ले देकर अब यह भय ही शेष रह जाता है।

वे विदुर से कहते हैं ---

"किन्तु इस ज्ञान ने/ भय ही दिया है विदुर
जीवन में प्रथम बार/ आज मुझे आशंका व्यापी है।"

§पृ-22; अंधायुग§

और राधा इस सत्य के साक्षात्कार से आशंकित हो जाती है। सृजन की इच्छा चाहे कितनी सुन्दर हो परन्तु प्रत्यक्ष सृष्टि मात्र सुंदर नहीं है। सृष्टि का अस्तित्व उसका निरन्तर होता जानेवाला विस्तार और इस विस्तार के क्रम में उसे दिखाई पडनेवाले कुछ असुन्दर लक्षण उसे भयभीत करा देते हैं। अपने ही प्रतिरूप सी सृष्टि से भयभीत होनेवाली प्रिया राधा के भय का मूल कारण होती है। उसकी यह आशंका कि उसका प्रेमी उससे, छिन जाएगा। इस भय को वह स्वयं तर्क विहीन और कारणहीन समझती है। फिर भी उसे पूरी तरह निर्मूल नहीं कर पाती। उक्त आशंका के परिणामस्वरूप वह अपने प्रेमी को एक निर्मम कसाव में जकड़कर रखती है। परन्तु इससे अब वह सुख का अनुभव नहीं करता, स्थिति कुछ इस तरह होती है कि उसे कहना पड़ता है।---

"और यह मेरा कसाव निर्मम है।" §पृ-54 कनुप्रिया§

भय से अभिभूत होकर राधा अपनी बाहों में कृष्ण को जकड़ लेती है कि उसकी साँसे,उसके प्राण उसका रक्त स्वयं में संचारित हो जाए और वह नवजीवन प्राप्त कर सके। कनुप्रिया में ----

"मैं ने कस कर तुम्हे जकड़ लिया है
*** **** ***
तुम्हारा रक्त मेरी मृतप्राय शिराओं में प्रवाहित होकर
फिर से जीवन संचरित कर सके।" §पृ-54 कनुप्रिया§

नागवधू की गुंजलक की भांति निर्मम कसाव में कनु को बांध कर भी कनुप्रिया का तर्कहीन, कारणहीन भय समाप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि बाहर का फैला - फैला समुद्र, ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र तथा ब्रह्माण्ड, दिशाओं और समय के अनन्त प्रवाह में कनुप्रिया को अपनी प्रतिछाया दिखाई देती है और आदिम भय बना रहता है। इसीलिए वह अपने प्राण से "वातायान" बन्द" करने को कहती है और उसका तर्क देती है ---

"कि आज अंधेरे में भी दृष्टियाँ जाग उठी हैं।

*** ***** ***

और मैं अपने से ही भयभीत हूँ।" ﴾पृ-56 कनुप्रिया﴿

कभी - कभी चारों ओर का वातावरण भी मानव में भय उत्पन्न करता है और कुछ अनिष्ट के घटने की सूचना देता है। आत्मदान काव्य में अहल्या कहती है।

"आज यह आकाश/ इतना क्यों झुक आया है।

***** *** ***

लगता है कोई छायाभास/ पल - पल निकट आ रहा।
दिशाओं में कुछ अनोखा/ घटने जा रहा। ﴾पृ-3·आत्मदान﴿

उस भयानक रात्रि में नचिकेता की जिंदगी को उससे छीन कर, फिर जिन्दगी को एक नया तात्पर्य देने के लिए उसे वापस किया जाता है। यह बोध शायद सृष्टि के किसी मानव को उपलब्ध हो। आत्मजयी काव्य में ---

"जागृति यह / जो मुझ ही से
जिन्दगी को छीन/ मुझको जिंदगी को सौंप देती है
उस भयानक रात्रि को मानो/ नया तात्पर्य देती है।"
(पृ-111 आत्मजयी)

मन में भय हो तो हर वस्तु भयभीत करा देती है। सूर्य की किरणें जो चारों ओर प्रकाश फैलाती है। वह भी सुनसान जगह में खड़ी कनुप्रिया को भयभीत करा देती है ---

"अनन्त प्रदीप्त सूर्यों को/ कोहरी की गुफाओं में पंख टूटे
जुगुनुओं की तरह रेंगते देखा है/ तो मैं भयभीत होकर
लौट आयी हूँ।" (पृ-50· कनुप्रिया)

कनुप्रिया यह समझ नहीं पाती कि जब सृष्टि ही उसका लीलातन है तो उसे इतना भय क्यों लगता है---

"अगर यह निखिल सृष्टि / मेरा ही लीलातन है
*** *** ***
तो यह तो बताओ मेरे लीलाबन्ध
कि कभी - कभी "मुझे" भय क्यों लगता है।"
(पृ- 49 ; कनुप्रिया)

आत्मदान की अहल्या को इन्द्र से तृप्ति पाने के बाद प्रकृति भी कुछ अनिष्ट घटने की सूचना देती है ---

"ये शंका और भय के
मिले - जुले रंगोंवाले/ बादल काले/

मन की किस कंदरा से

**** ****

निकल - निकल आते।" (पृ-12 आत्मदान)

सृष्टि की यह कैसी विचित्र लीला है हर जीव जिसमें से जन्म लेता है। फिर उसी में लुप्त हो जाता है। युधिष्ठिर एक ऐसे महापुरूष हैं जो प्रकृति में विलय हो जाना चाहते हैं और इसलिए उन्हें प्रकृति की निर्ममता न ही भेदती है और न ही भयभीत करती है--

"मैं यहाँ/ व्यक्ति से प्रकृति बनने ही आया हूँ पार्थ
इसलिए
इस प्रज्ञायात्रा की समस्त भयावहता भी
मुझे विचलित नहीं कर पा रही।" (पृ-127-म॰प्र॰)

कितने आश्चर्य की बात है सृष्टि की हर वस्तु सृष्टि द्वारा निर्मित हर एक को अपना लीलातन समझते हुए भी कनुप्रिया भयभीत है और अपनेआप से प्रश्न करती है कि चन्द्रमा उसके माथे का सौभाग्य बिन्दु है फिर वह डर कर क्यों लौट आई ---

"...... मुझे भय क्यों लगा है
और मैं लौट क्यों आयी हूँ और मेरे बन्धु"
क्या चन्द्रमा मेरे ही माथे का सौभाग्य बिन्दु नहीं है?
(पृ-50 · कनुप्रिया)

कनुप्रिया उद्दाम क्रीडा की वेला में भयभीत होने के कारण निर्वसना जलपरी की तरह छटपटाती है। अत: वह अपने आप से प्रश्न करती है कि यह भय का जाल किसने फैंका है, जिसमें वह उलझ कर छटपटा रही है ---

"उद्दाम क्रीडा की वेला में,
भय का यह जाल किसने फेंका है, ﴾पृ-51; कनुप्रिया﴿

"केलिसखी" में यह "आदिम भय" उद्दाम श्रृंगार को जन्म देता है। कनुप्रिया भय और उद्दाम श्रृंगार के रिश्ते की बड़ी बारीकी से व्याख्या करती है--

"आदिम भय, तर्कहीन, कारणहीन भय जो
मुझे तुमसे दूर ले गया था, बहुत दूर
क्या इसीलिए कि मुझे
दुगुने आवेग से तुम्हारे पास लौटा लावे।" ﴾पृ-54;कनुप्रिया﴿

स्पष्टत: यह "आदिम भय" अस्तित्ववादियों का कारणहीन "एंगविश" ﴾ Anguish ﴿ है जिसकी महिमा कीर्केगार्द, हैड्गर, यास्पर्स आदि ने गाई है। इस भय से गुजरने पर ही प्रामाणिक अस्तित्व का जन्म होता है।

"कनुप्रिया" में राधा यह समझ नहीं पाती कि यह भय आता कहाँ से है जो कोहरे के माफिक फन फैला कर बैठा है ---

"कहाँ से आता है यह भय"। ﴾पृ-51 कनुप्रिया﴿

ऐसा लगता है कि यह भय कुछ और नहीं बस मन का ही एक विकार है जो मानव को भयभीत करता है। आत्मजयी काव्य के नचिकेता को भी यही अनुभव होता है कि उसका यह भय कहीं उसके मन का विकार तो नहीं जो कई गुणा बढ़कर मानसिक रोग के रूप में बाहर आ रहा है--

"ऐसा तो नहीं कहीं यह सब
मेरे ही मन में छिपा चोर
मेरा भय हो? ﴾पृ-78,आत्मजयी﴿

मानव जबतक अज्ञान में घिरा रहता है। उसे भय ही लगा रहता है। लेकिन जैसे ही वह ईश्वर का ध्यान करता है। उसके मन का भय दूर होता है और वह अंधेरे से प्रकाश की ओर बढ़ता है। अंधायुग काव्य में विदुर कहते हैं ---

"भय है तो/ ज्ञान है अधूरा अभी।
प्रभु ने कहा था यह ﴾पृ- 22 अंधायुग﴿

प्रभु अर्थात् ब्रह्मा एक कंठ विषपायी काव्य में युद्ध से होनेवाले रक्तपात को रोकना चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि शिव से युद्ध कर फिर रक्तपात हो। इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि वे शिव से भय-भीत हैं। लेकिन इन्द्र मानने को तैयार नहीं। वे कहते हैं ---

"इसका अर्थ हुआ कि शक्ति के भय से
हम शत्रु को न रोकें।" ﴾पृ-106, एक कंठ विषपायी

इसी विषय को "संशय की रात" काव्य में दूसरे रूप में लिया गया है। जहाँ पर राम संशयित है कि युद्ध करें या न करें कि कहीं उन्हीं से यह परंपरा प्रारंभ न हो। हनुमान कहते हैं कि केवल इस डर से न्याय और अधिकार को छोड़ना संगत नहीं प्रतीत होता --

"पर/इस डर से/ क्या हम न्याय और अधिकार छोड़ दें।"
﴾पृ-82; संशयकी रात﴿

न्याय को समदर्शी ही नहीं तत्वदर्शी भी होना चाहिए। नहीं तो वे भय के प्रतीक बनेंगे और ऐसे राज्य में प्रजा निर्भय होकर वास नहीं कर सकती। प्रवाद पर्व काव्य में राम कहते हैं भरत से कि राज्य और न्याय को राजभवनों और राज -पुरूषों से ऊपर प्रतिष्ठापित होने दें----

"यदि ये तत्वदर्शी नहीं होते
तो एक दिन
निश्चय ही वे भय के प्रतीक बन जायेंगे।" {पृ-42,प्र॰पर्व}

मानव को भय के प्रतीक नहीं बनना है। अस्तित्ववादियों का महत्वपूर्ण तत्व है- अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता। इसलिए प्रवाद पर्व के राम कहते हैं लक्ष्मण से ---

"राज्य/---- भय से भी नहीं चला करते
जिस दिन/ मनुष्य अभिव्यक्तिहीन हो जाएगा
वह सबसे अधिक/ दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा।"{पृ-43,प्र॰पूर्व}

महादेवी सीता साधारण मानव के निर्भय अभिव्यक्ति की दाद देती है और कहती है कि एक राजा होने के नाते उसके विश्वास की, उसकी अभिव्यक्ति की राम को रक्षा करनी चाहिए।--

"यदि/यह उस/ अनाम साधारण जन का विश्वास है
जिसे उसने निर्भय अभिव्यक्त किया है तो•••/
अभिव्यक्ति की/ रक्षा करनी चाहिए।" {पृ-80; प्र॰पर्व}

कहीं मानव निर्भय होकर अपनी बात कहता है तो कहीं निर्भय व्यक्ति के सगे - सम्बन्धी उसकी निर्भीकता को देख कुछ अनिष्ट के घटने के डर से भय खाकर उसे छोड़ चले जाते हैं। शम्बूक की भी यही स्थिति है वह तपस्या द्वारा अपनी आत्मा का उदार करना चाहता है। लेकिन समाज तपस्या को केवल मुनिवरों तक ही सीमित रखते हैं-

"मुनिवरों के/ शाप-भय से त्रस्त हो
मेरे सगे-संबन्धियों ने/ दिया मुझको त्याग।" {पृ-88,शम्बूक}

समाज व्यक्ति की दृढ़ता का प्रलोभन ,भय दिखाकर तोड़ देता है। यही उसकी रीति है तभी तो "एक कंठ विषपायी।" की वीरिणी कहती है" दक्ष महाराज से --

"नाथ!....../एक प्रलोभन/ अथवा भय से/
उसकी सब दृढ़ता चुक जाती।" [पृ-14. एक कंठविषपायी]

मानव का स्वभाव है कि छोटी - छोटी घटनाओं के घटने पर वह किसी अनिष्ठ की आशंका करने लगता है। एक कंठ विषपायी में वीरिणी को भी यही आशंका होती है ---

"मेरी दाईं आँख फरकने लगी अचानक
सहसा बैठे - बैठे/ मेरा जी अकुलाया
अभी - अभी "।। [पृ-22. एक कंठ विषपायी]

डरने में उतनी यातना नहीं होती जितनी उसके घटने में। युयुत्सु कौरव पुरुष होते हुए भी कृष्ण अर्थात् सत्य के पक्ष में रहते हैं और कौरवों से युद्ध करते हैं। युद्ध के बाद अब उन्हें भय होता है कि कहीं जहर भरे भाले से उनका स्वागत न हो। कौरव पक्ष के लिए भी वे भय के विषय बन गये हैं--

"डरने में / उतनी यातना नहीं है
जितनी वह होने में जिससे
सबके सब केवल भय खाते हों।
वैसा ही मैं हूँ आज।।" [पृ-54; अंधायुग]

कभी - कभी भय चरम व्यथा के रूप में प्रस्तुत होती है। नचिकेता को आत्मजयी काव्य में ऐसा महसूस होता है। जैसे कोई जबरदस्ती उसके

प्राण खींच रहा हो और वह पूरी शक्ति से लड़ता है --

"मानो भय चरम व्यथा हो ....." ﴾पृ-60, आत्मजयी﴿

कुछ न कर पाने की स्थिति में मानव आक्रोश से भर जाता है। और जिस वस्तु पर उसे कभी मान रहता है। उसी को वह तोड़ देता है। अश्वत्थामा जिसे अपने धनुष पर नाज़ था जिसकी प्रत्यंचा खुद द्रोण ने चढ़ाई थी। आज अपने पिता की निर्मम हत्या और दुर्योधन की स्थिति को देखने के बाद वह अपने धनुष को मरोड़ देता है। क्योंकि अब वह यह समझता है कि वह शक्तिहीन बन गई है। उसे अब वह कुचले हुए सांप सा भयावह प्रतीत होता है।

"कुचले हुआ सांप सा/ भयावह किन्तु
शक्तिहीन मेरा धनुष है यह/ जैसा है मेरा मन"
﴾पृ-36; अंधायुग ﴿

सत्य से कटने पर साधारण जन भयभीत हो जाता है। एक कंठ विषपायी काव्य में सर्वहत के संबंध में इन्द्र भी यही कहते हैं---

"एक सत्य से कट जाने पर
यह सामर्थ्यहीन साधारण जन
केवल भयभीत हो गया।" ﴾पृ-120 एककंठ विषपायी﴿

और व्यक्ति जब किन्ही कारणों से किसी स्थान पर समय पर नहीं पहुँच पाता तो उसके मन में जिस प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ठीक वैसी ही भावनाएँ कनुप्रिया राधा के मन में जन्म लेती है, जिसके कारण वह चाहकर भी समय पर आम्रमंजरी की तरफ नहीं जा पाती कुछ भय के कारण, कुछ मन में उठ रह संशय के कारण, कुछ मन की उदासी के कारण:---

"और मैं कितना चाहकर भी तुम्हारे पास ठीक उसी समय
नहीं पहुँच पाती "   (पृ-24, कनुप्रिया)

सर्वहत एक ऐसा व्यक्ति है जिसपर युग की संत्रास स्थिति पूर्णरूप से चरितार्थ होती है। मानव की वर्तमान अतृप्त क्षुधा ही इसका कारण है। इसीलिए विष्णु, सर्वहत को शिव की हिंसा का जीवित - प्रतिरूप न मान उसमें भय और आशंका का प्राधान्य स्वीकारते हुए कहते हैं --

"हिंसा नहीं है इसमें
भय है....... आशंका है।" (पृ-52, एक कंठ विषपायी)

इसलिए मानव को ईश्वर के प्रति आस्था रखनी चाहिए। उसे समर्पित भाव से निर्भय हो जीवन - यापन करना है। तभी तो इतिहास-पुरुष कहते हैं ---

"महाव्रती महाकृती मुझ में समर्पित यों
कर जीवन - यापन/ निर्भय निष्काम बन"   (पृ-47, इ.पु.)

निष्कर्ष:--

भय अथवा संत्रास व्यक्ति को प्रामाणिक अस्तित्व प्राप्त करने का अवसर देता है। भय व्यक्ति को उसके कार्यों से विमुख नहीं करता अपितु उसकी कार्यशक्ति और चयन करने की दृढ़निष्ठा को अभिव्यक्ति देता है।

2.1.4. <u>नियति</u> :--

"अरविंद के अनुसार नियति एक अटूट कार्यकारण सम्बन्ध है जो विधि या विधान का ही दूसरा नाम है और यह विधान आत्म की तुष्टि के लिए प्रकृति के हाथ में यंत्र मात्र है।"{10}

"विवेकानन्द के अनुसार नियति उस चपला स्त्री के समान है जो उसे चाहता है, उसकी वह परवाह नहीं करती, पर जो उसकी परवाह नहीं करता, उसके चरणों पर वह लोटती रहती है।"{11}

नियति से कोई नहीं भाग सकता। व्यक्ति को उसका समाधान करना पड़ता है और इसे वह किस ढंग से करता है। यह उसके अस्तित्व पर आधारित है तभी तो आत्मदान की अहल्या कहती है ---

"यह मेरी नियती का अनिवार्य पक्ष था
मैं कब तक इसे टालती "   {पृ-45, आत्मदान}

इस पुरुषोन्मुख समाज में पुरुष कुछ भी करे चल जाता है। लेकिन उसी स्थान पर स्त्री हो तो पूरा समाज उस पर टूट पड़ता है। डॉ.शिवराज गोयल भी इसी बात पर जोर देते है कि भोग - कृत्य में अहल्या के साथ इन्द्र भी तो समभागी थे । किन्तु वे तो सहस्रयोनि" के श्राप से मुक्त होकर सहस्राक्ष और पूज्य हो गये तथा वह स्वयं परित्यक्त शिला होकर अपश्या बना दी गई - पुरुष व्यभिचारी होकर भी पूज्य न्यायकारी और रक्षक रहे तथा नारी असंयमशीला, क्या नियति है।"{12}

इन्द्र भी हर स्वार्थी पुरुष की तरह अहल्या को मंझदार में छोड़ चले जाते हैं और जब अहल्या को यथार्थ का ज्ञान होता है तो उसका जीवन एक लम्बी सूनी रात के रूप में रह जाता है---

"दोहरी नियति जीती/ बाहर - भीतर को
एक अनाम साधना में लीन/लम्बी रात हूँ/ जर्जर/क्षीण......
ऍपृ-32 आत्मदानऍ

जिस तरह से आत्मदान काव्य में अहल्या नियति के हाथों छली जाती है। उसी प्रकार से शम्बूक काव्य में श्रीराम भी नियति के हाथों छले जाते हैं। कहाँ उन्हें सम्राट होना था और कहाँ वे केवल दास बनकर रह गए हैं। तभी तो शम्बूक कहते हैं ---

"तुम नियामक हो/ नियति के किन्तु फिर भी दास
मैं सदा ही दास था/ मुझको अतीव सुपास।" ऍपृ-61 शंबूकऍ

इसे भाग्य का खेल कहें या भगवान की लीला/ कहाँ विप्रबालक की मृत्यु और कहाँ शम्बूक का तप। इन दोनों का कारण जोड़ते हुए शम्बूक का शीर्ष अलग करवाया जाता है। असल कारण तो बालक की मृत्यु साँप के डसने से होती है-- शम्बूक कहते हैं --

"नियति रचती है परिस्थिति/ क्या कहूँ मैं राम
लोग कहते हैं/ कि यह लीला तुम्हारी है
किन्तु मानव के लिए/ यह बहुत भारी है।"ऍपृ-96, शम्बूकऍ

यही तो अंधायुग के याचक भी कहते हैं कि ज्योतिषी होने के कारण उन्होंने मानव नियति के अलिखित जो था उसको जाँचा था, लेकिन जो होना था वही हुआ ---

"मैं ने मापा था/ नक्षत्रों की गति को/
उतारा था अंकों में / मानव नियति के
अलिखित अक्षर जाँचे थे।" (पृ-25 अंधायुग)

सृष्टि के रहस्य को प्रवाद पर्व के श्रीराम भी समझ नहीं पाते तभी तो वे प्रश्न करते हैं कि क्यों केवल एक ही व्यक्ति बार - बार नियति के हाथों का खिलौना बनता है।

"कैसा है यह/ सृष्टि का रहस्य/
कैसी है यह/ आदिम जिज्ञासा वाली/
अग्नि परीक्षा/ जो मनुष्य मात्र की नियति है।"
(पृ-22 प्रवद पर्व)

सीता की अग्नि परीक्षा के बाद भी साधारण जन की अभिव्यक्ति को महत्त्व देते हुए श्रीराम भेज देते हैं सीता को वनवास के लिए --

"वनों में / एकान्त उपत्यकाओं में/
इस नियति को/ संभाव्य - असंभाव्य
किस - किस रूप में नहीं भोगा है प्रिये?" (पृ-58,प्र•पर्व)

जिस प्रकार से राम और सीता का सुख नियति से देखा न गया उसी प्रकार शम्बूक की तपस्या "मुनिवरों" से देखी न गई। लेकिन एक मुनिवर थे जो वात्सल्य से उनके शीश पर हाथ फेरते थे। लेकिन नियति को यह भी स्वीकार न था ---

"किन्तु देखा गया/ विधि से/ सुख न मेरा और/
जड़ नियति ने काट दी/ आने लगा जब बौर।"(पृ-70,शंबूक)

कितने आश्चर्य की बात है कि एक शूद्र की तपस्या से डर कर इन्द्र उन्हें अपने रास्ते से हटाने का मार्ग ढूँढते हैं। क्योंकि इस तपस्या के कारण उन्हें अपनी कुर्सी के छिने जाने का डर है। इसलिए शम्बूक : काव्य में वसिष्ठ से नारद पूछते हैं कि क्या उन्हें भी इसका आभास हो गया है---

" "मुझे लगता है नियति का त्रास
आपको भी दे गया आभास"।पृ-﴾पृ-11, शम्बूक﴿

तभी तो "संशय की रात" काव्य के श्रीराम अपने पिता दशरथ की छाया से प्रश्न करते हैं कि क्या हर शुभ और अशुभ कार्य की यही परिणति है --

"क्या यही/ क्या यही नियति है?
सारे मानवीय शुभाशुभ की/ क्या यही परिणति है?"
﴾पृ-55,संशय की रात﴿

एक ओर राम "मानवीय शुभाशुभ कार्यों की बात कहते हैं तो दूसरी ओर शम्बूक काव्य में ब्राह्मणों के न्याय हेतु शम्बूक का वध करने निकलते हैं। एक के लिए न्याय है तो वही दूसरे के प्रति अन्याय सिद्ध होता है। इसलिए शम्बूक कहते हैं ----

"न्याय या अन्याय दोनों
हो नहीं सकते कभी
मानव - नियति से दूर।" ﴾पृ-97, शम्बूक﴿

शम्बूक और एकलव्य दोनों भी शूद्र जाति के होते हुए भी महान तपस्वी है। लेकिन दोनों भी नियति के हाथों छले जाते हैं। केवल इस

एक मात्र कारण के, कि वे शूद्र हैं, शम्बूक कहते हैं एकलव्य से ---

"जो मेरी नियति थी/ तुम्हारी भी वही हुई"
§पृ-99· शम्बूक§

अंधायुग के युयुत्सु को भी यही भुगतना पड़ता है। दुख इस बात का है कि वे कौरव होते हुए भी धर्म के पक्ष में खड़े रहने के लिए पांडवों के साथ हैं --फिर भी पांडवों द्वारा ही उनका अपमान होता है। कृपाचार्य कहते हैं ---

"युधिष्ठिर के राज्य में
नियति है वह युयुत्सु की
जिसने लिया था पक्ष धर्म का " § पृ-41, अंधायुग§

जिस राज्य में मानव का सम्मान नहीं होता वह राज्य एक सर्प के समान होता है जो मानव - नियति को डसता है। शम्बूक कहते हैं--

" "राज्य जो संस्कृति रहित है, दर्प है
डसेगा मानव नियति को, सर्प है।।" §पृ-97, शम्बूक§

ऐसे ही संस्कृति रहित राज्य से अपमानित होते हैं विभीषण। विडंबना यह है कि निष्कासित राजा राम से वे भी न्याय मांगते हैं कैसी नियति है ---

"अपमानित विभीषण चाहते हैं न्याय
उस सम्राट से
जो दस दिशा की नियति है।" §पृ-81· संशय की रात§

नारी अपना अपमान सह सकती है। लेकिन अपने पति का अपमान नहीं सह सकती। "एक कंठ विषपायी " काव्य में सती अपने पति शंकर के अपमान पर रौद्र रूप लेकर यज्ञ में प्रवेश करती है। यह सुनकर दक्ष आवेश में आते हैं। वीरिणी उन्हें रोकती है फिर भी वे चले जाते हैं। वीरिणी अनिष्ट के घटने की कल्पना कर कहती है--

"क्रूर नियति / वह तेरे हाथों से छले गए।"

(पृ-33; एककंठ विषपायी)

नचिकेता ज्ञान की पिपासा हेतु सुख सम्पदा का त्याग कर देता है। क्या नियति है सब कुछ उपलब्ध रहते हुए भी वह घर से बहिष्कृत होता है।

"रुककर नदी को सोच लेने दो
कि मैं भागा हुआ बन्दी नहीं हूँ
सिर्फ उसकी ही तरह बेचैन मेरी नियति भी अब
महासागर माँगती है।" (पृ-59· आत्मजयी)

दुष्यन्तकुमार के अनुसार मानव को नियति के आगे विवश नहीं होना चाहिए वही व्यक्ति विवश होता है जो असमर्थ होते हैं वे ही भयभीत होते हैं। निरन्तर पीड़ा सहना ही क्या आधुनिक मानव की नियति है। यही प्रश्न उठता है अंधायुग में।"(13) आजीवन दलित कुण्ठा की दारुण यातना भोगने के लिए अभिशप्त अश्वत्थामा मर भी तो नहीं सकता । क्योंकि उसे आजीवन पीड़ा पानी है। निरन्तर पीड़ा ही उसकी नियति है ---

"जीवित रहेगा वह
लेकिन हमेशा जख्म ताजा रहेगा
मरने नहीं देंगे प्रभु।" (पृ-100, अंधायुग)

निष्कर्ष:--

नियति व्यक्ति को अपने अनुसार नहीं ढालती वरन मानव अपने वैचारिक बल पर जो निर्णय करता रहता है। उसके अनुरूप नियति बनती तथा मिटती रहती है। मानव को नियति के हाथो खिलौना नहीं बनना है। निष्क्रियता में नहीं आचरण अथवा क्रिया में मानव अस्तित्व की सार्थकता है। यहाँ भी मानव के अस्तित्व की सर्वोच्चता प्रतिष्ठित की गई है।

2.1.5. अलगाव :---

डॉ.शिवकुमार मिश्र के अनुसार अस्तित्वमय को उपलब्ध करने की व्यक्ति की चेष्टा कभी समाप्त नहीं होती और विश्वगत नियंत्रण के बीच यह सम्भावना सदा रहती है कि व्यक्ति को इस जटिल पार्थिवता से मुक्त करने का प्रयत्न करे। पार्थिवता से मुक्ति का प्रयास ही मानस में अलगाव की अनुभूति को जन्म देता है। दूसरे की आनुषंगिक उपस्थिति और उनकी उत्कृष्टता व्यक्ति को भीतर समेट लेती है। "(14)

डॉ.सुषमा भटनागर के अनुसार समाज से अलग होकर अकेलेपन की अनुभूति अनिवार्य है। नयी कविता में अस्तित्व बद्धता स्वातन्त्र्य कामना और निजी नैतिकता के निर्माण का फल यह हुआ कि मनुष्य धीरे - धीरे बहुत अकेला होता चल गया।"(15)

व्यक्ति को अपनी व्यथा - कथा सुनाने के लिए और सहवास के लिए दूसरे सामाजिकों की आवश्यकता होती है। अकेलापन व्यक्ति के लिए असहनीय हो जाता है। निर्जनता में अकेलपन की भयप्रदता स्वाभाविक ही है। परन्तु भरे समाज में भी व्यक्ति अपने आपको अकेला तब पाता है जब कोई उसे समझ नहीं पाता। उसे अपना जीवन अर्थ - शून्य लगता है और जीवन के सारे सन्दर्भ व्यर्थ प्रतीत होते हैं।

एकान्त की कामना और अकेलेपन की दुर्निवार अनुभूति दुहरे अलगाव की तथ्यात्मक परिणति है। अलगाव की प्रक्रिया अस्तित्ववान की चेतना में विभिन्न भाव रूपों को जन्म देती है। संसर्ग और अर्जित आदतें उसके आन्तरिक और बाह्य रूप में परस्पर तनाव और वैषम्य को व्यक्त करती है। स्थापित मान्यताओं और सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण व्यक्ति दूसरों के समक्ष एक तरह का आचरण करता है और वैयक्तिक धरातल पर अपनी स्वयं की चेतना के अनुरूप दूसरे तरह से सोचता है और व्यवहार करता है। अपरिचित और परिचित जनों के बीच उनके व्यवहार में अंतर होता है। इस दुहरे रूप में जीवन जीने के लिए आधुनिक व्यक्ति अभिशप्त है।

यही बात तो कल्पांतर काव्य में भी कही गयी है---

"हम न अकेले साथ सभी हैं-यद्यपि अलग और अनजाने,"

{पृ-18, कल्पांतर}

मानव का स्वभाव ही है कि वह अलग रह ही नहीं सकता उसको किसी न किसी का साथ चाहिए। "इतिहास पुरुष" काव्य में जहाँगीर भी नूरजहाँ से यही कहते हैं -----

"अकेलेपन हमारे दिल को घबराता और
परेशान रखता है - तुम आ जाओ।" ॥ पृ-81 द• पु॥

अकेले पड़ने पर व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह सभी के द्वारा उपेक्षित, परित्यक्त कर दिया गया है। महाप्रस्थान की द्रौपदी को ऐसी ही अनुभव होता है, वह कहती है --

"महाप्रस्थान के इस पथ पर/ पतियों को खोकर
प्रताडिता एकाकी हो गयी हूँ।/ जैसे यज्ञ सम्पन्न हो जाने
के बाद / अकेला यज्ञयूप/ उपेक्षित/
गडा हुआ छोड दिया गया हो।" ॥ पृ-87, ।•पृ•॥

तबभी द्रौपदी अपना प्रयास जारी रखती है और सहायता के लिए पुकारती है। आँधी में घिरे पक्षी के समान हिमपथ में लिपटी उसकी आवाज़ पार्थ तक आर्तस्वर के रूप में पहुँचती है। वे कहते हैं ---

"आया था -/ मुझे पुकारते हुए
आँधियों में घिरे एकाकी पारवी सा/पंख फड़फड़ाता वह
विवश प्रिया का/ आर्तस्वर आया था।" ॥पृ-93•म•पृ•॥

लेकिन द्रौपदी की पुकार कहाँ तक पहुँच सकती थी, सूर्यास्तकाल की दिशा के रूप में उसकी आवाज़ धीरे - धीरे शांत हो जाती है-

"उस राशिभूत/ हिम ऐकान्तिकता पर उड़ती
आश्रय-आकुल वह पुकार
सूर्यास्त काल सी दिशा भर रही। ॥पृ-69•म•पृ•॥

आखिर में भीम के भी हिमपथ में गल जाने के बाद युधिष्ठिर अकेले रह जाते हैं। महाप्रस्थान में वे कहते हैं कि उनके पास भाषा तो

है लेकिन सम्बोधन के लिए कोई नहीं --

"भीम!!! तुम मुझे मात्र एकाकी ही नहीं
सम्पूर्ण अनाश्रित दिगम्बर भी कर गये भीम।
*** *** ***
जिसमें सम्बोधनहीन भाषा
और भाषाहीन सम्बोधन ही शेष बच गया।" §पृ-132, म•प्र•|

भीम के भी गल जाने के साथ ही जैसे कि सारी पाण्डवता नष्ट हो जाती है। युधिष्ठिर सिहर उठते हैं और उनके मुख से ये शब्द निकल पड़ते हैं ---

"इन नक्षत्रों की
अनन्त एकाकी साक्षियों के अतिरिक्त
अब और क्या शेष है?" §पृ-133, म•प्र•§

इसी तरह अंधायुग के अश्वत्थामा भी अकेले पड़ जाते हैं और वे विवश हो ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं। क्योंकि वे कहते हैं---

"मैं क्या करूँ/ मुझको विवश किया अर्जुन ने
मैं था अकेला और अन्यायी कृष्ण पांडवों के सहित
मेरा वध करने के लिए आतुर थे।" §पृ-95,अंधायुग§

इसे ईश्वर की लीला के सिवा और क्या कह सकते हैं कि जिस राजा के सिर पर रत्नजटित सिंहासन की छत्र छाँह थी अब वह अकेले हिमपथ पर खड़े हैं। महाप्रस्थान में ----

"यह क्या हो गया/ कहाँ ले आयी यात्रा"
सम्बन्धहीन इतना एकाकीपन/ शिरा - उपशिरा दग्ध कर रही
जिसके सिर पर/ रत्नजटित सिंहासन की छत्र-छाँह थी
आज भोजपत्र हिम टपकाता एकान्त खड़ा है।"

§पृ- 64; महाप्रस्थान§

इसी तरह अच्छे मार्ग पर चलने पर अत्यधिक रोकड़े ही नहीं, सगे - सम्बन्धी भी किसी अनिष्ठ की आशंका से नाता तोड़ देते हैं। शम्भूक काव्य में शँम्बूक के तप के कारण मुनियों के श्राप के डर से उसके सगे - सम्बंधी उसे अकेला छोड़ चले जाते हैं और तब से, शम्बूक कहते हैं --

"मैं यहाँ एकान्त में/ जलता रहा
बरसों जलाकर आग "।। §पृ-88, शम्बूक§

शम्बूक एक अस्तित्ववादी मानव है तभी तो वह अकेले रह कर भी अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं।

उसी प्रकार से लक्ष्मण में भी यह गुण अपनी सीमा को पार कर जाता है। उनमें वह धैर्य, मनोबल है, जिसके सहारे किसी भी कठिन काम को करने की सामर्थ्य रहती है। सीता देवी के लंका से ले आने के लिए वे राम से कहते हैं ---

"आप रुके रामेश्वर/जाएगा लक्ष्मण ले अभियान
यदि नितान्त एकाकी भी जाना पड़े/ जाऊँगा"

§पृ-23, संशय की रात§

और इसी प्रकार से शम्बूक काव्य में राम भी शम्बूक की खोज में अकेले ही जाने का निश्चय करते हैं। व्यक्ति अकेला होने पर भी अगर उसे

अपने आप पर विश्वास है तो वह जो चाहता है उसे वह हासिल कर सकता है --

"राम ने निश्चय किया यह -
वे अकेले ही करेंगे
शूद्र - मुनि की खोज।" ‡पृ-14, शम्बूक‡

अकेले व्यक्ति का भी अस्तित्व होता है। जड़ अकेले रहते हुए भी फूलों के द्वारा संसार को देखती है ---

"जड़े - फूलों की आँखों से संसार को देखती है।एकान्त"
‡पृ- 56, आत्मजयी‡

"इसी प्रकार से आत्मजयी काव्य में -नचिकेता को यम व्याख्यायित करते हैं --

"तू वह चिन्तक उपवासी जो एकाकी रह सकता"
‡पृ-72, आत्मजयी‡

इसके विपरीत की मन:स्थिति सर्वहत में प्रकट होती है, जो युद्ध के बाद अकेला पड़ जाता है -- एक कंठ विषपायी काव्य में वह कहता है ---

"किन्तु/ मैं अकेला रह गया हूँ अब
बिल्कुल अकेला / पूरे नगर में अकेला/ आह"
‡पृ-67, एक कंठ विषपायी‡

हर जीव अकेला ही इस सृष्टि में जन्म लेता है और अकेला ही सृष्टि को छोड़ चला जाता है। एक कंठ विषपायी काव्य में शंकर भी

सती की मृत्यु पर शोक में वे इस तथ्य को भूल जाते हैं, तभी तो वे कहते हैं ---

"आह शोक ने मुझे/ अपरिचित स्थितियों से जोड़ दिया
महाशून्य के अन्तराल में/ निपट अकेला छोड़ दिया।
(पृ-71, एक कंठ विषपायी)

इसी तरह नचिकेता को भी अपने पिता को, यज्ञ से गायों को प्राप्त करनेवाले लोभी इन्सानों को देख दुख होता है। उस भीड़ में वह अकेला रह जाता है जो इसका विरोध करता है।

"लोभ के वशीभूत गद्गद् श्रद्धाओं के मेले में
भीड़ के प्रपंच बीच शंकित जिज्ञासु एक
अशुभ उपस्थित हूँ"।। (पृ-30, आत्मजयी)

इधर नचिकेता के पिता वाजश्रवा लोभी हैं तो उधर आत्मदान काव्य" में इन्द्र हैं जो अपनी वासना की तृप्ति हेतु चन्द्र के सहयोग से उसकी रश्मियाँ अहल्या तक पहुँचाता है। इसलिए अहल्या अपने आप को अकेले दोषी नहीं मानती। वह चन्द्रमा से कहती है ---

"तब नहीं दोष मेरा यह सब एकाकी
तुम्हारा भी कुछ कर्तव्य बचा था बाकी।" (पृ-24, आत्मदान)

नचिकेता एक ऐसा अस्तित्ववादी पुरुष हैं जो यथार्थ को सामने रखते हुए कहता है- मनुष्य अणुवत अकेला है उसे सन्दर्भ देना है।

"हर व्यक्ति/ अपनी सृष्टि के सारांश में
अणुवत अकेला है/ उसे सन्दर्भ देना है" (पृ-112, आत्मजयी)

निष्कर्ष:—

ईश्वर के अभाव में मानव एकाकी रह जाता है। क्योंकि उसे अपने भीतर या बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं मिलती जिसका वह आश्रय ग्रहण करे।

2·1·6· उदासी : उद्विग्नता :--

मानव तब उदास होता है जब उसे उसकी मनचाही वस्तु, चीज़, जगह प्राप्त नहीं होती, लेकिन अस्तित्ववादियों के अनुसार ईश्वर की प्राप्ति न होने पर ही मानव उदास हो जाता है। ईश्वर पर आस्था रख मानव उदासी से दूर हटता है।

डॉ·हरिचरण शर्मा के अनुसार सिन्धु के तट का वातावरण राम की वियोगी मन:स्थिति को भली - भाँति प्रस्तुत कर सकता है। उसमें वातावरण जितना सघन है राम के मन में अनुभव भी उतने हो संश्लिष्ट हैं।(16) चिन्तन ज्यों - ज्यों गंभीर होता गया है, समस्या ज्यों - ज्यों उलझती गयी है, त्यों- त्यों वातावरण में खिंचाव आता है --

"सीतामुख बनाते/ सदा काँपती अंगुलियाँ
पर हाय/ यह बालुवाली जानकी
प्रतिसांझ/ ज्वार जल में समर्पित होती रही।"
(पृ-4,संशय की रात)

और इसी कारण से राम उदास हो जाते हैं वे आगे बढ़ना नहीं चाहते क्योंकि आगे का रास्ता युद्धाभिमुख है और वे पीछे हट नहीं सकते क्योंकि उन्हें वनवास की आज्ञा है --

"एक उदास/वनवास की आज्ञा खड़ी है/पथ को रोक"
(पृ-53, संशय की रात)

इसी प्रकार श्रीराम की तरह ही नचिकेता भी आत्मजयी काव्य में "मैं क्या हूँ" के गूढ़ अर्थ को जानने के लिए "लगातार" प्रयास करते हैं वह अपने को प्यासा ही मानता है और इस प्यास के सहारे ही जीना चाहता है।

" हम जिन" अर्थों में स्वार्थी हैं
उन्हीं अर्थों में शरणार्थी,
मुझे किसी विशालतर अर्थ में
उदास रहने दो।।"   (पृ-51· आत्मजयी)

लेकिन इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष शांत नहीं बैठते वे प्रश्न करते हैं मानव से कि जब चारों ओर उल्लास भरा है तो मानव का मन क्यों इतना उखड़ा है-- वे द्वन्द्व बोध में पूछते हैं ---

"मानव , तू क्यों उदास
विविध वर्ण - गन्ध भरे भूमि के पड़ावों में
क्यों उखड़ा मन तेरा।"
***   ***
तेरे चितरन्ध्रों में घुस पाता क्यों नहीं
अग-जग का यह हुलास
मानव, क्यों तू उदास?"   (पृ-8 इ·पु)

इतिहास पुरुष के इस प्रश्न पर संशय की रात के राम कहते हैं--

"एक उदास/वनवास की आज्ञा खड़ी है/पथ को रोक"
§पृ-53, संशय की रात§

इसी प्रकार श्रीराम की तरह ही नचिकेता भी आत्मजयी काव्य में "मैं क्या हूँ" के गूढ अर्थ को जानने के लिए "लगातार" प्रयास करते हैं वह अपने को प्यासा ही मानता है और इस प्यास के सहारे ही जीना चाहता है।

" हम जिन" अर्थों में स्वार्थी हैं
उन्हीं अर्थों में शरणार्थी,
मुझे किसी विशालतर अर्थ में
उदास रहने दो§।"   §पृ-51· आत्मजयी§

लेकिन इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष शांत नहीं बैठते वे प्रश्न करते हैं मानव से कि जब चारों ओर उल्लास भरा है तो मानव का मन क्यों इतना उखड़ा है-- वे द्वन्द्व बोध में पूछते हैं ---

"मानव , तू क्यों उदास
विविध वर्ण - गन्ध भरे भूमि के पड़ावों में
क्यों उखड़ा मन तेरा।"
***   ***
तेरे चितरन्ध्रों में घुस पाता क्यों नहीं
अग-जग का यह हुलास
मानव, क्यों तू उदास?"   §पृ-8 इ·पु§

इतिहास पुरुष के इस प्रश्न पर संशय की रात के राम कहते हैं--

"दे सको यदि योग/ तो दो-/ अन्यतया
तुम उदासी के लिए ही हो/ सम्भव है।।"

§पृ- 12; संशय की रात§

आज का बुद्धि,ज्ञान बल-गर्वी मनुष्य सृष्टि में आनन्द के सभी साधनों के रहने पर भी मन की मलिनता के कारण उसका भोग नहीं कर पाता है। फलस्वरूप द्वन्द्व बोध का परिणाम बन जाती है उदासी।

आज कल के मानव की स्थिति ऐसी हो गयी है कि सुख के क्षणों में भी वह उदास रहता है। कनुप्रिया काव्य में इसे देखा जा सकता है--

"और सुख के क्षण
में भी घिर आनेवाली निर्व्याख्या उदासी।।"

§पृ-27; कनुप्रिया§

कनुप्रिया के न आने के कारण कनु उदास हो गये हैं वे बहुत देर तब बंसी बजाते रहे इस आशा से कि कनुप्रिया आयेगी। लेकिन कनुप्रिया के न आने के कारण कनु की उदासी को देख ढलता हुआ सूरज भी उदास हो जाता है ---

"ढलते सूरज की उदास कांपती किरणें
तुम्हारे माथे के मोर पंखों
से बेबस विदा मांगने लगी---
मैं नहीं आयी --" §पृ-24, कनुप्रिया§

फलस्वरूप राधा के न आने पर कनु अपने ओठों से बंसी उठा लेते हैं और उदास हो जाते हैं। कनुप्रिया कहती है ।

"तुमने वंशी होठों से हटा ली थी
और उदास मौन, तुम आम-वृक्ष की जड़ों से टिककर
बैठ गये थे/ और बैठे रहे, बैठे रहे, बैठे रहे।।"
(पृ-24; कनुप्रिया)

इसी तरह नचिकेता भी किसी महान अवसर की प्रतीक्षा में बैठता है उसे अपना पूर्व सम्मानित जीवन याद आता है उसका मन उदास हो जाता है एक क्षण के लिए वह सोचता है कि कहीं वह पथभ्रष्ट तो नहीं हो गया--

"आते - जाते लोग आते - जाते रहे
न जाने किन अस्पष्ट संकेतों से बुलाते रहे
कि मन केवल उदास हो गया

*** *** ***

एक पथभ्रष्ट समारोह,
किसी महानतम अवसर की प्रतीक्षा में
उदास कि वह शायद कभी न आये। (पृ-39, आत्मजयी)

और नचिकेता को गुस्से में श्राप देने के बाद वाजश्रवा उदास हो जाते हैं, उसी उदासी में उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि उन्होंने जीवन का अंतिम रहस्य पा लिया हो। --

"जीवन के अंतिम रहस्य को सहसा
पा जाने का गहरा अचम्भा
अन्य सदियों मृत उदासीन चेहरों की अपेक्षा
केवल उदास।।" (पृ-100 आत्मजयी)

अपने पिता की उदासी को देख नचिकेता की आँखें भर जाती हैं-- आत्मजयी से ---

"उन व्यथा - पटी आँखों को
टंगी हुई पुतलियों में
नचिकेता की अन्तिम सन्ध्या की उदासी थी।।" ॥पृ-101, आत्मजयी॥
॥पृ-101, आत्मजयी॥

और इसी उदासी में नचिकेता ऐसे उठते हैं जैसे उदास अकेला सागर तृप्ति पाकर तट से हटता है आत्मजयी में

"तृप्त तट से हटा/
उदास अकेला सागर/कहीं गहरे/ उसके असंतोष ठहरे"
॥पृ-45, आत्मजयी॥

और यही उदासी जब उद्विग्नता में बदल जाती है तब शम्बूक प्रश्न करते हैं। श्रीराम से कि तप कैसे दुष्कर्म हो गया। क्यों उसे अधर्म माना गया, क्यों उसे अपराध मानकर राजदण्ड माना गया। वे पूछते हैं कि राम आप क्षत्रिय हो, सच कहें अपने मन से पूछें कि यह कर्म दंडलायक है लेकिन राम राजा होने के नाते अपनी उद्विग्नता का प्रदर्शन नहीं करना चाहते और कहते हैं ---

"हो रहा हूँ। मैं नहीं उद्विग्न
ओ शम्बूक/ की नहीं मैं ने/
सुशासन में/ कहीं कुछ चूक" ॥पृ-51, शम्बूक॥

मानव इस उदासी, उद्विग्नता की स्थिति में कब तक रहेगा। उसे इस उदासी से बाहर निकलना है। इतिहास पुरुष कहते हैं ---

"रोम मिश्र एशिया तटों के सब अधिवासी
भूले गत जीवन की सारी ऊब उदासी।।" ॥पृ-65, इ॰पु॰॥

निष्कर्ष:---

इच्छा की पूर्ति न होने पर मन उदास हो जाता है और यही उदासी जब अधिक देर तक रहती है मन को अधिक आंदोलित करती है तो वही उद्विग्नता बन जाती है, अस्तित्ववादी जीवन दर्शन के अनुसार इस उदासी में से मानव को उभरना है क्योंकि यह भावना अस्थायी है।

2·1·7· दु:ख· पीड़ा :---

अस्तित्व दु:ख पूर्ण है। सुख का मार्ग दु:ख के खण्डन का नहीं, उसके रूपान्तर का मार्ग है। सुख की खोज में जीवन का त्याग न करके उसका रूपान्तरण करना चाहिए, ताकि दु:ख ही सुख की भावना में परिवर्तित हो जाए। आदमी को अधिक से अधिक दु:खों की कामना करनी चाहिए, जिससे वेदना विजय से उठनेवाला उसका आन्नद अधिक से अधिक सघन हो जाए।

ईश्वर के सान्निध्य तथा अन्य मनुष्य के साथ मैत्री, सहयोग और प्रेम रखने से ही मनुष्य इन दुखद स्थितियों से बच सकता है।

वेद प्रकाश शर्मा "अमिताभ भी इसी बात पर जोर देते हैं" उनके अनुसार भी अस्तित्ववादी दर्शन दु:ख, विषाद एवं पीड़ा को जीवन में काम्य समझता है। दु:ख को वह जीवन की विवशता नहीं उपलब्धि मानता है। क्योंकि दु:ख में आन्तरिक स्फूर्ति का जागरण होता है। जिससे मानव निर्द्वन्द्व होकर उत्साहपूर्वक आगे बढ़ता है। वेदना की अनुभूति अस्तित्व का बोध कराने में सहायक सिद्ध होता है। अस्तित्व-वादी के लिए पीड़ा से अस्तित्व का बोध होता है। पीड़ा का संत्रास जीवन का अनिवार्य अंग है। पीड़ा, दु:ख एवं संत्रास से ही वे समग्र

शक्तियाँ उद्भासित हो उठती हैं, जो मानवीय अस्तित्व का बोध कराती हैं।§17§

इसलिए तो नचिकेता वेदना की तह तक पहुँचना चाहता है। आत्मजयी काव्य में वह कहता है---

"इन वेदनाओं की तहों तक/ मुझको उतरने दो

*** *** ***

न जाने क्यों
व्यथाओं को बिना समझे हुए छलकर
हृदय को सोच होता है।" §पृ-41, आत्मजयी§

नचिकेता की पीड़ा एक संकटग्रस्त युग में छटपटाते हुए व्यक्ति कि अस्तित्ववादी पीडा है और उसका साहस भी इस पीड़ा को झेलने की विवशता में से उत्पन्न होता है ---

"मैं युग निर्वासित हूँ/ आजीवन वनवासी/ राजपद परित्यागी।"

§पृ-31, आत्मजयी §

इन पंक्तियों में उस अस्तित्ववादी आधुनिक विचारधारा की निश्चित गूँज सुनाई देती है, जो बहिष्कृति या "एलियनेशन" को वर्तमान जीवन की एक अनिवार्य स्थिति मानती है और मनुष्य के बुनियादी अकेलेपन को इसके माध्यम से रेखांकित करती है।

प्रवाद पर्व के श्रीराम को भी ऐसा ही अनुभव होता है। जब भी वे महादेवी सीता को पाने की चेष्टा करते हैं। वे उन्हें खोते ही गए हैं और वे हर बार अकेले पड़ जाते हैं तभी तो वे कहते हैं ---

"सीता। तुम्हें नहीं लगता कि/
हमारे वाद्‌य में/ केवल
एक ही राग आज तक बजता रहा है/ विषाद का "
(पृ-65,प्र॰पर्व)

और इसका कारण भी वे अपने आप को स्वयं मानते हैं। संशय की रात "काव्य में वे कहते हैं ---

"रघुकुल के दुखों का मैं कारण हूँ।" (पृ-53, संशय की रात)

राम की मानसिक पीड़ा और भी प्रबल हो जाती है कि क्योंकि वे यह समझ नहीं पाते कि वे सबकुछ जानते हुए भी कैसे पथ भूल गये---

"ओ अशोकों की छाँह वाली/जानकी/
जानते भी क्यों गए हम
स्वर्णमृग हित/ क्यों गए पथ भूल।।" (पृ-8,संशय की रात)

डॉ॰अवध नारायण त्रिपाठी,पीड़ा या संत्रास व्यक्ति के लिए अनिवार्य मानते हैं, पीड़ा के भय को हृदय से निकाल कर पूर्ण मुक्ति की स्थिति में रहने की शिक्षा देते हैं तथा पीड़ा के प्रति अपनी सारी चेतना को प्रबुद्‌ध करके अपने अस्तित्व बोध को उर्जस्वित बनाये रखने का परामर्श देते हैं। अर्थात् पीड़ा ही इनके अस्तित्वबोध की साधिका है, साध्य है। व्यक्ति की स्वच्छन्दता और अस्तित्ववादी व्यक्ति स्वातन्त्र्य में बाधक सभी तत्वों की घोर उपेक्षा करते हुए सभी कष्टों को सहर्ष भोगते हुए दूसरों के सुख की चिन्ता किये बिना सच्ची स्वच्छन्दता में पहुँचना ही लक्ष्य मानते हैं।(18)

आत्मजयी का नचिकेता पिता द्वारा गायों की बलि दिये जाने के कारण बड़ी ही पीड़ा का अनुभव करता है ---

"उसकी निरपराद आँखों के अवसाद में प्रतिदिन
एक सूर्य की बलि दी जाती/ और वह उस व्यर्थ वेदना को/
छटपटाती पराकाष्ठा से गुजरता/ बिना अस्त हुए/
बिना शांति पाये/" (पृ-41, आत्मजयी)

राम भी इसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव करते हैं। वे अपनी पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए जितना प्रयास करते हैं उतना ही उनका परिताप उन्हें सालता रहता है कि बन्धु - बान्धव क्या कहेंगे -- स्वयं सीता क्या सोचेगी --

"यह परिताप"/ यह अनुताप/ अनुरवन सालता है।"
(पृ-9• संशय की रात)

क्योंकि उनके बन्धुजन उन्हीं के कारण प्रायश्चित करते हैं और उन्हीं के कारण दु:ख भोगते हैं।

"राम की इस विवशता को/ सोच सकते हो/
अन्य प्रायश्चित करें मेरे लिए/ दु:ख भोगें। "
(पृ-28; संशय की रात)

एक कंठ विषपायी काव्य के सर्वहत पर भी परोक्ष रूप से युद्ध का प्रभाव पड़ता है। विष्णु उनसे प्रश्न करते हैं ---

"जब तुम इस नाटक में कुछ भी नहीं थे
और कहीं भी नहीं थे/ तो फिर यह पीड़ा
या यह परवर्ती प्रभाव/ क्यों भोग रहे हो?" (पृ-49, एक कंठ विषपायी)

इसी प्रकार से आत्मजयी काव्य में वाजश्रवा को भी यही अनुभव होता है, जैसे कि अशुभ मन्त्र से सारा वातावरण बदल गया है और मन का दुख देह से टकराकर वहीं "मंड़रा रही है"----

" टकरा - टकराकर अपने ही दुख से
बस, उसी देह के आस-पास ही मंडराये।"
(पृ-81; आत्मजयी)

कभी - कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि दुःखी होना भी अमानवीय हो जाना है। महाप्रस्थान में हिमपथ पर आरूढ़ प्रिया, नकुल, सहदेव के एक के बाद एक के गलते जाने पर और किसी को न बचा सकने की पीड़ा अर्जुन को हिला देती है। जिस पर युधिष्ठिर कहते हैं ---

"अपने ही आँखों के सामने
अपने भीतर की रागात्मिका को
हाहाकार रूप में/ नष्ट होते देखना
दुख देता है न पार्थ?" (पृ-105 म.प्र.)

वीरिणी अपनी बेटी सती की पीड़ा को देख दुखी होती है मातृत्व प्रेम के कारण सती की मृत्यु की बात सुन वह गिर जाती है। अनुचर से उसकी यह पीड़ा देखी नहीं जाती वह कहता है ---

"आपके ललाट पर उभर आई
पीड़ा की रेखाएँ
देखी नहीं जाती।" (पृ-33 ; एक कंठ विषपायी)

शिव की पीड़ा को देखकर विष्णु की भी यही स्थिति है। इन्द्र कहते हैं विष्णु के संबंध में ---

"खुद उनकी पीड़ा से पीड़ित है? ॥पृ-62, एक कंठ विषपायी॥

ब्रह्म को भी आश्चर्य होता है कि सृष्टि के महानतम् विष्णु भी शिव की पीड़ा से पीड़ित हैं वे कहते हैं ---

"सृष्टि के महान- / और गुरुतम दायित्वों के पालन में
योगदान देते हैं / पीड़ित हैं।।" ॥पृ-60, एक कंठ विषपायी॥

लेकिन आश्चर्य तब होता है जब ब्रह्मा भी शंकर की पीड़ा को देख नहीं पाते, वे उस प्रसंग को उठाना नहीं चाहते क्योंकि उनके कल्पना फलक में ही उभर आता है --

"महादेव शंकर का दुर्निवार
पीड़ा से भरा हुआ नीलकंठ / पाँचों मुख
दुख की अभिव्यक्ति में, निरत --॥पृ-41 • एक कंठ विषपायी॥

कुबेर भी यहीं जताना चाहते हैं कि महादेव के दुख में वे भी संवेदन वश यहाँ आये हैं --"एक कंठ विषपायी काव्य में वे कहते हैं ---

"हे महादेव/ भगवती सती की पीड़ा में आपादमग्न
आपको देख/ मेरा भी हृदय कचोट उठा।"
॥पृ-78, एक कंठ विषपायी॥

लेकिन शंकर का उपहास करते हुए इन्द्र कहते हैं ---

"भोग - राग - हीन, तत्वज्ञानी
वे सन्यासी शिव शंकर/
खोकर संतुलन आज मानवीय पीड़ा के
साधारण पाशों में कस गए।" ॥पृ-55 एक कंठ विषपायी॥

पर विष्णु सोचते है कि शंकर को इस पीड़ा से निष्कृति कैसे मिले---

"किस प्रकार/ उनको इस पीड़ा से निष्कृति मिल सकती है।"
§पृ-63· एक कंठ विषपायी§

डॉ· संतोषकुमार तिवारी के अनुसार "पीड़ा मन की आत्मजा है। वह सबसे बड़ा दान है सृष्टि का। आज को ये दुःख, आघात, यश, यातनाएँ, सब देव कृपाएँ हैं। इन्हीं से अंधेरे मस्तक पर उदयांचल होगा और स्वार्थ दर्प अन्धी महानता से मुक्ति मिलेगी।"§1§

सती की मृत्यु पर शिव अत्यधिक दुखी हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दुख का सागर उमड़ रहा हो ---

"क्यों मुझ से/ मुझको ही माँग लिया?
..... फिर मेरा हाथ छोड़
अधबर में साथ छोड/ चली गई।" §पृ-87,एक कंठ विषपायी§

सच कहा जाए तो दुख झूठा होता है क्योंकि वह अस्थायी होता है। अधिकतर मानव तभी दुखी होते हैं। जब उनकी मनचाही वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं होती और जैसे ही वह प्राप्त हो जाती है दुख दूर हो जाता है। "आत्मजयी" काव्य में नचिकेता कहते हैं ---

"दुख झूठा है। दुविधा में" §पृ-34, आत्मजयी§

शम्बूक काव्य में विप्र बालक की अचानक मृत्यु के कारण यह दुख नहीं बीतता ---

"सोचने लगी जनता यह बात
दुख न बीता, किन्तु बीती रात"§पृ-6· शम्बूक§

आश्चर्य होता है जब व्यक्ति जहाँ भी जाये हर द्वार पर उसे दुख मंडराता हुआ नज़र आता है इसलिए प्रवादपर्व के राम दुख को ही ईश्वर मानते हैं क्योंकि दुख हर एक का द्वार खटखटाता है वह सीता से कहते हैं--

"सीता! परन्तु दुख/ कैसा बहुरूपी है।
कहीं भी चले जाओ/ किसी का भी द्वार खटखटाओ
केवल दु:ख की ही प्रतिध्वनी आएगी
सीता! सम्भवत: दुख ही प्रभु है।" [पृ-68, प्र॰पर्व]

दुख भी प्रभु है और सुख भी। अश्वत्थामा जिन्हें अपना शत्रु मानता था वही अपनी मृत्यु पर अश्वत्थामा की पीड़ा हर लेते हैं। दुख भी उन्होंने ही दिया था और शांति भी उन्होंने ही दी-- अश्वत्थामा कहते हैं ---

"जिसको तुम कहते हो प्रभु
वह था मेरा शत्रु
पर उसने मेरी पीड़ा भी धारण कर ली
जख्म है बदन पर मेरे
लेकिन पीड़ा सब शान्त हो गयी बिल्कुल"
[पृ-128, अंधायुग]

"शशि सहगल के अनुसार पीड़ा बोध अस्तित्व के प्रति सतत जागृति-पेक्ष करता है और शंकालु वृत्ति को छोड़ विविध अनुभूतियों को पूरी जीवन्तता से जीते हुए मानव में नये मूल्यों के विकास की प्रेरणा देता आया है। [20]

संवेदना के धरातल में धर्मवीर भारती कहते हैं कि शासन तन्त्र के नेतृत्व वर्ग के शासकों की स्थिति भी पुष्ट नहीं है। [21] इस यातना

और पीड़ा का प्रतिरूप युधिष्ठिर में उभरा है। युधिष्ठिर का मार्मिक कथन विजयी भी औचित्य वेदना की अभिव्यक्ति से लिपट जाता है--

"ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर" "अंधायुग"

असल में देखा जाए तो सभी दु:खों का मूल कारण है राज व्यवस्था। महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठिर भी राज्य व्यवस्था के दर्शन को ही दुख का मूल कारण मानते हैं ---

"सारे मानवीय दु:खों का आधार
यह राज्य है/ राज्य व्यवस्था है
और राज्य व्यवस्था का दर्शन है। ‡पृ-110 म.प्र.‡

यही स्थिति है द्रोणाचार्य की भी। युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से- समस्त शास्त्रज्ञता, पाण्डित्य और तेजस्विता के बाद भी यशस्वी द्रोणाचार्य अपनी एकमात्र सन्तान को दूध तक न उपलब्ध करवा सके---

"जब पुत्र/ आटे को ही
दूध समझ कर पीता रहा होगा
तब उस विवश पिता के मन पर
क्या बीतती रही होगी अर्जुन।" ‡पृ-120, म.प्र.‡

वेदना सदैव चेतना के अधीन होने के बोध से ही उत्पन्न नहीं होती, स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता भी वेदना का स्रोत बन जाती है।

महाभारत के अठारह दिवसीय युद्ध में उसके सभी पुत्र एक-एक करके वीरगति को प्राप्त होते हैं। विदुर के मुँह से "माता" शब्द सुनते ही गांधारी का हृदय फट जाता है। क्योंकि उसने अपनी पुत्र वधुओं की स्वयं

चूडियाँ उतारी थीं और उनकी माँग के सिन्दूर को पोंछा था---

"अपने इन हाथों से
मैं ने इन फूल सी वधुओं की कलाइयों से
चूडियाँ उतारी है/ अपने इस अंचल से
सेंदुर की रेखाएँ पोंछी हैं।"§ पृ-24, अंधायुग §

गांधारी की तरह ही युयुत्सु भी दुखी है क्योंकि उन्होंने सत्य का पक्ष ले कौरवों के विरुद्ध किया है जिस पर विदुर कहते हैं ---

"शान्त हो युयुत्सु और सहन करो
गहरी पीड़ाओं को गहरे में वहन करो।" §पृ-59,अंधायुग§

विदुर, पीड़ा के दर्शन की बहुत ही सुंदर व्याख्या करते हैं ---

यह जो पीड़ा ने/ पराजय ने/
दिया है ज्ञान/ दृढ़ता ही देगा वह।।" §पृ-27,अंधायुग§

निष्कर्ष:---

मानव को त्रास की स्थिति में अस्तित्व का सही बोध होता है। इसलिए पीड़ा और दु:ख के समय मनुष्य प्रकाशवान होता है।

2·1·8· निराशा : विसंगति :---

जो व्यक्ति निराशा के चरमक्षण का अनुभव करके भी जीने की लालसा से भरपूर है - सार्थक जीवन पाने का अभिलाषी है। वह निश्चय ही अपने अस्तित्व को बनाये रखने का हामी है। मानव, जीवन की चरम विसंगति यह है कि वह स्वयं के लिए इस संसार में रहता है, किन्तु

दूसरे व्यक्तियों के समक्ष ही अपने कार्यों के द्वारा जाना जाता है। अस्तित्व का यह रूप व्यक्ति के मूल स्वरूप और उसे दूसरों के समक्ष प्रस्तुत रूप के परस्पर तनाव का पुरुष है और चेतना के स्तर पर अभिव्यक्त होता है। अंतत: जीवन की पार्थिव स्वीकृति ही विश्वजनीन विसंगति का निर्धारण करती है।

कैसी विचित्रता है कि अस्तित्ववाद जैसी आस्थावादी चिन्तन की शुरूआत अवसाद और निराशा से हुई है। यह दर्शन निस्सहाय,अवश और निरर्थक स्थिति को नये मानवमूल्य प्रदान करने की चेष्टा करता है। नचिकेता इसी प्रक्रिया से गुजरा हुआ पात्र है। तभी तो वह मानवीय अर्थ की आवश्यकता का अनुभव करता है ---

"एक दृष्टि चाहिए मुझे.....
जीवन बच सके
अंधेरा होने से... बस।" (पृ-84, आत्मजयी)

निराशा, विसंगति, घुटन और थका देनेवाली स्थितियों में आज का मनुष्य हताश नहीं है, तभी तो उसमें एक अच्छी तलाश के साथ जीने की भावना मौजूद है।

इसलिए तो नचिकेता यौवन से सन्तुष्ट नहीं रह पाता क्योंकि केवल यौवन मात्र से जीवन की परिभाषा नहीं दी जा सकती तभी तो नचिकेता कहता है। आत्मजयी में ----

"एक नशा भर जिसके साथ - साथ चलती है
गहरी आत्म निराशाएँ/ जीवन पूर्ण कृतार्थ न होता
इन सेन्द्रिय आभासों से/ कुछ है जो असिद्ध रह जाता।"
(पृ-83, आत्मजयी)

इसलिए नचिकेता प्रश्न पर प्रश्न करता है कि वह कहाँ जाए किसे अपनाए कि वह निराशाओं को पार कर सके---

"कहाँ जाऊँ/........../ किसे अपनाऊँ/
कि अपनी निराशाओं को पार पाऊँ।।" ﴾पृ-84, आत्मजयी﴿

नचिकेता के इन प्रश्नों का उत्तर उसे "सारथी बुद्धि" में यम से प्राप्त हो जाता है ---

"तुझको अपनी
घोरतम निराशा से ही बल लेना होगा।
मृत संस्कारों से अपना जीवन खाली कर
उस खाली पन को नया मर्म देना होगा
केवल शरीर के लिए नहीं
तुझको शरीर के बावजूद जीना होगा।" ﴾पृ-87, आत्मजयी﴿

इसलिए नचिकेता निराश नहीं होता जब उसे जल डुबाता जाता है। वह मूर्ति के कंधों पर पैर रख सीधे खड़ा हो जाता है ---

"रख पाँव मूर्ति के कन्धों पर
हो गया खड़ा फिर नचिकेता" ﴾पृ- 37, आत्मजयी﴿
सहमा सहमा/ वह पल भय से भी आगे का"
﴾पृ-37, आत्मजयी﴿

डॉ॰हरिचरण शर्मा के अनुसार "मेरी समझ में कोई भी दर्शन इस प्रकार से गुजरकर आस्था का पुनर्लाभ नहीं कर पाता है। अतः यह तो अस्तित्ववादी चेतना ही है जो सारी तिक्ताओं को भोगकर भी आस्था की भूमिका पर प्रस्तुत है।"﴾22﴿

महाभारत में माता गाँधारी कौरव वंश के नाश का कारण श्रीकृष्ण को ही मानती है। वे इतनी निराश हैं कि प्रभु को श्राप देती है, जिस पर विदुर क्षमा माँगते हैं और प्रभु से कहते हैं ---

"यह कटु निराशा/ उद्‌धृत अनास्था है/ क्षमा करो प्रभु-
यह कटु अनास्था भी अपने/ चरणों में स्वीकार करो
आस्था तुम लेते हो/ लेगा अनास्था कौन।"
(पृ-24, अंधायुग)

मानव जब निराशा की चरम सीमा पर रहता है तो उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है। गाँधारी की भी यही स्थिति है। वह कृष्ण को श्राप तो दे देती है। लेकिन फिर दुखी हो जाती है।

"कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुख होता
मैं थी निराश/ मैं कटु थी/ पुत्रहीना थी।"(पृ-103, अंधायुग)

निराशा की निविडतम स्थितियों के घटाटोप के कारण अश्वत्थामा का व्यक्तित्व न केवल निराशा का पर्याय बन गया। अपितु उसका अस्तित्व केवल एक ही अर्थ देता है। वध केवल वध। यही कारण है कि वह विपक्षी को देखकर आक्रमण करने की बात सोचता है या उसे पूरी तरह से समाप्त करने की* - -

"इसी तरह/ इसी तरह
मेरे भूखे पंजे जाकर दबोचेंगे
वह गला युधिष्ठिर का/ जिससे निकला था
अश्वत्थामा हतो हत:/.../ केवल, केवल वध, केवल"
(पृ-39, अंधायुग)

तभी तो डॉ॰शिवकरण सिंह कहते हैं कि निराशा की इस काली रजनी के रेगिस्तान में झंझावतों से प्रताड़ित व्यक्ति के विश्वास की तरह उसकी आस्था एक शरण की खोज के लिए आतुर हो उठी। वह शतुर्मुग की तरह अपने वैचारिक रेगिस्तान में कुछ समय के लिए अपने सिर को छिपाकर पलायनवाद की क्रोड में आश्रय खोजने के लिए बाध्य हुआ। पर निरन्तर प्रवाहित झंझावतों के समक्ष उसका यह पलायनवादी आश्रय ठहर न सका। अंततोगत्वा उसे ऐसे कटु सत्य का सामना करना पड़ा जिसके अन्तराल में निराशा की अजस्र स्रोतस्विनी प्रवाहित हो रही थी, इसी कटु सत्य के परिणाम स्वरूप अस्तित्ववाद प्रादुर्भाव हुआ।"﴾23﴿

निराशा के चरम क्षण को झेलकर जीने की भरपूर लालसा, सार्थकता की तलाश ऐसे तथ्य हैं जो "अस्तित्व के प्रति नचिकेता की जागरूकता को ध्वनित करते हैं।

"मैं जागृत हूँ/ इस कोलाहल के आर – पार।"
﴾पृ-104, आत्मजयी﴿

अपने लिए अर्थ खोजने की चिंता स्पष्टत: अस्तित्ववादी चिंता है। अपने लिए प्राप्त अर्थ ही मनुष्य को काल का एक टुकड़ा मात्र होने से बचाता है।

यही तो नचिकेता का प्रयास है निराशा से उभरने के लिए वह हर संभव प्रयास करता है। फिर भी उसी में उलझता प्रतीत होता है। वह जिधर भागे उधर पहले ही से एक कठिन अनिश्चय एक नयी दीवार,एक डरावनी छाया दिखाई देती है। फलत: किसी ओर फांद जाने को जी करता है ---

"चाहे खाई हो/ चाहे आग/ चाहे जल
क्योंकि उन सबसे कहीं अधिक भयानक यह छल है।"
(पृ-56, आत्मजयी)

क्योंकि उन सबसे कहीं अधिक यह छल है। इसे न तो जीवन कहा जा सकता है और न मृत्यु। जब भविष्य भी हवाई है और अतीत बीता हुआ फिर वर्तमान की गंगा से ही प्यास बुझ सकती है। भविष्य तो विनाशमय है। तभी ऐसी अनिश्चित और त्रासमयी स्थिति में जहाँ संपूर्ण अस्तित्व खतरे में हो, अस्तित्व की गरिमा समझ में आती है।

निराशा में मानव को हर वस्तु अखरती है, चुभती है यही स्थिति है कनुप्रिया की, उसे आम्र के बौर तक चुभते हैं वह कहती है ---

"और ये आम के टूटे बौर के कण - कण
मेरे पाँवों में बुरी तरह साल रहे हैं।" (पृ-26, कनुप्रिया)

जिन्दगी की कड़वाहट और आपाधापी तथा निरन्तर अधिकाधिक पाने की कामना आदि कुछ ऐसी विसंगतियाँ हैं, जिनमें फंसकर मानव छटपटा रहा है- उबरने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता है।

यही विसंगति दक्ष की अनिच्छा से पार्वती के वरण के कारण शंकर में उनकी आत्म पराजय आत्मनिर्वासित और टूटी हुई मनस्थिति द्वारा व्यक्त होती है ---

"देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़
मैं ने क्या पाया?
निर्वासन? प्रेयसी वियोग।।" (पृ-77, एक कंठ विषपायी)

कौरव-नगरी पर मंडराते गिद्धों का समूह उन्हें अपशुकन की सूचना देते हैं कि महाविनाश निकट है। उन्हें इस सत्य से साक्षात्कार होता है कि मर्यादा और अनास्था आदि राजाओं की शोभा है। जनता का जीवन तो सूनेपन में खो जाता है। अंधे राजा के अंधे निर्णय जनता को नष्ट कर देते हैं। यह तथ्य भी उन्हें मिला है। वे कहते भी हैं ---

प्रहरी 1 : पर यह जो हम दोनों का जीवन
सूने गलियारों में बीत गया।
प्रहरी 2 : कौन इसे अपने जिम्मे लेगा?
प्रहरी 1 : हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया , क्योंकि नहीं थी
अपनी कोई भी मर्यादा
प्रहरी 2 : हमको अनावस्था ने कभी नहीं झकझोरा ,
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था
प्रहरी 1 : हमने नहीं झेला शोक
प्रहरी 2 : जाना नहीं कोई दर्द
प्रहरी 2 : सूने गलियारे का सूना यह जीवन बीत गया।

प्रहरियों के इस वार्तालाप से एक बात का चेहरा साफ उभरता है कि विसंगति और विडंबना का आरंभ कहाँ से होता है। कुछेक अन्धी रूढियों के पोषकों द्वारा जन - जीवन की चेतना । कैसे आहत हो जाती है।

निष्कर्ष:--

निराशा की चरम सीमा में ही हमें जीवन के वास्तविक स्वरूप का परिचय मिल जाता है। जबतक जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं होती, तब तक हम बाह्य एवं मर्त्य सुखों का पीछा करते हैं। जिन

सुखों की न कोई निश्चित सीमा होती है, न कि समाप्ति। यही कारण है कि हम जीवन के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रह जाते हैं। मन से विशाल नहीं बन पाते।

2.1.9. कुण्ठा :---

कुण्ठा एक अनास्थामूलक प्रवृत्ति है। भयग्रस्त शंका और कुण्ठा का कारण विज्ञान से उत्पन्न मानवीय जिजीविषा है।

धर्मवीर भारती के अनुसार विशिष्ट परिस्थिति में प्रतिशोध, कुण्ठा एवं आत्मघात आदि को भी जीवन -मूल्य माना जा सकता है। क्योंकि ऐसे समय में व्यक्ति इन्हीं में स्वजीवन का उत्कर्ष समझता है।

प्रतिशोध एवं कुण्ठा व्यक्ति के जीवन में स्थायित्व नहीं ला सकते। अंधायुग में संजय से धृतराष्ट्र कहते हैं ---

"अब सब प्रयत्न व्यर्थ है
देखकर नहीं यह सत्य ग्रहण कर सका तो आज
मैं अपनी वृद्ध अस्थियों पर / सत्य धारण करूँगा
अग्निमाला सा " (पृ-3, अंधायुग)

यही प्रश्न ब्रह्म करते हैं। एक कंठ विषपायी में, कि वे कुण्ठा से त्राण क्यों नहीं पा रहे हैं ---

"क्यों आखिर?
मेरा कुण्ठित विवेक सोच नहीं पात है।

संशय की रात के राम भी यही प्रश्न करते हैं, वे मानते हैं कि वे कापुरुष नहीं है और न ही उनके लिए युद्ध कुण्ठा का कारण है।

वे लक्ष्मण से कहते हैं ---

"लक्ष्मण / मैं नहीं हूँ कापुरुष
युद्ध मेरी नहीं है कुण्ठा/ पर युद्धप्रिय भी नहीं।"
(पृ-27, संशय की रात)

कुण्ठा एक ऐसी मन:स्थिति है जहाँ पर मानव अंदर ही अंदर घटित घटनाओं को सोचते- सोचते कुंठाग्रस्त होता चल जाता है। लेकिन यह ठीक नहीं, क्योंकि इससे साम्राज्य तक ढह जाते हैं ---

" "घटनाएँ बीत कर/ हमें कुंठित, वलयित कर जाती हैं
जिससे साम्राज्य तक ढहायें जा सकते हैं।" (पृ-75, म.प्र.)

यही कारण है कि एक उलूक द्वारा रात्रि में शांत बैठे कौओं पर अनायास आक्रमण को देखकर चेतना का स्फुरण प्रतिहिंसा की आग में झुलसाते हुए प्रतिशोध का संकल्प और वध अश्वत्थामा के लिए मनोग्रंथि बन जाता है। उच्च सत्तासीन व्यक्ति जन निजी स्वार्थों के वशीभूत किसी महत्वपूर्ण प्रतिज्ञा को नकारता है, तो कुंठित प्रतिज्ञा के सामने बर्बता ही विकल्प हो जाता है---

"वध, केवल वध
अंतिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का।" (पृ-38, अंधायुग)

कुछ ऐसी ही स्थिति है अंधायुग के प्रहरियों की जिनका कार्य केवल सूने गलियारे की रक्षा करना था। इसके सिवा उनका कोई अस्तित्व नहीं था। उनके मन में किस तरह से कुण्ठा, अनास्था, अविश्वास, सत्ता जमा रहे हैं। उन्हीं के शब्दों में ---

"आस्था का/ साहस का/ श्रम का
अस्तित्व का हमारे कुछ अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था।" (पृ-19, अंधायुग)

ऐसा ही कुछ आत्मजयी काव्य के नचिकेता में पाया जाता है। जहाँ वे स्वयं को युग निर्वासित और "घर से बहिष्कृत" पाता है। यह बोध और क्रमशः "आत्मनिर्वासन" की ही ओर ले जाता है।

"मैं रीत गया आत्मा को व्यय करके
बदल में केवल एक कुंठा संचय करके।" (पृ-20 , आत्मजयी)

नचिकेता एक कुंठित युवक की भांति हमारे सम्मुख आता है। उसका विद्रोह पिता के प्रति उसे अत्यंत आक्रामक बना देता है। पर पिता की ओर से प्रतिघात होते ही, नचिकेता की कुंठाएँ बढने लगती है। वह स्वयं को निर्वासित और व्यर्थ समझने लगता है। यहाँ तक कि भयभीत होकर वह अपने ही अस्तित्व को मिटा देने का फैसला करता है। उद्विग्न करनेवाले "आत्म" को समाप्त करने के प्रयास में ही उन्मुक्त करने वाले आत्मा का उदय स्वतः निहित है और अब नचिकेता अपने आप को समर्पित करता है -- इस बार मृत्यु को नहीं, अपितु जीवन के प्रति/।

निष्कर्ष:---

कुण्ठा के रहते ही मानव अपने विवेक का सही उपयोग करता है।

2·1·10· धर्म :---

अरविंद के अनुसार अपने सार रूप में तो धर्म एक स्थिर वस्तु है, किन्तु फिर भी वह हमारी चेतना में अभिव्यदि्र्धत एवं विकसित होता है।§25§

विवेकानन्द के अनुसार मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में ही सन्निहित होता है। कोई पद्धति, जिससे व्यक्तिगत विशेषता का नाश होता है। वह अंततोगत्वा विनाशक सिद्ध होती है। हर जीवन में एक धारा प्रवाहित हो रही है, और वही उसे अंत में ईश्वर को प्राप्त करा देगी। हरेक धर्म का लक्ष्य तथा साध्य भगवत्प्राप्ति ही है। सभी शिक्षाओं से बड़ी शिक्षा केवल भगवान की है आराधना करने की है।

युधिष्ठिर धर्म के संबंध में कहते हैं कि यह बहुत ही खतरनाक दर्शन है, जिसमें राजा और राज्य मानवीय उदात्तताओं और करुणा के प्रतीक धर्म के प्रतिपालक नहीं हो सकते और

"धर्म का उत्स
राज्य की प्रज्ञा में होता है।" §पृ-111 , म·प्र·§

इसके साथ ही वह यह भी कहते हैं कि एक तात्कालिक धर्म होता है वह है कर्तव्य, महाप्रस्थान काव्य में ---

"एक तात्कालिक धर्म भी होता है
कर्तव्य।।" §पृ- 32 , महाप्रस्थान§

यही बात संशय की रात काव्य में राम से दशरथ की छाया कहती है कि उनके जैसे मर्यादित पुरुष के लिए यहाँ सब कर्तव्य है ---

"यहाँ सब कर्तव्य है/ जयाजय
धर्माधर्म कुछ नहीं/ केवल नाम है।" (पृ-57, संशय की रात)

ऐसा ही कुछ- कुछ अंधायुग काव्य में देखने को मिलता है। गांधारी कहती है - धर्म जिधर है उधर जय होगी क्योंकि धर्म ही सत्य है और सत्य ही ईश्वर है। लेकिन इन अठारह दिनों के महासंग्राम में किसी तरफ भी धर्म न था ---

"धर्म जिधर होगा........
उधर जय होगी
धर्म किसी ओर नहीं था...." (पृ-2; अंधायुग)

धर्म कहीं नहीं था। केवल धर्म का प्रदर्शन था। आत्मजयी काव्य में भी यही स्थिति है जहाँ वाजश्रवा धर्म का प्रदर्शन करते हैं। नचिकेता से यह सब सहा नहीं जाता वह कहता है ---

"यह सब धर्म नहीं - धर्म सामग्री का प्रदर्शन है
***　　*****　　***
जिससे भिन्न सोचते ही
मैं विधर्मी हो जाता हूँ
इस तरह........
कि शेष समर्थ बना रहता गलत भी
एक सही भी, अनर्थ हो जाता है।" (पृ-24, आत्मजयी)

धर्म का पक्ष लेते हुए भी युयुत्सु को आत्महत्या करनी पड़ती है----

"यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में/दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का"।।
(पृ-112; अंधायुग)

जिस प्रकार से धर्म का पक्ष लेते हुए युयुत्सु को आत्महत्या करनी पड़ती है। उसी प्रकार से पांडव दल धर्म और सत्य का पक्ष लेते हुए भी वे महाप्रस्थान पर आरूढ़ होते हैं। द्रौपदी शरीर मात्र से उनके साथ चली आती है। लेकिन उसका मन वही सांसारिकता में फँसा रहता है। इस प्रकार वह अपने को प्रताड़िता और एकाकी मान रही निश्चेतनावस्था में उसे आभास होता है। जैसे युधिष्ठिर एवं पार्थ ने उसके लिए अपने धर्म का परित्याग कर दिया है और वह कहती है ---

"अगत्या तुमने मेरे लिए
अपने धर्म का परित्याग कर दिया।" (पृ-87, म॰प्र॰)

द्रौपदी को समझाते हुए युधिष्ठिर कहते हैं, जिस तरह से धूम्रवस्त्रों का परित्याग कर ताम्रवर्णी अग्नि आकाश में यज्ञ वहन करती है। उसी तरह से मन को भी सम्बोधनहीन होकर धर्म का वहन करना चाहिए--- उन्हीं के शब्दों में ---

"धूम्रवस्त्रों का परित्याग कर/ ताम्रवर्णी अग्नि
जैसे आकाश में यज्ञ वहन करती है/ वैसे ही मन
सम्बन्धहीन, अबाध यांत्रिक हो/ धर्म वहन करता है।"
(पृ-73, महाप्रस्थान)

इसीलिए युधिष्ठिर करुणा को ही धर्म मानते हैं, जो सभी सम्बंधों से एक बहुत ही उत्कृष्ट सम्बन्ध है। वे भीम से कहते हैं ---

"करुणा मेरा धर्म है भीम
*** ***
धर्म के मूल्य पर
मैं स्वर्ग भी अस्वीकार कर सकता हूँ भीम।" (पृ-77, म॰प्र॰)

युधिष्ठिर अगर धर्म के मूल्य पर स्वर्ग को अस्वीकार कर सकते हैं तो धर्म भी विभाजित व्यक्तित्व को अस्वीकार कर देती है। हिन्दू धर्म के अनुसार एक स्त्री का एक ही पति होना चाहिए लेकिन द्रौपदी के पाँच पति होने के कारण द्रौपदी धर्मपथ तक नहीं पहुँच पाती है। क्योंकि धर्म इसे नहीं स्वीकारता है।

"विभाजित व्यक्तित्व/ वह किसी का भी हो
धर्म नहीं स्वीकार किया करता भीम।" (पृ-75, म॰प्र॰)

तभी तो एक कंठ विषपायी की वीरिणी ईश्वर से प्रश्न करती है कि कब उसने धर्म की अवज्ञा की है कि उसका सबकुछ उजड़ गया---

"कब मुझसे धर्म की अवज्ञा हुई है" (पृ-33, एक कंठ विषपायी)

कनुप्रिया भी यही प्रश्न करती है कनु से कि उसीको सबकुछ समझ लेने के बाद अब उसके लिए स्वधर्म क्या रह गया है ---

"नींद में तुम्हारे होंठ धीरे - धीरे हिलते हैं
"स्वधर्म! आखिर मेरे लिए स्वधर्म क्या है।" (पृ-81, कनुप्रिया)

संशय की रात के राम मानते हैं कि विद्रोह उनका धर्म नहीं है

वे सौम्य स्वीकारे गए हैं, इसीलिए वे शांति से ही कार्य करना चाहते हैं ---

"विद्रोह मेरा नहीं गुण धर्म है
सौम्य स्वीकारा गया हूँ आज तक"। (पृ-31, संशय की रात)

लेकिन कल्पांतर काव्य में बंदी बना लिए जाने के बाद भी पराविद्युता सावधान करती है। अर्थमंत्री को क्योंकि वह समझती है कि सावधान करना उसका धर्म है न कि राजनीति की चाल ---

"है बंदी आज तुम्हारे हम/ पर धर्म हमारा
सावधान करना तुमको/ यह रहस सृष्टि की बाते हैं,
है राजनीति की चाल नहीं।" (पृ-62, कल्पांतर)

यह राजनीति की चाल नहीं, बल्कि विशेषज्ञ जनहित के लिए, धर्म - संस्कृति की जोश भरी तकरारें सीख देते हैं। इतिहास पुरुष काव्य में ---

"काव्य - कला - दर्शन के, नीति - धर्म संस्कृति के
विशेषज्ञ वे सबके,
जोश भरी तकरारे लम्बे ब्यान, नित्य
जनहित में सीख देते -। (पृ-37, इ॰पु)

और धर्म के विशेषज्ञ मानव को यही सीख देते हैं कि उन्हें कभी न कभी तो सभी कुछ त्याग कर जाना है। इसलिए माया में वे फँसे न रहे, महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठर कहते हैं द्रौपदी से ---

"धर्म के इस उदार हिम - राज्य में
दिशाओं तक आकाश के अतिरिक्त/अन्य कोई आच्छद
स्वीकृत नहीं होता कृष्णा।" (पृ-75, म॰प्र॰)

और इस प्रकृति से बड़ा कोई नहीं होता जो प्रकृति के धर्म को भेद सके। महाप्रस्थान में द्रौपदी से युधिष्ठिर कहते हैं ---

"प्रकृति के धर्म का भेदन करना
परात्पर होना है।" (पृ-104, म॰प्र॰)

निष्कर्ष:---

मनुष्य जब अपने अंदर के ईश्वर को अनुभव कर माया मोह से ऊपर उठता है तभी वह सही मायने में धर्म का पालन करता है।

2॰1॰11॰ ऊब :---

ऊब में या तो हम किसी वस्तु या व्यक्ति से ऊबते हैं या खुद अपने से, ऊब से मुक्त होने का मतलब है स्वतंत्र होना, स्वतंत्र होने का अर्थ है, रूढ़ियों से हटकर वरण करना और इस प्रकार का वरण ही हमें प्रामाणिकता प्रदान करता है।

आजकल की परिस्थितियों को देखकर मानव ऊब गया है। कल्पांतर काव्य में इसे देखा जा सकता है ---

"भ्रंश सभी ममता/ विश्वास, प्यार/
सामग्री संचय के/ ऊबे हुये भोगवाद।।" (पृ-38, कल्पांतर)

आत्मजयी के नचिकेता भी ऊब गये हैं लेकिन इस ऊब में वे खोये नहीं है ---

"उन उबड - खाबड आकृतियों की तितर - बितर
जिनकी असंख्या में --
ये आँखें ऊबी भर- खोयी नहीं।" (पृ-68, आत्मजयी)

और यह ऊब जब सहनशक्ति से बाहर हो जाती है तो एक कंठ-विषपायी में शंकर कह देते हैं। वरुण, कुबेर और इन्द्र से कि वे उनके छल से ऊब गये हैं ---

"मैं ऊब चुका हूँ
इस महिमा - मंडित छल से।" (पृ-77, एक कंठ विषपायी)

अहल्या अपने पति गौतम के निरन्तर तप से ऊब गयी है। इसी बात पर जोर देते हुए कहते हैं कि इन्द्र राग?"मैं गौतम के निरन्तर तप से ऊबी और विवश अहल्या प्रकृति के वासनोद्दीपक रूप का प्रभाव ग्रहण करती है। यह वासना छलना ही है। परन्तु प्रस्तुत परिस्थिति में वह अत्यंत सशक्त हो उठी है। मानसिक वृत्तियों का निरन्तर दमन अब विद्रोह और शारीरिक मादकता की परिणति बन जाती है---

"तप। तप!! तप!!!
आखिर कब तक.....?" (पृ- 12 आत्मदान)

निष्कर्ष:---

यह एक ऐसी मनोभावना है, जिसको सहते - सहते मनुष्य ऊब जाता है और आखिर में इसका अंत विद्रोह में होता है।

2.1.12. निरर्थकता :---

पिछले महायुद्धों के विनाशकारी दृश्यों ने मनुष्य की आस्था को खंडित कर दिया। फलस्वरूप जीवन के प्रति निरर्थकता का भाव बढ़ने लगा। मनुष्य के चिंतन में नश्वरता का भय व्याप्त हो गया। जिंदगी बोझिल एवं निरर्थक लगने लगी।

अंधायुग के प्रहरी भी अंधे राजा धृतराष्ट्र की रोगी मर्यादा और अंधी संस्कृति के पहरेदार के रूप में अपने अस्तित्व की निरर्थकता की गहरी अनुभूति से पीडित है --

"मेहनत हमारी निरर्थक थी/ आस्था का
साहस का/श्रम का / अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था/ कुछ भी अर्थ नहीं था।-" (पृ-15, अंधायुग)

यही स्थिति जन्म में अंधे धृतराष्ट्र की थी। अंधे रहने के कारण उनके लिए हर बात निरर्थक थी। वे कहते हैं ---

"मेरे लिए वे सम्वाद सब निरर्थक थे
मैं हूँ जन्मांध
केवल सुन ही सकता हूँ। " (पृ-21, अंधायुग)

जीवन के खोखलेपन को साक्षात्कृत कर लेने पर आदर्शात्मक मूल्य अर्थहीन तथा नारकीय से लगने लगते हैं। जीवन की इस सारहीन स्थिति में भारती की "कनुप्रिया" में राधा की अखिल मनोभूमि में यही विचार तरंगे उठने लगती हैं कि ---

"कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व
शब्द, शब्द, शब्द
मेरे लिए नितांत अर्थहीन हैं।-- ‌{पृ-17, कनुप्रिया}

एक कंठ विषपायी का सर्वहत अपनी निरर्थकता को इन शब्दों में प्रस्तुत करता है।

"पर अब मैं/ एक पगडंडी के सिवा और क्या हूँ?"
धूल भरी विस्मृत सी पगडंडी एक ।।" {पृ-111 एक कंठ वि॰}

संजय का भी यही हाल है, वे अपने आपको रथ के शोभाचक्र मानते हैं जो दो पहियों के बीच घूमता है लेकिन न तो रथ को आगे बढ़ाता है और न ही धरती को छू पाता है। अर्थात् शोभा के अतिरिक्त उसका कोई और उपयोग नहीं होता ---

"और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता।"{पृ-76, अंधायुग}

गांधारी और धृतराष्ट्र पर जलता हुआ बरगद का पेड़ गिरने पर वह उनकी सहायता करने में असमर्थ रहता है। वह इस हद तक अपने आपको निरर्थक मानता है कि वह अपने आप से ही प्रश्न करता है कि वह क्यों शेष रह गया ---

"लेकिन क्यों
मुझसा निरर्थक और होगा कौन?" {पृ-117, अंधायुग}

निष्कर्ष:---

किसी भी मानव को चाहे कितना ही निरर्थक क्यों न माना जाए" उसे अपना जीवन संघर्ष जारी रखना है चाहे वह कितना ही उपहास का पात्र हो। चाहे जितनी घुटन, आत्मग्लानि, अवसाद, हीनग्रंथि, टूटन, निराशा और अनास्था का दंश उसे सहना पडे। उसे आत्मघात की ओर नही बढ़ना है बल्कि उसे अपने आपको एक अर्थ देना होगा।

2.2. अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद और नयी कविता के खंड काव्य :---

यह दर्शन ईश्वर को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार केवल मनुष्य ही सबकुछ है और यह दर्शन धर्म, ईश्वर एवं आस्तिक दर्शनों को अस्वीकार करता है। इनके अनुसार ईश्वर की पूजा से न सिद्धि मिलती है न सफलता। वे मुक्ति का अर्थ अपनी स्थिति के बोध में खोजते हैं तथा पूजा को वह पराजय की स्वीकृति मानते हैं। इसी प्रकार से धर्म भी उनके लिए हेय है। क्योंकि धर्म के नियम व्यक्तिगत स्वच्छन्दता को बाधित करते हैं। अस्तित्व के प्रति जागरूकता उनके लिए मुक्ति है तथा वे मानते हैं कि नियति मात्र छलना है और धर्म प्रवंचना है। वे अपने कर्म पर ही विश्वास करते हैं।

2.2.1. कर्म ---

विवेकानन्द के अनुसार अपने भाग्य के निर्माता हम ही है। तुम्हारा यह शरीर तुम्हारे ही कर्मों के अनुसार बना है और किसी ने तुम्हारे लिए वह गठित नहीं किया है। सर्वव्यापी परमेश्वर तुम्हारे अज्ञान के कारण तुमसे छिपा रहा है और उसका दायित्व तुम्हारे ही ऊपर है। तुम यह

न समझना कि इस घोर तमोमय संसार में तुम बिना अपनी इच्छा के ही ला पटके गए हो, वरन् तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि ठीक जैसे तुम इस क्षण अपने इस शरीर को बना रहे हो, पहले भी तुम्ही ने थोड़ा - थोड़ा करके इसका निर्माण किया था। तुम स्वयं ही खाते हो, कोई और तो तुम्हारे लिए नहीं खाता। फिर जो तुम खा लेते हो, उसे तुम्हीं अपने लिए पचाते हो और कोई तो नहीं पचाता। फिर उसीसे तुम अपना रक्त, पेशी तथा शरीर बनाते हो दूसरा कोई कुछ नहीं करता। बस, यही तुम बराबर करते आए हो।{27}

समस्त कर्मों का उद्देश्य है मन के भीतर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना आत्मा को जागृत कर देना।{28}

वास्तव में कर्म मानव जीवन का वरेण्य है, उच्चतम मूल्य है। कर्म से ही यश की प्राप्ति होती है। दशरथ की प्रेतात्मा यही कहती है--

"पुत्र मेरे/ संशय या शंका नहीं
कर्म ही उत्तर है/ यश जिसकी छाया है
उस कर्म को करो।।" {पृ-67, संशय की रात}

इन्द्र के अनुसार भगवान विष्णु भी कर्म को ही महत्व देते हैं -- भगवान विष्णु ने भी कर्म को महत्ता दी है।"पृ-119, एक कंठ विषपायी}

वृद्ध याचक भी कर्म की सत्यता पुष्टि करते हैं ---

"आज इस पराजय की बेला में/ सिद्ध हुआ
झूठी थी सारी अनिवार्यता भविष्य की
केवल कर्म सत्य है।"{पृ-42, अंधायुग}

एक कंठ विषपायी काव्य में विष्णु भी कर्म की ही महत्ता प्रतिपादित करते है----

"मेरे मत में/ पहले कर्म हुआ करता है
फिर उसकी व्याख्या होती है।"§पृ-118, एक कंठ विषपायी§

इसीलिए वे आगे कहते हैं ---

"मैं ने जो कर्म किया है वह चिंतन प्रसूत है।"
§पृ-119,एक कंठ विषपायी§

आत्मजयी का नचिकेता भी कर्म को ही मानता है। वह कहता है मानव जीवन जो भौतिक विकृतियों से भरा हुआ है, दायित्व बोध के अभाव में और गलत दिशा में प्रवृत्त होता जाता है। चिंतन, संयम, एवं कर्म के प्रति निष्ठा युक्त होने से जीवन को दिव्य रूप दिया जा सकता है---

"चिंताशील/ स्वतन्त्र/ संयमी/
कर्मठ मानव के उपाय से
खनिज परिस्थितियाँ जीवन की
दिव्य रूप हो सकती है।"§पृ-88, आत्मजयी§

इसी प्रकार से संशय की रात के राम जहाँ मानव के निहित श्रेष्ठता को जगाने की इच्छा व्यक्त करते हैं वहीं उनके भाई लक्ष्मण स्वयं को नियति के हाथ का खिलौना न समझकर अपने अस्तित्व की सार्थकता को स्वीकार कर कर्म को ही अपना स्वतत्व स्वीकार करते हैं ---

"कितने ही लघु हो/ इससे क्या/ सार्थक है
स्वत्व है हमारा/ कर्म।" §पृ-19, संशय की रात§

लक्ष्मण की दृष्टि में मानव की सार्थकता (स्वत्व) कर्म में निहित है। इसीलिए वे कहते हैं। संशय की रात में ---

"बन्धु! यह असम्भव है/ कर्म और वर्चस को
छीन सके कोई भी/ जबतक हम जीवित है।"
(पृ-20 संशय की रात)

इसीलिए तो वे पौरुष की कड़ियल अभिव्यक्ति देते हुए कर्म की चुनौती स्वीकारते हैं --

"कर्म की चुनौती/ मुझे स्वीकार है।"(पृ-22, संशय की रात)

डॉ॰ हुकुमचन्द राजपाल "नयी कविता की नाट्यमुखी भूमिका में कहते हैं कि जीवन में वीतरागी या कि प्रज्ञा पुरुष के लिए युद्ध की बातें व्यर्थ लगती हैं। उनकी दृष्टि विशाल तो होती है लेकिन यह दृष्टि ही उन्हें कर्म से हटाकर अकर्मण्य बना देती है। आज जिसकी बांहों में बल है विजय उसकी हो रही है। सत्य इन्हीं को माना जाने लगा है।(29) संशय की रात में छाया के रूप में प्रयुक्त संदेश द्वारा युगीन बोध का अहसास दिलाया है। राम के लिए पितात्मा की ओर से कर्म सम्बंधी मिली प्रेरणा द्रष्टव्य है ---

"किसलिए यह अनासक्ती
कर्म के प्रति कापुरुषता नहीं है यही।"(पृ-56, संशय की रात)

वे आगे कहते हैं कि कर्म एक अग्निचक्र है, जिसे करते ही जाना है।

"कर्म ही गति है
इस अग्निचक्र की।"(पृ-59, संशय की रात)

कभी - कभी लगातार कर्म करते - करते व्यक्ति उकता जाता है। प्रवाद पर्व के राम की भी यही स्थिति है वे चिंतित हो प्रश्नाकुल हो उठते हैं कि क्या मनुष्य का प्रारब्ध यही है कि वह कर्म पर कर्म करता ही चला जाए भले ही कर्म ""---

"धारदार अस्त्र की भाँति/ न केवल देह
बल्कि/ उसके व्यक्तित्व को
रागात्मकताओं को भी काट कर रख दे।"8पृ-19,प्रवाद पर्व8

उनके मन को फिर भी शांति प्राप्त नहीं होती। वे प्रश्नों से जूझते ही रहते हैं---

"क्या इसीलिए मनुष्य
देश और काल की विपरीत चुम्बकताओं में
जीवन भर/ एक प्रत्यंचा सा तना हुआ
कर्म के बाणों को वहन करने के लिए" 8पृ-19,प्र•पर्व8

मानव चाहे किसी भी कोने पर चला जाए वह कर्म करने से नहीं भाग सकता। डॉ•प्रकाश दीक्षित के शब्दों में "मनुष्य का आत्म सम्मान इस बात में है कि वह कोई वस्तु नहीं।"8308 मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरितार्थ करके अपना निर्णय स्वयं करता है।

कर्ममय के इस तटस्थ।/ भागवत - अनुष्ठान से
कोई मुक्ति नहीं / कोई निष्कृति नहीं।।। 8पृ-23, प•पर्व8

मानव को कर्म करते चले जाना है और प्रत्येक कर्म कालातीत होता चला जाता है ---

"यहाँ प्रत्येक कर्म/ क्षण या व्यक्ति
घटित होकर कालातीत हो जाता है।" (पृ-64, संशय की रात)

डॉ॰संतोष कुमार तिवारी के अनुसार समय, रूपी झील के किनारे बैठने से कुछ नहीं होता। उसमें दर्पण की तरह अपना प्रतिबिम्ब छोडना होगा। समय पर अपनी छाप जरूरी है। जो सुख - दुख के ताने - बाने से धूप - छाँह की जिंदगी जीता है। श्रम और उल्लास का आलम उसे अंधेरे से दूर रखता है। नयी पीढी कर्म के द्वारा स्वर्ग द्वार देखती है।" (3।)

तभी तो इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष मानव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि वह अपनी कर्मनिष्ठता से कल्पना के चित्तों को यथार्थ रूप दे और अपनी कर्मनिष्ठता के द्वारा अपने व्यक्तित्व को उभारे ---

"कर्मनिष्ठ, कल्पना के हवाचित्र धरती पै
आँकने का व्रत लेता
--- ---
विमल ज्ञानधारों में भाव-कर्मनिष्ठ के
रुचिवाले रंग भर/ गढ़ निज व्यक्तित्व।" (पृ-47, इ॰पु)

इतिहास पुरुष मानव को दाढ़स दिलाता है कि मानव उसके हर कार्य को निर्णेता मानते हुए कर्म करता चला जाए----

"प्रत्यय - प्रतीतियों का कर्म - कल्पनाओं का
तेरी बस मैं प्रमाण -- (पृ-22॰ इ॰पु)

मानव में प्रेरित होने की शक्ति होती है, दो नक्षत्रों को गगन में कर्म करते हुए देख मानव के मन में भी नयी आशा, कुतूहल, नयी दीप्ति फैल जाती है ---

"देख ज्वलित दो नक्षत्रों को कर्म - गगन में
साथ, नयी उत्सुकता, आशा, नया कुतूहल
नयी दीप्ति फैली जन - मन में ।" ‌(पृ-55 इ॰पु॰)

इसी उमंग और दीप्ति के साथ जब वह अच्छे कर्म करता है तो उसका भविष्य भी प्रकाशमय हो जाता है। तभी तो आत्मदान काव्य में अहल्या कहती है ---

"यह अकलुष प्रकाश था
सत्कर्मों का" (पृ- 44, आत्मदान)

कर्म के दो आयाम हैं पाप और पुण्य यही तो शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं राम से ---

"पाप-पुण्य मनुष्य के ही
कर्म के आयाम "। (पृ-96, शम्बूक)

हर मानव अपने किए का ही भोगता है वह दूसरों के किए का कारण नहीं बन सकता। शम्बूक काव्य में शम्बूक यही पूछते हैं कि उसका शुभ कर्म दूसरे के मार्ग में कैसे बाधक बन गया ---

"भोगते हो जहाँ सब/ अपने किये का ही
सदा अच्छा - बुरा/ परिणाम/ एक का शुभकर्म
क्यों बाधक बने फिर/ दूसरे के मार्ग में, हे राम/
(पृ-71, शम्बूक)

इस पर श्रीराम कहते हैं कि समाज के कुछ ऐसे मानदंड होते है, जिनका निर्वाहन करना हर एक का कर्तव्य बनता है।

"कर्म की जो भी व्यवस्था/ सर्वजन स्वीकार्य
मानना उसका/ किसी भी व्यक्ति को अनिवार्य" (पृ-56, शंबूक)

लेकिन शम्बूक शूद्र होते हुए भी उनके विचार उच्च कोटि के हैं वह कहते है ---

"वर्ण से होगा नहीं अब त्राण
कर्म से ही मनुज का कल्याण
*** ***
कर्म से ही श्रेष्ठता अधिकार
कर्म सबके लिए सम आधार।" (पृ-62, शम्बूक)

जिसके प्रत्युत्तर में श्रीराम कर्म का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि पूर्व जन्मों के किये अनुसार ही जीव मरते - जन्मते हैं और जन्म एक ही नहीं होता, कड़ी से कड़ियाँ पिरोता है --।।

"कर्म का सिद्धान्त शुभ स्वीकार्य
जन्म भी तो कर्म से ही धार्य" (पृ-63, शम्बूक)

इसी बात को लेकर इतिहास पुरुष कहते है ---

"अमर - भूमि यह, घाटी इहिासों की उनके
मर्त्यलोक में महत कर्म के हेतु जो बने।" (पृ-69, इ॰पु)

इस अमर भूमि में हर जाति दूसरी जाति के समान होती है उनमें भेद नहीं होता, भेद मानव ही बनाता है। हर जाति में अच्छे - बुरे कर्म

करनेवाले होते हैं। अतः शम्बूक श्रीराम से प्रश्न करते हैं।---

"क्यों किसी सत्कर्म का / फल नेष्ट हो
जाति कोई क्यों/ किसी से श्रेष्ठ हो
वैश्य, क्षत्रिय/ ब्राह्मणों के कर्म भी
उचित - अनुचित/ धर्म और अधर्म भी।"(पृ-74, शम्बूक)

जब कुछ इंसान स्वार्थ साधना हेतु कार्य करते हैं और कुछ सेवा ही धर्म मानकर करते हैं तो जो सेवा को ही धर्म मानकर कर्म करता है उन्हें तपस्या करने से क्यों रोका जाता है।

"स्वार्थ - साधन/ कुछ जनों का कर्म हो
और सेवा/ दूसरों का धर्म हो।"(पृ- 78, शम्बूक)

इसी सन्दर्भ में शम्बूक कहते हैं कि सीता हरण जब राम का वैयक्तिक कारण था तो रावण - मरण को क्यों उसका कारण बनाया गया ---

"हरण सीता का तुम्हारा व्यक्तिगत कारण
मरण रावण का उसी अपकर्म का कारण।"(पृ-52, शम्बूक)

सीता का त्याग कोई सत्कर्म नहीं था। शम्बूक बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहते हैं कि राजाओं की बात ही निराली होती है ---

"कहेंगे वाल्मीकि / सीता- त्याग है सत्कर्म/
या रहेंगे मौन/ इसको मान राज - अधर्म/"(पृ-61, शंबूक)

लेकिन राम के अनुसार जो विधान हर जाति के लिए समाज ने बनाये हैं। उसको त्याग कर कर्म की सीमा का भंग करना एक राजा की दृष्टि में अपराध है ---

"विधि - विहित / निज कर्म - पथ का त्याग
क्या जड़ता नहीं है? / कर्म- सीमा भंग।
क्या नृप-दृष्टि में जड़ता नहीं है?" [पृ-50, शम्बूक]

राम आगे सुनना नहीं चाहते। वे शम्बूक को शांत हो जाने को कहते हैं। क्योंकि अति किसीके लिए भी अच्छी नहीं है और वे मानते हैं कि सूर्य कुल की कीर्ति का आधार सत्कर्म ही है --

"बस करो शम्बूक/ अति सर्वत्र वर्जित है
सूर्य कुल-की कीर्ति सब/ सत्कर्म अर्जित है।" [पृ-53, शंबूक]

आखिर में शम्बूक का वध कर ही देते हैं राम---

"रक्त से गीली धरा/ पग से कुरेद-कुरेद
सोचते थे राम नत-शिर/ कर्म -फल का भेद" [पृ-46, शंबूक]

उन्हें कर्म करना था जिसे उन्होंने कर दिया। स्वयं सूर्य को कर्म से मुक्ति नहीं तो आखिर मानव को इससे निष्कृति कैसे प्राप्त होगी। प्रवादपर्व के राम अपने ही से प्रश्न करते हैं ---

"कर्म के इस/ अनासक्त/ नासदीस्य रूप से
सूर्यवंशी/ स्वयं सूर्य की भी मुक्ति नहीं/ निष्कृति नहीं।"
[पृ-26, प्र॰पर्व]

राम को साधारण से साधारण से व्यक्ति की तर्जनी पर भी महत्व देनी पड़ी। क्योंकि वे एक राजा थे। लेकिन उनके इस कृत्य पर लक्ष्मण कहते हैं ---

"ध्रुव से ध्रुव तक/ धू - धू करती
यह कर्म की/ कृत्या - "§पृ-25, प्र॰पर्व§

इस कृत्य को लक्ष्मण से देखा नहीं जाता। वे कहते हैं इस कृत्य पर भावी मानवता और इतिहास उन्हें कभी क्षमा नहीं करेंगे---

"भावी मानवता और इतिहास/ अकेले इस कर्म के लिए ही
हमें कभी क्षमा नहीं करेंगे। "§पृ-88, प्र॰पर्व§

अश्वत्थामा भी अर्जुन के कृत्य को देख कर उसे ललकारता हुआ कहता है। अंधायुग में ---

"अर्जुन स्मरण करो अपने/ विगत कर्म" §पृ-74, अंधायुग§

यही स्थिति महाप्रस्थान के युधिष्ठर जो प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी विकल्पी मनवाले कर्मपंगु थे। इसी कारण विनाश में वे भी भागीदारी थे---

"किन्तु युधिष्ठर तो थे।/ प्रज्ञाचक्षु 5
फिर भी विनाश?/ विकल्पी मनवाले वे कर्मपंगु थे।"
§पृ-51, म॰प्र॰§

डॉ॰मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ के अनुसार भविष्य की आशंका में वासना का खुमार पूर्णत: उतर जाने पर अहल्या को अनिष्ट की आशंका होती है। चारों ओर बिच्छुओं से विषैले दंश लहराते दिखायी देते हैं। परन्तु उसे अभी भी किसी प्रकार का पश्चाताप नहीं है।§32§ वह अपने कर्म को पाप नहीं अपनी रुचि और व्यक्तित्व का सत्कार समझती है और इसके लिए वह किसी प्रकार का प्रहार और तिरस्कार सहने के लिए तैयार है- आत्मदान में ---

"नहीं। यह कोई पाप कर्म नहीं
यह व्यक्ति का अपने प्रति/ सर्वोच्च न्याय है।"
(पृ-13, आत्मदान)

अहल्या असंयमशीला के कारण हुई अपनी दुर्गति में उसका कोई साथ नहीं देता - न प्रेमी, न पति। काम के उदात्तीकरण पर वह अपनी भूल पहचान, आत्मान्वेषण करती है --"आत्मदान काव्य में---

"नहीं! यह सुविचारित कर्म नहीं था
*** **** ***
केवल देह तक रुक जाना
नहीं ध्येय मानव का
यह मात्र पशु - तुल्य कर्म है।"(पृ-35, आत्मदान)

अन्त में अहल्या भगवान को साक्षी मानकर उद्धार के रूप में आत्मदान करती है और प्रकृति पुरुषमय बन जाती है।

कर्म से विरत, व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।" अकर्मण्य जीवन की रक्षा नहीं कर सकता" अकर्मण्य जीवन की सार्थकता एवं उसके मूल्यों का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अस्तित्वबोध के द्वारा ही जीवन की अर्थवत्ता एवं सार्थकता प्रतिष्ठित की जा सकती है। अंधायुग में ----

"कर्म से पृथक/ खोता जाता हूँ क्रमश:
अर्थ अपने अस्तित्व का"।। (पृ-127, अंधायुग)

कर्म न करने की स्थिति एक होती है तो दुष्कर्म करने की एक। युधिष्ठिर अंधायुग काव्य में युद्ध जीतने के बाद भी प्रसन्न नहीं होते ,

क्योंकि वे जानते हैं कि किन- किन कर्मों के फलस्वरूप हो वे युद्ध जीत सके हैं इसलिए वे आत्मघात के लिए हिमालय की ओर जाने की सोचते हैं जिसपर विदुर कहते हैं ---

"शिखरों की ऊँचाई/ कर्म की नीचता का
परिहार नहीं करती है/ यह भी आत्मघात है।"

{पृ-117, अंधायुग}

निष्कर्ष:---

कर्म तो अनिवार्य है करना ही पड़ेगा। प्रत्येक मनुष्य के भीतर शक्ति और पूर्ण ज्ञान विद्यमान है। भिन्न - भिन्न कर्म इन महान व्यक्तियों को जागृत करने तथा बाहर प्रकट कर देने के लिए आघात सदृश है। नि:स्वार्थ कर्म द्वारा मानव, जीवन के चरम को प्राप्त कर सकता है।

2.2.2. संशय: दृढ: निर्णय :---

जिस प्रकार हम जन्म और मृत्यु के लिए बाध्य है। उसी प्रकार सृष्टि को परिचालित करनेवाले इस व्यापक नियम के अनुसार विभिन्न, कर्म करने को विवश है। चाहने पर भी इससे हमे मुक्ति नहीं मिल सकती। अत: संशय निर्मूल है। क्योंकि व्यक्ति की इच्छा अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके सामने केवल कर्म करने की अभिव्यक्ति रहती है। वह कर्म का कर्ता होने को बाध्य है। वह स्वयं कुछ नहीं करता। अत: किसी भी काम के परिणाम के लिए उत्तरदायी नहीं संशय विवेक निस्सृत है। जब कर्म पूर्व निर्धारित है, शुभाशुभ विचारकर विवेक कार्यरत नहीं होता, व्यक्ति स्वयं किसी बहतर शक्ति से परिचालित है तो संशयग्रस्त या

परितापित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

संशय जहाँ एक ओर मानवीय पीड़ा का साक्षी है, वहाँ दूसरी ओर मूल रचना की एक अनिवार्य पीठिका प्रस्तुत करता है। संशय अर्द्धव्यक्ति के अधूरे विवेक का और अर्धसत्यानुभूति का परिचायक है। प्रत्येक प्रज्ञावान संशयी होता है। विवेक से परीक्षित, सत्य ही उसे ग्राह्य होता है।

एक समय में घटित अनौचित्य का चिरकालिक प्रतिकार नहीं हो सकता, क्योंकि अगले क्षणों में दूसरे अनौचित्य के घटने की संभावना रहती है। वह युग उसका प्रतिकार करता पर संसार का काम चलता ही रहता है। अत: व्यक्ति संशयात्मक होते हुए भी बहुमत के समक्ष सिर झुका देता है। इस प्रकार व्यक्ति अंतत: संशयी होते हुए भी गतिमान विकास में अपना योगदान देता है।

मानव जितना सोचता जाएगा, जितना विचार करते जाएगा उतने ही प्रश्न उसे घेरते रहेंगे और वह कभी भी निर्णय नहीं ले पायेगा। संशय की रात में दशरथ छाया के रूप में प्रवेश हो कहते हैं ---

> "जितनी गुणात्मकता जानोगे
> उतने ही संशय
> उतने ही प्रश्न तुम्हें घेरेंगे। §पृ-67, संशय की रात§

लेकिन राम को परिणाम का संशय नहीं, नियति का संशय है और वे यह मानते हैं कि संशय निकष है। जिस पर उसके पिता कहते है ---

> "किन्तु संशय स्वयं
> ऋत या सत्य तो नहीं।" § पृ-61, संशय की रात§

राम यह मानते हैं कि उनके व्यक्ति को केवल संशय है और वे जितना सोचते हैं उतना ही उन्हें संशय होता है और वे भटकते हैं---

"किन्तु प्रतिबार/ संशय
अनिश्चित ही/ हमें भटकाता रहा ।"(पृ-5, संशय की रात)

डॉ॰संतोष कुमार तिवारी के अनुसार राम की दुविधा यह है कि उनकी व्यक्तिगत समस्याएँ युद्ध जैसी , ऐतिहासिक कारणों को जन्म क्यों दे, परिजन - पुरजन अभिशाप क्यों भोगे"(33) राम में विद्रोह या कुंठाएँ नहीं है शंकाएँ हैं। उनका शंकाकुल, द्विधाग्रस्त मन कह उठता है---

"दो सत्य, दो संकल्प/ दो-दो आस्थाएँ
व्यक्ति में ही अप्रमाणित/ व्यक्ति पैदा हो रहा है।
(पृ-23, संशय की रात)

लक्ष्मण उनकी इस स्थिति को देख नहीं पाते हैं। जिस संशय का कोई प्रयोजन नहीं है। उसकेलिए राम क्यों परिताप करें। वे कहते हैं ---

"तब इस संशय का / क्या है प्रयोजन
देव! क्यों है परिताप/ और अनुताप किसलिए?"
(पृ-16, संशय की रात)

लक्ष्मण यह अनुभव करते हैं कि संशय और अनिश्चय के कारण राम का जीवन निस्सार हो गया है। वे कहते हैं -- जब से उन्होंने विश्वास किया है। तब से उनको एकान्तवास ही प्रिय लगने लगा है और "---

"तब से यह संशय भी/ अनिश्चय भी मेरे हैं
सम्भव है/ लगता हो जीवन ही निस्सार।"
(पृ-16, संशय की रात)

अंत में जब राम संशयाग्नि में तप रहे होते हैं तो वे प्रकृति से कहते हैं कि उनको देवजलों से भीगने दे, जिससे कि उनके अन्तस् में संशयाग्नि का जो सर्पवृक्ष पनप रहा है वह समाप्त हो जाए। डॉ॰शिवप्रसाद गोयल के अनुसार राम की संशयानुप्रेरित मनस्थिति का यह बिम्ब जिसमें "हरहरा" और "पीपलसा के प्रयोग से राम की संशयग्रस्त मनोभावना को प्रस्तुत किया गया है।§34§

"एक/ अनुत्तरित संशय का सर्पवृक्ष
हरहरा रहा मुझमें/ पीपलसा/ अहोरात्र"
§पृ-38,संशय की रात§

राम के इस संशय को बड़े ही सुंदर ढंग से प्रतिपादित किया है, नरेश मेहता ने संशय की रात में कि संशय अकेले व्यक्ति का होता है तो काम समूह का होता है ---

"जब काम नहीं होता/तो संशय किया करते हैं
काम, सामूहिक अन्धता है और/
संशय, वैयक्तिक अन्धता है"।§पृ-92, संशय की रात§

राम अपने आप को सौंपने से पहले अपने अधूरे मन से प्रश्न करते हैं उन बहरे प्रश्नों का क्या होगा जो अब तक उनके मन को आन्दोलित कर रहे थे---

"ओ मेरे आधे व्यक्तित्व के/ अधूरे मन!
इन गूँगे संशयों/ अधूरी शंकाओं
बहरे प्रश्नों का क्या होगा?
मेरी अस्वीकृता स्वीकृति का क्या होगा।
§पृ-97, संशय की रात§

इसी प्रकार आत्मजयी काव्य में व्यक्ति के इस संशय को अभिव्यक्ति मिली है। नचिकेता को अपने बारे में ही नहीं। जीवन के बारे में, ईश्वर के बारे में, मृत्यु के बारे में भी संशय है। काव्य की अन्तिम पंक्तियाँ ---

"चौंक .... चौंककर पूछता रहा हूँ
जीवन क्या है/ मृत्यु क्यों
मुक्ति कैसे/ ईश्वर कहाँ? (पृ-118, आत्मजयी)

नचिकेता के लिए आत्मा एक ऐसा गगनस्थल है, जिसपर एक नहीं अनेकों रेखाएँ खींच जाती हैं और वे निश्चित नहीं होती। इसलिए वे छोटी - बड़ी, या कहीं से शुरू कहीं खतम हो जाती है --- जैसे कि वह कह रही हो ----

"मानो हम सिद्ध नहीं -"संशय है।" (पृ-29, संशय की रात)

नचिकेता अपने संशयित मन से त्राण पाना चाहते हैं "तभी तो वे मन को सागर की विशाल लहरों में खो देना चाहते है

"इस संशयित जीवन -निष्ठा को अनष्ट
वनों वीरानों से होकर
सागर की विशालता तक बह जाने दो।" (पृ-51,आत्मजयी)

धृतराष्ट्र और माता गांधारी का मन भी संशयित है वे यह जानना चाहते हैं कि उस दिन के युद्ध में कौन जीता कौन हारा। विदुर उन्हें आश्वस्त करते हैं कि संजय जो भी समाचार लायेगा वह शुभ होगा। इस तरह से उनके संशय को अस्थायी रूप से कम करने का प्रयास करते है ---

"महाराज। संशय मत करें।
संजय जो समाचार लायेंगे शुभ होगा।"﴾पृ-28, अंधायुग﴿

लेकिन प्रवाद पर्व के राम चाहे कितना भी अपने मन को समझाना चाहे उनके मन को संशय होता है।

"यदि मैं मात्र कर्म हूँ/ तो यह कर्म का संशय है
यदि मैं मात्र क्षण हूँ/ तो यह क्षण का संशय है
यदि मैं मात्र घटना हूँ/ तो यह घटना का संशय है।
﴾पृ-63, संशय की रात﴿

संशय के इस क्षण में नचिकेता के मन में यह प्रश्न उठता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि जिसे उसने अपने पिता का श्राप समझा था "मृत्यवे त्वा ददामि" वह पिता ने कभी दिया ही न हो, बल्कि वह केवल नचिकेता के मन की एक भयावह कल्पना रही हो ---

"पागलपन में अपने ही को दे डाला हो
कोई विनाश का कठिन शाप
मानव होकर मानव के ही विरुद्ध मैं ने
कर डाला हो कोई जघन्य अक्षम्य पाप?﴾पृ-78,आत्मजयी﴿

संशय एक ऐसा महान पथ माना गया है, जिस पर हर व्यक्ति आरूढ हो अपनी यात्रा पूरी करता है - संशय की रात में दशरथ समझाते राम को ---

"अन्धे सैन्धवों वाला/ संशय
स्वर्ण का रथ है/ पाशित विवश हम/आरूढ़
कशाघातित अश्व/ अनामी यात्रा-/ राघव।
हर प्रज्ञावान शंकाशील/ इसी यात्रा पर चला है।"
﴾पृ-91, संशय की रात﴿

अहल्या आत्मदान काव्य में संशय के पूर्व और उपरांत की स्थिति को स्पष्ट करती है ---

"संशयमूलक ज्ञान-तर्क/ बुद्धि के सम-बल है
पहले जगता है संशय/ फिर प्रकट ज्ञान
फिर तर्क वितर्कोपरांत/ आत्मबोध जगता है।
फिर व्यक्ति होता मुक्त " (पृ-41, आत्मदान)

आखिरकार राम का संशय समाप्त होता है, जैसे गाढ़ अंधेरे के बाद सूर्योदय होता है उसी प्रकार से उनका मन भी संशय से गुजरकर निर्णय की ओर बढ़ता है। वे कहते हैं ---

"संशय की बेला अब नहीं रही/ अंतरीप जल में
सूर्योदय साक्षी है।/ संशय की बेला अब नहीं रही।
(पृ-108, संशय की रात)

मानव का जन्म और मृत्यु पर ही नियंत्रण नहीं है तब संशय और शंका के ये प्रश्नों का कोई अर्थ नहीं होता। राम के पिता छाया के रूप में राम से कहते हैं ---

"जब हमारा नियन्त्रण/ अपने जन्म और अवसान पर ही नहीं
तब/ स्वत्व और व्यक्तित्व के ये प्रश्न
शंका और संशय/ थोथे / या कि हास्यास्पद नहीं हैं
स्वयं को छलना नहीं है? (पृ-21, संशय की रात)

द्वन्द्व :---

द्वन्द्व एक मानसिक संघर्ष है। वैज्ञानिक सृष्टि के निर्माता है इतिहास पुरुष। इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष के अनुसार हर वस्तु में द्वन्द्व चलता है। सत्य-असत्य, अंधेरे - प्रकाश में भी जो मुझ से ही निसृत होता है।

"आदिपुरुष मुझसे ही रज-तम के द्वन्द्व निसृत
सत विश्व की साधनाएँ"§पृ-26, इ·पु§

इसलिए संशय की रात के राम को अंदर का यह द्वन्द्व का स्वर अपरिचित लगता है। वे लक्ष्मण से कहते हैं----

"द्वन्द्व का यह स्वर
अपरिचित लग रहा होगा/ लक्ष्मण।" §पृ-30 संशय की रात§

इसीप्रकार से एककंठ विषपायी काव्य में शंकर की स्थिति को देख कुबेर कहते हैं कि न जाने कब शंकर का यह द्वन्द्व किसी संघातक प्रहार में बदल जायें क्योंकि उनके मन का कोलाहल अभी शांत नहीं हुआ।

"उनके अन्तर में द्वन्द्व
और मन के कोलाहल का
अभी शमन नहीं हुआ।"§पृ-58, एक कंठ विषपायी§

यही स्थिति संशय की रात के राम की है। उनका व्यक्तित्व जिस प्रश्नाकुल स्थिति और विकल्प से उत्पन्न संकट के बिन्दु पर आ गया है। वह एक आधुनिक व्यक्ति का संत्रस्त और विकल्पित स्थिति का ही आलेख है। "क्या हो क्या न हो" का प्रश्न राम के मानस को उद्विग्न करता दिखायी देता है। उनके प्रारम्भिक स्वरूप में ही संकट का बोध है। निर्णय - अनिर्णय का द्वन्द्व है---

"क्या हो/ क्या न हो के प्रश्न ने
थका डाली मुट्ठियाँ ।" §पृ-9, संशय की रात§

ये द्वन्द्व विचार मानव के दुहरे व्यक्तित्व पर इस तरह से छाये हुए हैं कि वे तटस्थ बन गए हैं ----

"द्वन्द्व पीड़ित कितने विचार
दुहरे व्यक्तित्वों पर छाये हुए अपस्मार"। (पृ-38, कल्पांतर)

यही कारण है कि वन्या कहती है गुप्तवधिक से कि वे यहाँ से भाग जाएँ। क्योंकि विज्ञान मानव में द्वन्द्व पैदा कर उसकी सुंदर दुनिया का अखाड़ा बना रहा है----

"अपनी इस शांतिकामिनी सुंदर दुनिया को
बनने देंगे न अखाड़ा हम-ह
दोनों की क्रूर द्वंद्विता का" (पृ-106, कल्पांतर)

वानर से नर तक आते-आते मानव में कितने ही द्वन्द्व उठे होंगे वह उन सबको पार करता हुआ शिवत्व की ओर झुकता है जितना वह आगे बढ़ता है उतना ही उसका अस्तित्व निखरता है। उसमें कल्पांतर होता है---

"अधो जंतु से महत भाव के
द्वन्द्वों में बीते मन्वंतर
जितना हुआ श्रेष्ठतर मानव
उतने हुए नये कल्पांतर" (पृ-19, कल्पांतर)

और इसीलिए इतिहास पुरुष कहता है मानव से कि मम-तव की भावना से दूर हो मुक्त मन से एक दूसरे के मित्र बने और गुलाब के फूल की तरह वह भी दोस्ती की सुगन्ध फैला दे---

"मम"तव की भावना से असम्पृक्त, मुक्तमन
बन तू निर्द्वन्द्व मीत
भोले गुलाब जैसे खिल हंस ले चन्द रोज़
दे जग को गन्ध मीत"। (पृ-43, इ॰पु॰)

फलस्वरूप यह निर्द्वन्द्व की स्थिति हमें सीता में दिखायी देती है। इसीलिए "क्लिओपेट्रा का पत्र सीता के नाम " में क्लिओपेट्रा कहती है कि वह सम्राज्ञी सभी राग-द्वेषों से मुक्त हो तटस्थ हो दीप-शिखा बन गई है---

"वह सम्राज्ञी अब तटस्थ दर्शिका बन गयी,
मुक्त भोगिनी, राग - द्वेष - द्वन्द्वों से निष्कृत
बोधदीप की शिखा बन गयी।" ‹पृ-62,इ·पु›

नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के दृष्टिकोण में द्वन्द्व को आत्मजयी काव्य में नचिकेता और वाजश्रवा के बीच दिखाया गया है ---

"तुम भी एक प्राणी हो/ सबकी तरह समय के बने
जिसे सिंहासन एक भूमिका देता/ मुकुट एक शीर्षक
सेना एक कर्तव्य/ स्वरक्षा एक धर्म
पर ये सब तुम्हें इस तरह हर लेते हैं।
कि तुम्हें पहचानना कठिन हो जाता है।" ‹पृ-19,आत्मजयी›

यही अन्तर्द्वन्द्व हमें चरम रूप में अश्वत्थामा में दिखायी देता है। जो संहारक के रूप में प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देते हैं। बूढ़े याचक को मार कर वे कृपाचार्य से कहते हैं ---

"मैने नहीं मारा उसे
मैं तो चाहता था वध करना भविष्य का
पता नहीं कैसे वह/ बूढ़ा मारा पाया गया
मैने नहीं मारा उसे/ मातुल विश्वास करो।" ‹पृ-47,अंधायुग›

आज का मनुष्य क्या करणीय है। अथवा क्या अकरणीय है के द्वन्द्व से ग्रसित है । ऐसा तभी होता है, जब मनुष्य अपनी वास्तविकता से विलग हो यांत्रिक बनने लगता है। इसीके कारण आज के मानव में अनिर्णय का भाव है, वह स्वयं को खण्डित एवं लघु मानने लगता है। अनास्था, अविश्वास, भ्रम, संशय में भटक रहा है मानव। इसीलिए विभीषण भी प्रज्ञापुरुष के अनिर्णित भाव से स्वयं को समायोजित करता है ---

"द्वन्द्व / मुझमें भी कहीं पर है

*** *** ***

मुझमें भी अनिर्णय है। "\[पृ"85, संशय की रात\]

भाद्रपद के शाम का समय ऐसा होता है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि यह शाम है या रात है।"इस पर निर्णय लेना मुश्किल होता है। राम की मनस्थिति भी कुछ ऐसी ही है, इसलिए वे प्रकृति से पूछते हैं----- "ठीक ऐसा ही विरोधाभास

आो अनिर्णय की भाद्रपद सांझ

मुझ में भी कहीं पर है।"\[पृ-26 संशय की रात\]

वही राम "प्रवाद पर्व" की स्थिति में भी अनिर्णय की स्थिति में हैं वे यह निर्णय नहीं ले पाते कि उन्हें क्या करना है ---

"नहीं जानता कि

पौराणिक उपाख्यान बनना श्रेयस् होगा

अथवा ऐतिहासिक तारीखें।" \[पृ-70 प्र•पर्व\]

आत्मदान की अहल्या को भी अपने पति के अनिर्णय की स्थिति को देख कर दुख होता है वह कहता है ---

"अंजुरि से रिसता जाए जल

और पूजा अनिर्णय में बंदी हो।"(पृ-4, आत्मदान)

लेकिन अब राम अनिर्णय की स्थिति से निर्णय की स्थिति में पहुँचते हैं। यह निर्णय विकल्प के बाद का निर्णय है और वह विकल्प ही महत्वपूर्ण है क्योंकि वही राम सही रूप में है जिन्होंने यह कहा था--

"मुझे ऐसी जय नहीं चाहिए।
बाणविद्ध पाखी सा विवश
साम्राज्य नहीं चाहिए
मानव के रक्त पर पग धरती आती
सीता भी नहीं चाहिए।सीता भी नहीं।"(पृ-40,संशय की रात)

आखिरकार उनकी इस मनस्थिति में परिवर्तन आता है-जो विचारों में था उसे अब क्रिया का रूप देना है ---

"क्या हो/ क्या न हो की
सीमाएँ शेष हुई
अब मैं निर्णय हूँ।" (पृ-107, संशय की रात)

राजा होने के नाते श्रीराम को वैयक्तिक लाभ से ज्यादा सामूहिक लाभ को दृष्टि से रखकर निर्णय लेना पड़ता है। सम्भवत: ये शब्द इसी कारण कहे गए हों -----

"निर्णय हूँ सबका/ सबके लिए
केवल अपने ही लिए सम्भवत: नहीं
नहीं।" (पृ-108, संशय की रात)

यही नहीं विज्ञान भी मानव के हर निर्णय को समिष्टगत निर्णय कहकर मानव का दुरुपयोग कर रहा है।

"हर निर्णय को/इतिहासों की पूर्व नियति, निश्चय बतलाकर
लौह नियंत्रण के . पदों में/ मार हथौड़ों की चोटों से
ठोकी जाती है समष्टि की मूर्ति भयावह।।"
(पृ-34, कल्पांतर)

आखिरकार राम का निर्णय अनेक ऊहापोहों के बाद का निर्णय है। वे संशयों के बाद, अधूरे मन और अधूरे व्यक्तित्व से ही युद्ध को स्वीकारते हैं। मानव विभूति की चिन्ता उन्हें इस हद तक पीड़ित किए हुए हैं। यही कारण है कि राम निर्णय के बाद भी शांति का अनुभव नहीं करते और भारी युद्ध का मानचित्र उनके मानस में पहले ही साकार हो उठता है।

"मध्यरात्रि के इस निर्णय से/ जाने कितने सूर्य
आज ही/ कल के लिए मर चुके।।" (पृ-101, संशय की रात)

इसी प्रकार युधिष्ठिर का निर्णय भी वर्षों के उनके वैचारिक मन्थन के बाद का ही था ---

"वर्षों के वैचारिक मन्थन के बाद ही
मैंने वह निर्णय लिया था बन्धु" (पृ-107, म॰प्र॰)

लेकिन इसके विपरीत एक कंठ विषपायी में इंद्र क्षण में निर्णय लेते हैं। क्योंकि इस निर्णय के पीछे उनका व्यक्तिगत स्वार्थ छिपा था। सर्वहत उनसे प्रश्न करते हैं ---

"रण का निर्णय लेते समय
बताओ तुमने क्या सोचा था।"

और जब अनुचर को स्थिति संभालने के लिए तत्क्षण निर्णय लेना पड़ता है तो उसके लिए यह एक बहुत बड़ी बात होती है। वह कहता है एक कंठ विषपायी काव्य में----

"प्रभु के आदेश बिना/बहुत बड़ा निर्णय लिया था।"
(पृ- 4 , एक कंठ विषपायी)

यह आवश्यक नहीं होता कि हर बार लिया गया वैयक्तिक निर्णय सही हो, शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं ---

"व्यक्तिगत निर्णय/ सभी को मान्य हो हर बार
क्या यही होगा/ तुम्हारी नीति का व्यवहार"
(पृ-60, शम्बूक)

इसलिए एक कंठ विषपायी की वीरिणी कहती है कि वे अपने इस निर्णय पर एक बार फिर सोच लें क्योंकि शंकर उनके जामाता हैं और शंकर का अपमान उनकी अपनी आत्मभर्त्सना होगी---

"अपने इस निर्णय पर/ फिर सोचें नाथ" (पृ-31,एक कंठ विषपायी)

क्योंकि निर्णय :. लेने से पहले व्यक्ति को उसकी यथार्थता पर अधिक ध्यान देना चाहिए। तभी उसका निर्णय सही निर्णय होगा। प्रवाद पर्व के लक्ष्मण कहते हैं ----

"एक सामान्य जन की/ अनुत्तरदायित्व और विद्वेषपूर्ण
शंका तथा/ राष्ट्र की शीर्षतम नारी की चरित्र गरिमा
को/ प्रतिसम्मुख रखकर/ अपना निर्णय दें" (पृ-74,प्र॰पर्व)

लेकिन एक कंठ विषपायी के महादेव भी यह मानने को तैयार नहीं जिस भाषा में उनसे प्रश्न किया गया था वे उसी भाषा में उत्तर देना चाहते हैं। पीड़ा और क्षुब्धता के क्षणों में उनमें प्रतिशोध की भावना संचारित होने लगती है और वे इस निर्णय पर पहुँचते हैं---

"जिस भाषा में/ मिला मुझे यह प्रश्न भयंकर
मुझे उसी भाषा में/ देना होगा उत्तर"।।
§पृ-72, एक कंठ विषपायी§

अंधायुग के अश्वत्थामा भी यही करते हैं। अपने पिता की पांडवों द्वारा हत्या किये जाने के कारण वे उन्हें उसी भाषा में उत्तर देने के लिए उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं।

"यह अचूक अस्त्र अश्वत्थामा का
निश्चित गिरे जाकर
उत्तरा के गर्भ पर
वापस नहीं होगा।" §पृ-76, अंधायुग§

और इस तरह से एक कंठ विषपायी के दक्ष भी अपने निर्णय पर ही अटल हैं----

"मेरा दृढ निश्चय है/ मेरे आयोजन में
शंकर का कोई स्थान नहीं होगा।"पृ-32,एक कंठ विषपायी§

कभी - कभी मानव को कितना कठोर होकर निर्णय लेना पड़ता है। विशेष रूप से जब वे शासक हो और व्यक्तिगत ही नहीं राष्ट्र की भी चिंता रहती है तभी तो उन्हें यह कठोर निर्णय लेना पड़ता है।

"यज्ञ के चस्मात्र सी पवित्र तथा/ मांगलिक सीता को।
लक्ष्मण/ तुम्हारी राज्य सीमा पर/ तुम्हारे ऐतिहासिक
निर्णय के/ प्रतीक स्वरूप/ काग-ग्रास सा रख आयेंगे।"
(पृ-108, प्र.पर्व)

जो व्यक्ति इतना कठोर निर्णय लेता है उसे साधारण जन से क्षोभ प्राप्त होता ही है। अंधायुग के युयुत्सु भी अपनी अलग सी परिपाटी रखते हैं। फलस्वरूप उन्हें साधारण जन से अपनापन और प्यार नहीं मिलता जिसपर विदुर कहते हैं----

"यह तो मिलता ही सदा उन्हें/ जो एक निश्चित परिपाटी
से होकर पृथक/ अपना पथ अपने आप/ निर्धारित करते हैं।"
(पृ- 57, अंधायुग)

जिस प्रकार से युयुत्सु अपना निर्णय खुद लेते हैं। उसी प्रकार इतिहास पुरुष काव्य में नूरजहाँ कहती हैं शहन्शाह से कि दास के कृत्यों पर

"....... खुद ही सोचें, समझें, निर्णय करें।" (पृ-80. इ.पु.)

मानव के निर्णय पर ही नियति बदलती है। अंधायुग में याचक कहता है ---

"नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव निर्णय बनाता-मिटाता है।
(पृ-26, अंधायुग)

वही व्यक्ति सही निर्णय लेता है, जो निर्वेद की भूमि पर खड़ा होता है। आसक्ति से या पक्षधर बनकर किसी के भाग्य का निर्णय नहीं

किया जा सकता। प्रवाद पर्व में राम कहते हैं ---

"किसी के भाग्य का निर्णय
आसक्त या पक्षधर बनकर नहीं
बल्कि/ निर्वेद की भूमि पर खड़े होकर ही किया जा सकता है।
{पृ-53• प्र•पर्व}

निष्कर्ष:--

हर मानव अपने जीवन में कभी - कभी संशय और द्वन्द्व का अनुभव अवश्य करता है। लेकिन वही अस्तित्ववादी व्यक्ति होगा, जो इनमें से उभरते हुए सही निर्णय लेता है।

2•2•3• संघर्ष:--

वर्तमान विघटन और विद्रूपता से घिरे हुए परिवेश में सार्थक मानवीय अस्तित्व संभव नहीं है, मानवीय अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष अनिवार्य है।

जिस प्रकार से प्रत्येक मानव के लिए उसका अपना अस्तित्व प्रमुख होता है। उसी प्रकार से एक राजा के लिए उसके राज्य का अस्तित्व महत्व रखता है। और उस राज्य पर आये प्रत्येक संकट को दूर करने के लिए वे संघर्ष करते हैं----

". लोमपाद भूपति के विस्तृत राज्य में
हुआ एक बार
अनावृष्टि का कोप --------
******* ******
अनिष्ठ यह सिर पर कैसे टल सके? संकट संघर्ष। {पृ-5। •इ•पृ}

और इस संकट को दूर करने के लिए संघर्ष प्रारंभ होता है। इतिहास पुरुष काव्य में ----

"खोजी संघर्षनिरत
नाप-जोख द्रव्यों की गतियों-प्रकृतियों को
तत्वों की जाँच कर।" §पृ-21, इ॰पु॰§

यह संघर्ष आज भी है और यह चलता ही रहेगा। जब तक मानव धरती पर है। लेकिन मानव को इसमें से गुजरना है2 तभी वह अस्तित्ववादी कहलायेगा---

"मनुज असुर का
अब भी है संघर्ष चल रहा
*** ***
पद्धतियों के खूनी संघर्षों का
बादल घिर आया है। "§पृ-31, कल्पांतर§

संशय की रात के राम को यह संघर्ष एक अग्निचक्र के रूप में प्रतीत होता है, जो कभी खत्म नहीं होता, समाप्त नहीं होता --- यही वे हनुमान से कहते हैं----

"फिर संघर्ष/ फिर संहार
इस ऐतिहासिक विषमता का/ कौन सा प्रतिकार!
§पृ-80, संशय की रात§

व्यक्ति तब निराश हो जाता है, जब उसके उद्यम व्यर्थ हो जाते हैं और एक नया संघर्ष उसके सामने मुख खोलकर खड़ा हो रहा हो -

"मानवीय उद्यम की व्यर्थता/जब आपके सामने
फिर नया संघर्ष खोल दें/ तब आप क्या करेंगे?
कोई क्या करेगा। सीता?"§ पृ-51, प्र॰पर्व§

यही प्रश्न इतिहास पुरुष करता है कि क्या मानव के लिए कहीं मंजिल है जहाँ पर मानव बिना किसी संघर्ष के शांत रहे--

"पूछती कहती है पन्थ! मंजिल, व दृश्य चरम
रम रहता चित्त जहाँ"

***　　　　****

जीवन का क्रम शाश्वत
खोजी, संघर्ष निरत।" (पृ-21, इ॰पु)

लेकिन आत्मदान काव्य में अहल्या कहती है कि भविष्य उनका ही बनता है, जो जीवन के स्वार्थी संघर्षों से ऊपर उठते हैं ---

"भविष्य उनका/ जो जीवन के स्वार्थों संघर्षों से
ऊपर उठकर दुर्निवार/ कूदता है महासमर में।"(पृ-38,आत्मदान)

जिस प्रकार मानव असत्य से सत्य की ओर, तम से रज तक बढ़ने के लिए संघर्ष करता है। उसी प्रकार से कल्पांतर काव्य में भी यह बताया गया है। कि हर युग में अंधकार से ज्योति तक आने के लिए हर युग में संघर्ष होता है ---

"आज सुनते हैं हम गाथा कोटि युगों की
अंधकार से महा ज्योति के संघर्षों की।"(पृ-17, कल्पांतर)

कितने ही युग बीत गये हैं। एक पर्दे के रूप में हमारी आखों के सामने हर युग में हुए लूटपार, मारकाट, संघर्ष यह सब एंक दृश्य के रूप में बीत गये हैं ---

"मारकाट, लूटपाट, धक्कों, संघर्षों के/हाँफते हुए ये दृश्य
निकल गये पड़े हुए पर्दे के सामने।।"　　　(पृ-25,कल्पांतर)

आत्मजयी पिता-पुत्र के संघर्ष की कहानी है। अपने पिता वाजश्रवा की लौकिक स्थिति के कारण नचिकेता अपार समृद्धि का उत्तराधिकारी हो सकता था। लेकिन पुत्र इस लौकिक सुख के पक्ष में नहीं था, इस प्रकार पिता-पुत्र का संघर्ष दो मान्यताओं का संघर्ष बन जाता है। तभी तो नचिकेता कहता है----

"बाहर नहीं है संघर्ष यह/ द्वन्द्व, प्रतिद्वन्द्व
घात, प्रतिघात/ कहीं अंदर है। §पृ-28,आत्मजयी§

निष्कर्ष:---

यदि स्वर्ग के लिए कोई मार्ग हो तो वह नरक में से होकर ही जाता है। उसी प्रकार संघर्ष में से होकर ही मानव सार्थकता पाता है।

2·2·4· संकल्प :---

अस्तित्ववाद में मानव के संकल्प पर बहुत अधिक जोर दिया गया है क्योंकि हर कार्य संकल्पचित्त होकर करने पर ही पूरा होता है।

अस्तित्ववादी मानव अपने संकल्प को पूरा करने के लिए कितनी ही कठिनाइयों का सामना करता है। लेकिन हार नहीं मानता। यही स्थिति शम्बूक काव्य में शम्बूक की है---

"ऊपर उठ सकने के /मेरे संकल्प पर
करती रही बार-बार/ दुर्वह तीखें प्रहार
पर मैंने उसके आगे/ मानी नहीं हार
§पृ-86, शम्बूक§

इसी प्रकार की भावना कल्पांतर काव्य में देखी गई है, जहाँ पृथ्वी के अस्तित्व को मिटाए जाने के प्रयास पर पृथ्वीजन कह उठते हैं--

"अपने संकल्पों से हम कभी नहीं डिग सकते
मानवी स्वतंत्रता गरिमा समाता से कभी
पीछे नहीं हट सकते। "§ पृ-105, कल्पांतर§

जाने क्यों शम्बूक का मन व्यक्ति के चरित्र को। मानव के भविष्य को नये संदर्भों में समझने के लिए कृत संकल्पित है ---

"जाने क्यों मेरे मन में/ युग- युग से परिभाषित
व्यक्ति के चरित्र को/ मानव के भविष्य को
नये संदर्भों में/ जानने समझने में/ उपजा संकल्प है।"पृ-84,शम्बूक§

एक ओर शम्बूक नये संदर्भों में मानव को समझना चाहता है तो दूसरी ओर शम्बूक का वध करने के लिए संकल्पचित्र हो राम आगे बढते हैं और उनका यान भी उनके संकल्प के अनुसार आगे बढता है---

"हुई उसकी गति नियंत्रित/ले मनस् आधार
यान चला राम के/ संकल्प के अनुसार।।"§पृ-16,शम्बूक§

महाप्रस्थान काव्य में पांडवों के स्वाहा होने के बाद अब उनके पास केवल अपना संकल्प और श्वान रह गये थे, जिसके सहारे वे आगे बढ रहे थे।

"जीर्ण - शीर्ण संकल्प दण्ड
कांपते हाथों से टेक - टेक कर
वृद्ध युधिष्ठिर से आहत वेष्टित।"§पृ-45, महाप्रस्थान§

जो संकल्पचित्त हो उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अशरीरी ब्रह्म, जिसमें न तो धड़कने उठती हैं और न ही वहाँ चितवनें विलास करती हैं। इतिहास पुरुष कहते हैं कि मानव ऐसे ब्रह्म की शरण में जाए जिसे सूरज की किरणें और मोहक विकल्प चंचल नहीं करते--

"रुक्म रागसूरज की किरनकूचियाँ जिसका
रंगती न भावपटल
मोहक विकल्प, स्वच्छ शोभन संकल्प जिसे
करते नहीं चंचल।।" (पृ-9, इ॰पु॰)

शक्तिहीन पुरुष भी अगर कुछ करने का संकल्प ले ले तो शत्रु भी उसके कार्य को विफल नहीं कर पायेंगे।

"तरुण चित्त, बारीक बुद्धि, संकल्प ध्रुव बड़े
ऊँचे सपने/ और शत्रु सब ओर वे खड़े। "(पृ-65, इ॰पु॰)

अपने आप को महान अस्तित्व बनाने के लिए हमें उन महान वीरों की कीर्ति को, आदर्शों को, उनके संकल्पों को ध्यान में रखना पड़ेगा तभी हमारा अस्तित्व भी एक उज्जवल रूप ले सकेगा---

"वीरों के कीर्तिवृत्त घृत-ज्यों संकल्पों की
उर्ध्वग लौ करें इद्ध " (पृ-25, इ॰पु॰)

और ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो अपने संकल्प से विचल जाते हैं। यही स्थिति इतिहास पुरुष काव्य में "सिपाही की है। जिसे नूरजहाँ को बंदी बनाकर लाने का कार्य सौंपा गया था, पर वही नूरजहाँ की सुंदरता पर मोहित हो गया---

"अफ़सोस कि वह सिपाही जो खंजर से लैस
मेरे खेमें में घुसा था
अपने संकल्प से विचल गया।"(पृ-81, इ॰पु॰)

किन्ही परिस्थितियों में सिपाही का मन तो मचल गया।लेकिन मानव को वासनाओं में नहीं घिरना है। उसे अपने संकल्प को प्रबल बनाना है। यही शम्बूक काव्य में "शम्बूक" कहते हैं ---

"द्रुमों से उलझी/ कुसुम रंजित लताएँ
हर प्रबल संकल्प को/ घेरे हुए ज्यों वासनाएँ"।(पृ-37,शंबूक)

व्यक्ति जबतक अपना कार्य सिद्ध नहीं करता तब तक उसे निश्चिंत नहीं होना चाहिए। उसे अपनी यात्रा में पड़ाव नहीं डालना चाहिए, महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठिर जब अपनी यात्रा में चलते - चलते बैठ जाते हैं तो उनका मन कहता है ---

"चलो यहाँ से धर्मराज/ यह पडाव है नहीं
तुम्हारी संकल्पी यात्रा का"।(पृ-38, म॰प्र॰)

अब युधिष्ठिर के पास रह ही क्या गया है संकल्प के सिवा। अठ्ठारह दिनों के महासंग्राम के बाद ---

"अब केवल संकल्प छोड़कर/ पाण्डवदल के पास
नहीं कुछ अन्य सम्पदा/मृत्युलोक की।"(पृ-38,म॰प्र॰

इसीलिए युधिष्ठिर समझाते हैं द्रौपदी को की केवल मन। अंतस ही दण्डवत करता है, इसलिए अन्य ग्रन्थियों से शिव संकल्प ग्रन्थि अच्छा है, जिसका संकल्प करने पर ही मानव कष्टप्रद रास्तों पर भी आगे बढता है--"जब हिमपथ" धर्मपथ में परिणत हो जाता है तो ---

"हाथों के ये काष्ठ दण्ड नहीं
बल्कि अन्तस का
संकल्प दण्ड ही वहन कर सकता है।" (पृ-74, म०प्र०)

इसलिए युधिष्ठिर समझाते हैं कि द्रौपदी को जिन्हें अभी भी संसार की मोह माया खींच रही है। उस संसार को भूल जाने को कहते हैं, कभी नहीं लौटेगा---

"इस संसार में
जिसका हम संकल्प छोड़ चुके।" (पृ-78, म०प्र०)

लेकिन द्रौपदी की स्थिति यह है कि वह चाह कर भी आगे बढ़ नहीं पा रही । क्योंकि हिम जैसे उसको पाषाण बना देने के लिए कृत संकल्पित हो उसे आगे बढ़ने नहीं देता ---

"हिम का यह ठण्डा पाश/ प्रतिक्षण
अपने जैसा ही मुझे पाषाण कर देने पर / कृत संकल्प है।"
(पृ-83, म०प्र०)

और आखिरकार द्रौपदी अन्तिम संकल्प लेती है कि वे अपने इस मन के अंधकार को सदा के लिए मूंदकर उसे अंधकार में फेंक देगी चूंकि तर्क और मोह से मनुष्य धर्मपथ तक नहीं बढ़ सकता लेकिन इससे पहले ही हिम पाषाण हो उन्हें ढाह जाती है --

"अन्य संकल्पों की भांति/ यह अंतिम संकल्प भी
व्यर्थ गया------ " (पृ-84, म०प्र०)

और वह पार्थ को पुकारती है सहायता के लिए लेकिन अर्जुन गाण्डीव के होते हुए भी अपने आप को असमर्थ पाते हैं। इसलिए वे

अपने पुरुषार्थ और संकल्प से प्रश्न करते हैं कि क्या इनकी कोई मान्यता है---

"पुरुषार्थ और संकल्प/ क्या सच ही कुछ होते हैं?
{पृ-102, म॰प्र}

और अर्जुन जब अपने भाई नकुल और सहदेव जो पाण्डवता के स्वरूप और ज्ञान है उनकी सहायता करने में भी असमर्थ हो जाते हैं ,तो उनकी व्यथा इन शब्दों में व्यक्त होती हैं --

"व्यक्ति के पुरुषार्थ और संकल्प का
तब कोई अर्थ नहीं।"{ पृ-101, म॰प्र॰}

और इसके प्रत्युत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं---

"वस्तुओं और सफलताओं के माध्यम से
अमरता प्राप्त करने को ही तो
तुम पुरुषार्थ और संकल्प कहते हो?" {पृ-106,म॰प्र}

यही प्रश्न कनुप्रिया काव्य में कनुप्रिया प्रश्न करती है कनु से कि क्या यह उसका संकल्प ही है जो खुश्बू की तरह धरती के हर कोने में व्याप्त है---

"और वह क्या केवल तुम्हारा संकल्प है
जो धरती में सोंधापन बनकर व्याप्त है।"{पृ-44,कनुप्रिया}

नचिकेता को भी ऐसा प्रतीत होता है कि किरणें भी रोशनी को ले ऐसी खलबली मचा रही है, जैसे इन्होंने भी संकल्प लिया है- आत्मजयी काव्य में ---

"रोशनी भी एक भोली खलबली से भर
चिटकता क्षितिज
जैसे अप्रकट संकल्प का कोई अजन्मा बीज।" (पृ-110, आत्मजयी)

ऐसा ही कुछ इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष कहते हैं कि ऐसा लगता हैं कि चांदनी अपनी दीप्ति को ले ऐसे बढ़ रही है, जैसे उसने भी संकल्प ले लिया है---

"स्मितियों के स्वर्ण रजत प्रभादीप लिये साथ
बढ़ती संकल्प भरी" (पृ-14 इ॰पु॰)

जब प्रकृति ही संकल्प ले आगे बढ़ रही है और निश्चित किया हुआ कार्य पूरा करती है तो साधारण मानव क्या कम है कि उसके संकल्प को विरोधी संकल्प माना जाए। प्रवादपर्व के , राम अपने मन से प्रश्न करते हैं कि क्यों साधारण जन के संकल्प को विरोधी संकल्प का रूप दिया जा रहा है--

"कैसे है/ राजशक्ति पर प्रश्नचिह्न लगाना
विरोधी संकल्प कैसे है"...."। (पृ-29, प्र॰पर्व)

श्रीराम साधारण से साधारण प्राणी के नास्तित्व का ध्यान रखते हैं। वे कदापि नहीं चाहते कि राजशक्ति के आधारस्तम्भ साधारण जन की साधारणता को इतिहासहीन कर देने के लिए कृत संकल्पित हो---

"राज्य शक्ति के ये सारे/ आधार स्तम्भ
साधारणता को/ इतिहासहीन कर देने का संकल्प करते हैं।
ऐसा कदापि नहीं होगा बन्धुओं।" (पृ-56, प्र, पर्व)

राम का दूसरा रूप शम्बूक काव्य में मिलता है। शम्बूक कहते हैं। राम से कि इतिहासहीन ही करना है तो संकल्प का सिर काट दें----

"काट दो संकल्प का सिर
उठो।" ﴾पृ-71, शम्बूक﴿

फलस्वरूप शम्बूक काव्य में राम सामाजिक न्याय के सम्मुख नत-मस्तक हो शम्बूक पर प्रहार करते हैं। लेकिन शम्बूक की आवाज़ नहीं थमती क्योंकि उनका संकल्प उच्चतम था---

"झूठा का दायरा टूट के/ ज्योति-पथ बने
जीवन के द्वार-द्वार/ पावन संकल्पों को---
नव बन्दवार तने।।"﴾पृ-68, शम्बूक﴿

शम्बूक के उच्चतम संकल्प के समान ही इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष मानव को यह बोध कराते हैं कि उनके आख्यान मानव के संकल्प के लिए सम्बल आधार बने ---

"मेरे तप-तेज-साहस के ज्योति जड़े
रोचक आख्यान घने
पथभूले, क्लान्तश्रान्त मन के संकल्पों के
सम्बल - आधार बनें।" ﴾पृ-40, इ॰पु॰﴿

इसे देख ,आत्मजयी काव्य में नचिकेता इस भावना को दूसरे रूप में प्रकट करते हैं। वे कहते हैं।---

"हम शायद अपने संकल्पों से बचते हैं।"﴾पृ-107, आत्मजयी﴿

मनोहर वर्मा सार्त्र के विचार को प्रकट करते हैं कि दुर्घटनाओं द्वारा अंग-भंग होना चाहे परिस्थितियों का परिणाम हो, किन्तु

उस विशिष्ट विकलांग स्थिति को स्वीकार करना व्यक्ति विशेष की स्वतंत्रता की भावना से प्रसूत निर्णय ले लेने के कारण सम्भव हुआ है। पक्षाघात से जड़ीभूत अर्धांग होने की स्थिति में व्यक्ति आत्महत्या द्वारा उस स्थिति में जीने से अस्वीकार भी कर सकता था। किन्तु उसका ऐसा निर्णय न लेना इस बात का प्रभाव है कि वह स्वतंत्रता-पूर्वक अपनी वैयक्तिक निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग करके सम्पूर्ण पर विचार करके उक्त अवस्था एवं उससे सम्बन्धित स्थितियों का उत्तर-दायित्व ग्रहण करने में सहमति प्रकट करता है। अतः मनुष्य के जीवन का मूल्यांकन उसके संकल्पात्मक निर्णयों एवं कार्यों के प्रतिमानों पर होता है।《35》

<u>निष्कर्ष:--</u>

संकल्प एक शक्ति है वह मानव में दृढ़ता और अटलता लाती है, जिसके कारण ही संकल्पित कार्य पूरा होता है।

2·2·5· <u>मैं स्व</u> :--

अस्तित्ववाद "मैं" को अत्यधिक महत्व देता है। मानव अपने "मैं" के आधार पर जो निर्णय लेता है। उसका एक वही उत्तरदायी होता है। अपने "स्व" के आधार पर ही चिंतन करता है और सही और गलत का निर्णय लेता है।

अनीश्वरवादी दर्शन ईश्वर को नहीं मानता। उसके लिए मानव और उसका मैं ही सर्वप्रमुख है। संशय की रात के राम कहते हैं ---

"मैं/ या सम्राट रावण"। 《पृ-87, संशय की रात》

कनुप्रिया भी अपने "मै" को इतना महत्व देती है वह यही स समझती है कि कनु की शक्ति बस वही है-----

"तुम्हारी शक्ति तो मैं ही हूँ-"(पृ-38, कनुप्रिया)

इतिहास पुरुष काव्य में तो इतिहास पुरुष भगवान का ही स्थान ले लेता है ---

"मैं वटपादप विशाल" (पृ-8, इ॰पु॰)

वह अपनेआप को भगवान तक मान लेता है और एक नयी सृष्टि का संचालन करना चाहता है---

"तेरी सब व्याधियों का/ ओ मानव/
एकमात्र मैं ही निदान।" (पृ-22 इ॰पु॰)

अस्तित्ववाद, मानव से यही अपेक्षा करता है कि मानव में वह आत्मविश्वास रहे, जिससे वह अपने निर्णय पर अटल रहे। आत्मदान काव्य में अहल्या में यह आत्मविश्वास है। इसलिए वह कहती है--

"मैं प्रस्तुत हूँ/ हर प्रहार सहने को
मैं प्रस्तुत हूँ/ तिरस्कार सहने का।"(पृ-13, आत्मदान)

"मैं" ही मानव को परिचालित करती है"महाप्रस्थान" काव्य में युधीष्ठर मैं की सत्ता के बारे में समझाते हैं अर्जुन को ---

"मैं जानता हूँ/ प्राप्य या अप्राप्य
परन्तु हम सबके भीतर/सत्ता का माणिक भवन
अर्धदीप्त रहता है।"(पृ-117, म॰प्र॰)

इसीलिए एक शूद्र शम्बूक भी अपने मैं को कायम रखने का प्रयास करते हैं। लेकिन समाज उसे इसकी अनुमति नहीं देता यही वह राम से से कहते हैं ---

"राम! मुझको--/ मिल नहीं पाया कभी सम्मान
पूज्य होने की पुलक से/ जिन्दगी भर/
मैं रहा अन्जान।" {पृ-92, शम्बूक}

लेकिन हमें अपने "मैं" को दृढ रखना है तभी हम अपना अस्तित्व कायम कर सकते हैं। मानव को भौतिक इच्छाओं में नहीं फंसना है उसे अपने "स्व" के निर्णय पर कार्य करना है।

"वे जो लौट गयीं केवल छूकर मुझे--
छीनती हुई परायी इच्छाएं
जिनकी व्याकुल मांगों से
मैं विचलित नहीं, वंचित होता रहा।"{पृ-78,आत्मजयी}

नूरजहाँ भी इतिहास पुरुष काव्य में विचलित नहीं होती। वह अपने पति के साथ सहगमन नहीं करती है। क्योंकि उसका "मैं" यह नहीं स्वीकारता। वह कहती है ----

"यही कारण कि तुम्हारे बड़े प्रस्थान के बाद
मैं देह या मन से, हिंदू - प्रेमिका की भांति
सती नहीं हुई।" {पृ-83, इ॰पु॰}

व्यक्ति जो कुछ चाहता है जब उसे प्राप्त नहीं होता तो उसके "मैं" को दुख होता है। शम्बूक काव्य में शम्बूक भक्त बनना चाहते थे लेकिन यह उन्हें नसीब न हुआ।

"भक्त बनकर मैं न ले पाया/ तुम्हारी ओट।"
(पृ-93, शम्बूक)

इसी प्रकार आत्मदान काव्य में बुद्धि से आत्मा तक की यात्रा को आत्मबोध की संज्ञा दी जाती है। यह आत्मबोध बन्धन नहीं है। पर एक अदृश्य ज्योति है, जिससे अहल्या घिरी हुई है। इस दशा के बाद आत्मदान का स्वरूप स्पष्ट होता है। जो "स्व" का बृहद दान है, जिसके साक्षी स्वयं राम हैं, जिन्होंने स्वयं अपने स्व" को बृहद्दान में रूपान्तरित किया है।

"यह स्व का बृहददान था।" (पृ-44 आत्मदान)

इसके विपरीत यह "मैं" भावना हमें विज्ञान में भी दिखाई देता है। इतिहास पुरुष काव्य में भी विज्ञान ने मानव पर इतना प्रभाव जमाया है कि हर जगह विज्ञान की ही "मैं" सुनाई दे रही है।

"चारों ओर मैं-मैं का हंगामा चित्त नहीं
तेरा भ्रमा पाये जनमन की जिह्नतायें।" (पृ-38, इ•पु•)

<u>निष्कर्ष</u>:--- मैं के द्वारा ही मानव अपने समग्र को परख सकता है।

2•6• <u>पौरुष</u>: हर अस्तित्ववादी मानव में पौरुष होता है। क्योंकि पुरुषार्थ के बिना व्यक्ति अधूरा ही रहता है।

महाप्रस्थान की द्रौपदी को अपने पाँच पतियों में यह पौरुष कहीं नहीं दिखायी देता। भरी सभा में जब उसकी निंदा होती है तो वह बिल्कुल शांत बैठते हैं--- वह कहती है ---

"क्यों नहीं जागता क्षात्रतेज/ आक्रोश/
या कि वह वीरोचित पुरुषार्थ।"8पृ-62, म॰पृ॰8

पौरुष के रहने पर ही व्यक्ति को अपने आप पर गर्व रहता है। संशय की रात के राम कहते हैं ---

"देखें फिर पौरुष, इस बन्धु का"।8पृ-22, संशय की रात8

यही नहीं, हमें दूसरों के पौरुष पर भी विश्वास करना चाहिए। यही बात संशय की रात के लक्ष्मण कहते हैं राम से कि वे उनके बन्धु-मित्रों के पौरुष पर विश्वास करें।

"विश्वासे/ प्रभु! विश्वासें
अपने बन्धु मित्रों के/ पौरुष को।"8पृ-23, संशय की रात8

अगर व्यक्ति की स्थिति ऐसी हो जाए जैसे कि अशांत समुद्र को चीरकर शांत तट पर पहुँचने के बाद भी जल की विशाल हिल्लोलता में विवश नारिकेल से हो जाए तो उसका व्यक्तित्व और पुरुषार्थ का क्या अर्थ रह जाता है। प्रवाद पर्व में "राम" कहते हैं सीता से---

"हमारा सारा व्यक्तित्व/ सारा पुरुषार्थ
कैसा दिशाहारा हो जाता है सीता
उस उतने बड़े यात्रा-- पुरुषार्थ।" 8पृ-59, प्र॰पर्व8

इसलिए राम को यह मानवीय पुरुषार्थ की विडंबना ही प्रतीत होती है वे कहते हैं सीता से ---

"यह/ मानवीय पुरुषार्थ की विडंबना नहीं तो
और क्या है सीता?" 8पृ-60, प्र॰पर्व8

और यह पौरूष जिस पर मानव को इतना गर्व रहता है वह भी आखिरी समय में मानव को साथ नहीं देती। महाप्रस्थान काव्य में अर्जुन यह समझ नहीं पाते कि शक्ति, संकल्प और पुरुषार्थ के रहते वे अपनी प्रिया की क्यों नहीं सहायता कर पाते---

"यह कैसी विवशता है।/व्यक्ति को--
समस्त शक्ति/ संकल्प और पुरुषार्थ के होते हुए भी
वह नगण्य हो जाता है। "(पृ-102 म.प्र.)

भीम जिन्हें अपनी गदा पर नाज़ था वही भीम अस्त्र साथ होते हुए भी अपने आपको असहाय स्थिति में पाते हैं क्योंकि---

"बार-बार पुरुषार्थ/गदा से होकर
कच्ची हिम में धूँस-धँस पड़ता।" (पृ-46, म.प्र.)

पौरूष के रहते हुए भी जब मानव परिस्थितिवश कुछ कर नहीं पाता तो उसका रोष इस प्रकार झलकता है। एक कंठ विषपायी में इन्द्र अपना रोष व्यक्त करते हैं। ब्रह्मा के प्रति ---

"डरे" युद्ध से/ रक्तपात के भय से काँपे
कामिनियों से रास रचाएँ
पौरूष की मर्यादा खोकर"। (पृ-106, एक कंठ विषपायी)

निष्कर्ष :---

पुरुषार्थ के रहने पर ही मानव, समाज में अपना उच्च स्थान बना सकता है। क्योंकि पुरुषार्थ के बल पर ही वह असंभव कार्य को भी संभव बना देता है।

2.2.7. लघु मानव:----

छायावाद के महामानव और प्रगतिवाद की सामूहिकता के विरुद्ध -नयी कविता" में उस मानव की तलाश है जो इन दोनों की तुलना में लघु ही है, जो न महामानव के सम्मुख होना चाहता है। और न ही समूह में खो जाना चाहता है।

डॉ.रामदरश मिश्र" लघुमानव में क्षुद्र या लघु का आभास लघु मानव में नहीं पाते हैं, वे पाप, घृणा और असुन्दरता का साक्षात्कार करना चाहते हैं। वे लघुमानव रूपी वामन में विराट की स्थिति का साक्षात्कार करते हैं।"(36)

बलभीराज गोरे लघुमानव की लघुता को लघु कहकर उसकी अस्मिता को खंडित नहीं करना चाहते बल्कि उसकी लघुता के माध्यम से उसकी महानता को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।(37)

अवधनारायण त्रिपाठी के अनुसार लघुमानव व्यक्तिगत जीवन के वैसम्यों में मात्र अपने विश्वास संबल से ही अग्रसर हो सकता है। आज उसका अहम्पूर्ण व्यक्तित्व किसी के समक्ष आत्मसमर्पण करने को तत्पर नहीं है। यदि उसे दूसरे के अस्तित्व की प्रतिष्ठा प्रिय है, तो पहले आत्म - अस्तित्व की रक्षा वह अनिवार्य मानता है। वह आज के समाज में अपने दायित्व को सदर्प वहन करना चाहता है। इसीलिए अस्तित्व रक्षा का संकट उसके लिए कुंठा का कारण बन गया है।"(38)

ईतिहास पुरूष लघुमानव को सम्बोधित कर कहते है कि अपने सीमित भविष्य को सोच कर दुखी मत हो इसे भूल जाओ और जीवन का मज़ा लो- जीवन को बदलो, नए ढंग से जियो ---

"लघुतर यह भूल अहम्
नश्वर में नहीं नित्य,सीमित छोटा भविष्य।"

(पृ-43, इतिहास पुरुष)

इसीलिए इतिहास पुरुष लघु मानव की बेबस स्थिति को देख उसमें "नवीन जीवन बोध को उठाने का प्रयत्न करता है---

"लघु मन को घेर रही दस दिशियाँ, तीन लोक
नभ के सौ दृष्टि- घाव"(पृ-28, इ॰पु॰)

तभी तो संशय की रात में छोटे - छोटे वानर अपना सहयोग देते हुए महासेतु का निर्माण करते हैं ---

"ये छोटे-छोटे बौने/ किस आवाहन पर
महासेतु निर्माण कर रहे?" (पृ-76, संशय की रात)

सीता की प्राप्ति हेतु हर छोटा - छोटा वानर सेतु बनाने में मदद करता है। संशय की रात में हनुमान कहते हैं ---

"ये छोटे - छोटे व्यक्ति/
***   ***
इस अन्तरीप पर/ किस इतिहास व्यक्ति में
मिल जाने को आकुल?"(पृ-77, संशय की रात)

जैसा प्रयास संशय की रात में वानर करते हैं वही इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष और असूय से कुछ नहीं होनेवाला, उन्हें अपने अस्तित्व के लिए प्रयत्न करना होगा---

"जनमन की जिद्‌यताएँ
सरलचित्त, लघुकांक्षी, थोडे में तुष्टतृप्त" ।।§पृ-38, इ॰पु§

बौद्धिकता के आग्रह ने यथार्थ को प्रामाणिक रूप में व्यंजित करने की प्रेरणा दी। कनुप्रिया के कनु की परिणति लघु मानव में हो जाती है---

"इस विराट समुद्र के किनारे ओ अर्जुन मैं भी
अबोध बालक हूँ।"§ पृ-82, कनुप्रिया§

कनुप्रिया का कनु हिमगिरि के उत्तंग शिखर पर नहीं बैठा था। बल्कि वह "मृग-छौने" के समान लघु था-- लघु मानव था।

प्रेम के क्षणों में राधा को भी कनु इसी रूप में दृष्टिगत होते हैं। कान्हा का वह रूप तिरोहित हो जाता है। जिसमें वे सारे वृन्दावन को जलप्रलय से बचने की सामर्थ्य रखते हैं---

"और मुझे केवल यही लगा है/ कि तुम छोटे से शिशु हो
असहाय, वर्षा में भीग - भीगकर/ मेरे आंचल में दुबके हुए।"
§पृ-37, कनुप्रिया§

"समुद्र स्वप्न" में वह इतिहास का विराट पुरूष "अक्षय तरूणाई पर थकान की छाया लेकर, "कनुप्रिया" के वक्ष के गहराव में अपना चौड़ा माथा रखकर "वटपत्र" बन जाता है ---

"जिस पर तुम छोटे - से छौने की भांति
लहरों के पालने में महाप्रलय के बाद सो रहे हो।"
§पृ-81, कनुप्रिया§

इन व्यक्तियों को लघु इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि यह समाज में वह स्थान नहीं पा सके जो सम्पन्न व्यक्तियों को मिल सकता है। इसके अतिरिक्त इन्हें किसी भी अर्थ में लघु नहीं कहा जा सकता। यह तो असंख्य है। तमाम दुनिया में फैले हुए हैं। इन्हीं की बहुतायत है। वास्तव में यह विशाल है। अपनी संख्या और ताकत के बल पर। इनकी मानवता भी लघु नहीं है। इन्हीं में से एक कर्मठ, जागरूक, स्वाभिमानी, स्वत्वाधिकारी, स्वावलम्बी, परोपकारी, आदर्शोन्मुख दृढ प्रतिज्ञा, युग-प्रवर्तक व्यक्ति भरे पड़े हैं। इनको लघु कह कर इनका अपमान नहीं किया जा सकता। यह सच है कि आज यह व्यक्ति अपनी पूरी शक्ति का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी इन्हें कोई बांध कर नहीं रख सकता। यह बढ रहे हैं विकास पा रहे हैं। उन्हें किसी प्रकार भी लघु नहीं कहा जा सकता। विषम परिस्थितियाँ उन्हें संघर्ष में रहकर फौलादी बनाती रहती है। कुछ सफल होते हैं, कुछ असफल, मगर इस सफलता और असफलता से यह नहीं प्रतिपादित किया जा सकता कि असफल होनेवाले व्यक्ति लघु मानव है और वह मानवता से अलग है।

निष्कर्ष:---

लघु मानव भी वही साधारण मानव है जो हर कार्य को सक्रिय रूप से पूरा करता है और समाज में अपना अस्तित्व कायम करता है।

2.2.8. उत्तरदायी:---

मनुष्य स्वतंत्र है इसका अर्थ है कि वह जो कुछ है अथवा जो कुछ वह करता है उसके लिए वही पूर्ण उत्तरदायी है। उसका यह उत्तरदायित्व केवल वैयक्तिक ही नहीं। वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए भी है। उस एकाकी का चयन सम्पूर्ण समाज का चयन है।

प्रत्येक कृत्य का उत्तरदायी स्वयं मानव होता है। महाप्रस्थान काव्य में युद्ध के उपरान्त हुए विनाश के लिए युधिष्ठिर पूछते हैं अर्जुन से ---

"जब इस पृथिवी पर
कुलगोत्र - हीन वर्णसंकरता ही विचरण करेगी
उस दिन/ इस ऐतिहासिक कुंठता का
कौन उत्तरदायी होगा अर्जुन।" (पृ-108•म•प्र•)

राम व्यक्तिगत (स्वयं के) लाभ के निमित्त "जन-विनाश नहीं करना चाहते, वे एक विवेकशील सहज व्यक्ति की मान्यताओं को प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं कि जो कुछ भी परिवार एवं परिवारेत्तर अनिष्ट हुआ है। उसका उत्तरदायी मैं हूँ। इसलिए वे स्पष्टत: घोषित करते हैं ---

"व्यक्तिगत मेरी समस्याएँ
क्यों ऐतिहासिक कारणों को जन्म दे।।"(पृ-29, संशय की रात)

धर्मवीर भारती के अनुसार मानव में नियति स्वीकार करने की जो भावना निहित है। उसके साथ उत्तरदायित्व की भावना उससे अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। यह व्यक्ति - स्वातंत्र्य की एक ऐसी ज्योति है, जो उसकी आस्था की सीमा चिह्न है और इसी परिप्रेक्ष्य में आधुनिक चिंतन क्रम की धारा में मानव स्वतन्त्रता को एक अनिवार्य मूल्य के रूप में स्वीकारा गया है। क्योंकि स्वत: ही उत्तरदायित्व की भावना उसमें समाहित है।"(37)

समस्त शास्त्रज्ञता, पाण्डित्य और तेजस्वी यशस्वी द्रोणाचार्य भी अपने एकमात्र पुत्र को दूध न मिला सके और बच्चा आटे को ही दूध समझ कर पीता रहा इसके लिए कौन उत्तरदायी होगा। युधिष्ठिर महाप्रस्थान

में अर्जुन से प्रश्न करते हैं ---

"असीम प्रतिभा/ लेकिन घोर दारिद्रय।।
इसके लिए कौन उत्तरदायी है पार्थ?" (पृ-121. म.पृ.)

डॉ.मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ के अनुसार आत्मदान काव्य में गौतम को ही अहल्या अपने पतन के लिए उत्तरदायी बताती है। क्योंकि वह अहल्या को बांधकर अपने तक सीमित न रख सके।" (40)

"किन्तु/ नहीं "बाँधकर रखा
कभी अपने तक सीमित।।" (पृ-23, आत्मदान)

व्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वआरोप्ति न होने पर और अपने अस्तित्व का कारण स्वयं न होने पर भी वह अपने अस्तित्व के लिए पूर्ण उत्तरदायी है। क्योंकि इस उत्तरदायित्व से पलायन एवं आत्मघात अस्तित्व की अनेक संभव जीवन स्थितियों में से एक का चुनाव है। अत: अपने जन्म का निर्वाचन मनुष्य स्वयं करता है।

निष्कर्ष:---

मनुष्य अपने स्वभाव और चुनाव के लिए पूर्णत: उत्तरदायी है। वह व्यक्तिगत उत्तरदायित्व समझकर जो भी चाहता है करता है, वही अपने मूल्यों का सर्जक, ग्राहक और उपभोक्ता है।

2.2.9. अहं :---

अस्तित्ववादी विचारधारा में "अहं" (Ego) को एक आवश्यक तत्व माना गया है। यह मानव - व्यक्तितत्व का आधार और व्यक्ति - चेतना का बोधक है। अहं-चेतना के रूप में ही अस्तित्व का गठन

होता है। अतः इकाई के रूप में भी व्यक्ति की सत्ता महत्व रखती है। क्योंकि अहं उसका आधार होता है।

अस्तित्ववादी चिंतन में वैयक्तिक अहं व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व का आवश्यक तत्व है। आन्तरिक स्व की निर्मिति और कर्ता तत्व का विशिष्ट स्वरूप निर्धारक निर्णायक तत्व है। स्व-अस्तित्वमय का गठन अहं चेतना के रूप में ही होता है और स्वतंत्रता का अबाध उपयोग करती हुई यह चेतना ही स्व-अस्तित्वमय की विभिन्न परियोजनाओं को वैयक्तिक आधार प्रदान करती है।

लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार अहं का वास्तविक अर्थ है। अपनी स्थिति और अपने अस्तित्व की स्वीकृति के साथ - साथ सामाजिक संदर्भ में अपनी नियति और अपनी सत्ता के प्रति जागरूक रहना।﴾4।﴿ यही भावना इतिहास पुरुष काव्य में दिखाई देती है जहाँ इतिहास पुरुष उस वीर पुरुष की चर्चा करते हैं जो अहंयुक्त है ---

"अहंवीर, अपने को कहीं किसी से घटाकर
मानते नहीं हरगिज़"।। ﴾पृ-38 इ॰पु॰﴿

और यही अहं इतिहास पुरुष में भी देखा गया है जहाँ पर वह मानव को सम्बोधित कर कहते हैं---

"जननी - जनक मैं ही, मेरी ही गोद में
तेरे मन-बुद्धि अहम्/ उगते - पनपते हैं।-﴾पृ-22, इ॰पु॰﴿

वही इतिहास पुरुष सृष्टिकर्ता अहंवादी मानव से कहता है ---

"क्षुद्र अहं का अपने मेरी युगवस्तियों में
करके विस्तार चरम
अपना सतगुरू, नेता, पथदर्शक, मीत सुहृद
खुद दीपालोक बन।।" (पृ-41, इ॰पु॰)

डॉ॰हुकुमचन्द राजपाल के अनुसार अपमान और प्रतिशोध के मूल में व्यक्ति का अहं होता है। इस अहं के कारण किसी का अपमान होता है। अपमानित व्यक्ति अहं की तुष्टि हेतु प्रतिशोध पर स्वयं को केंद्रित कर लेता है।(42) इसी भावना को आत्मदान काव्य में देखा जा सकता है। जहाँ अहल्या पुरूष के अहंचित्त पर प्रश्नचिह्न लगाती है ---

"ए दिशाओं में निनादित पुरूष अहं
तुमने उचित किया.........
तुम्हारी मर्यादाओं की दुदुंभि
बज तो रही है निश्चय
किन्तु कब तक? (पृ-14, आत्मदान)

मानव कभी - कभी अपने अहं में इतना अंधा हो जाता है कि वह दूसरों की मृत्यु का कारण बन जाता है। अंधायुग काव्य में युद्ध के उपरांत पांडवों का साथ देने के बाद भी युयुत्सु का वे मज़ाक उड़ाते हैं, जिसे देख कृपाचार्य कहते हैं ---

"इस पर भी हँसते हैं/वे सब अज्ञानी, मूढ, दुर्विनीत, अहंग्रस्त
भाई युधिष्ठिर के -------"। (पृ-112, अंधायुग)

और कभी - कभी ये अहंकारी पुरूष अस्तित्व हेतु, प्रलय भी खड़ा कर देते हैं ---

"तुच्छ किन्ही बातों पर जब वे बिगड़ जाते
छोटके प्रलय - जैसा
दृश्य सामने आता, अहंकार का अणुबम
फट जाता ज्यों सहसा।--(पृ-39, इ·पु·)

नयी कविता के लघुमानव का अहं मूल्यों के साक्षात्कार से अलग एक विशिष्ट अस्तित्व लेकर आया है। अवधनारायण त्रिपाठी उद्धृत करते हैं अज्ञेय की पंक्तियों को (43)

"यह दीप अकेला स्नेह भरा
गर्व भरा मदमाता पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।"

प्रज्वलित दीप के आत्मदान में ही उसकी सार्थकता है।

निष्कर्ष:---

अहं व्यक्ति को आत्म विश्वास , साहस और पौरुष से युक्त तथा किसी भी स्थिति का सामना करने की शक्ति से सम्पन्न करता है। ये उपकरण व्यक्ति - तत्व को पूर्ण और विशिष्ट बनाने में सहयोग देते हैं।

2·2·10· ईश्वर की मृत्यु - अनास्था :---

विश्वयुद्धों ने मानव के महत्वपूर्ण होने वाली प्राचीन मान्यताओं को निरर्थक बना दिया है। आत्मविश्वास और संतोष के स्थान पर घटना, टूटन संत्रास, अकेलापन, सन्देह, अनास्था और असहाय बोध प्रबल हो उठे हैं। व्यक्ति ने प्रथम बार अपने व्यक्तित्व को पहचाना है।

आस्था और विश्वास के खंडित हो जाने पर व्यक्ति किस प्रकार से बर्बर हो जाता है। पराजय के क्षणों में उसे लगता है-- कहीं कुछ भी नहीं है। अंधायुग के विदुर कहते हैं ---

"आज इस पराजय की बेला में,
पता नहीं
जाने क्या झूठा पड़ गया कहाँ।"(पृ.-61, अंधायुग)

अनीश्वरवादी अस्तित्ववादियों के अनुसार ईश्वर की मृत्यु हो गयी है। अंधायुग काव्य में ईश्वर की मृत्यु को देखकर यह प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर भी मृत्यु को प्राप्त होता है---

"हरि के रहस्यमय जीवन की
दो गुझे, शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूँ तुम्हारा करुण रहस्य मरण।।"(पृ-21, अंधायुग)

संजय भी प्रभु पर आस्था रखते हैं लेकिन प्रभु की मृत्यु से उनकी यह आस्था डगमगा जाती है। अंधायुग में --

"ज्योति बुझ रही है वहाँ"(पृ-124, अंधायुग)

आत्मजयी का नचिकेता अपने पिता की हिंसा में डूबी आस्था को देख अपने आप को अनास्था में ही अधिक सहिष्णु मानता है---

"मैं अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूँ।
अपनी नास्तिकता में अधिक धार्मिक।"(पृ-22, आत्मजयी)

युयुत्सु भी श्रीकृष्ण पर आस्था रखते हैं लेकिन उनकी आस्था भी अनास्था में परिवर्तित हो जाती है। अंधायुग काव्य में ---

"आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का
अब मिला अश्वत्थामा को
जिसे नकली और खोटा समझकर मैं
कूड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले।"8पृ-126, अंधायुग8

क्योंकि वे कृष्ण के साथ रहने के बाद भी सभी के लिए घृणा के पात्र बनते हैं ---

"प्रभु के पीछे अपने जीवन भर /घृणा सही।।"
8पृ-127, अंधायुग8

और इसीलिये युयुत्सु ईश्वर के प्रति अनास्था इन शब्दों में रखते हैं ---

"मैं हूँ युयुत्सु/ मैं उस पहिये की तरह हूँ
जो पूरे युद्ध के दौरान रथ में लगा था
पर जिसे अब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था।"
8पृ-76, अंधायुग8

विदुर जिन्हें प्रभु पर आस्था थी अब उनके कदम भी अनास्था की ओर बढ़ते हैं, अंधायुग में ---

"....... लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह है
जिसके सारे पहिये उतर गये हैं।
और जो खुद घूम नहीं सकती।।"8पृ-76, अंधायुग8

इसी तरह राम के सन्दर्भ में शम्बूक कहते हैं कि वे देवत्व में ही लगे रहे "इसीलिए मानव दीन बना गया---

"तुम रहे देवत्व में ही लीन/ और बनता गया मानव दीन।
(पृ-64, शम्बूक)

इस तरह ईश्वर को कायर, वंचक एवं शक्तिहीन कह कर अस्तित्व-वादी धारणा की पुष्टि की गई है। युयुत्सु कहते हैं ---

"कुछ दिन तक कृष्ण की झूठी आस्था के
ज्योतिवृत्त में भटका।" (पृ-126, अंधायुग)

और अंत में ईश्वर की मृत्यु से युग का भी अंत हो गया। नक्षत्र बुझ गये। भयंकर "अंधेरा छा गया" जो साधारण जन को यह बोध कराता है कि सब कुछ नश्वर है ---

"प्रभुहीन धरा पर आस्थाहत
कलियुग ने रक्खा प्रथम चरण।" (पृ-124, अंधायुग)

2.2.11. <u>अनास्था में आस्था</u> :---

लेकिन आखिरी समय में कृष्ण ने अश्वत्थामा के घाव हर लिए और उनकी यह अनास्था आस्था में बदल जाती है और वह कहता है अंधायुग में----

"यह जो अनुभूति मिली है/क्या यह आस्था है?"
(पृ-125, अंधायुग)

डॉ.भारती ने "अंधायुग" में ईश्वर की मृत्यु दिखायी है। परन्तु मृत ईश्वर परम्परागत अंध श्रद्धाओं का प्रतिरूप है। वे ईश्वर के सचेतन, अमर एवं "अपराजेय" रूप को उपनिषद के सर्वव्यापक ब्रह्म की तरह समस्त मनुष्यों में पुर्नस्थापित करते हैं। मरता हुआ ईश्वर नये युग के अपने स्वरूप को नष्ट करता है।" (44)

"जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार।"

(पृ-132 , अंधायुग)

निष्कर्ष:---

आज का मनुष्य स्वयं ईश्वर है। अपना भाग्य विधायक है। मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य से संघर्ष करके अपने स्वर्ग की रचना करनी चाहिए। उसे संसार की सीमाओं से परे कहीं उस पार न देखकर अपने रचना विधान से इस संसार को ही स्वर्ग बनाना चाहिए।

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद में विभिन्न काव्यों का उदाहरण लेते हुए हमने यह देखा कि किस प्रकार से मानव ईश्वर पर आस्था रखते हुए भय, संत्रास, नियति, उदासी, दु:ख पीड़ा, निराशा, विसंगति कुंठा, ऊब, निरर्थकता से दूर होता है और धर्म पर ही चलता है। वहीं मानव अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद में ईश्वर पर अनास्था रखते हुए कर्म को महत्व देता है। संशय, द्वन्द्व की स्थिति से गुजरता हुआ वह निर्णय लेता है। संघर्ष करता है और मैं को महत्व देते हुए संकल्पित कार्य को पूरा करता है। उसमें वह पौरुष झलकता है, जिसके तहत् लघुमानव भी अपना अस्तित्व कायम करता है। वह हर कार्य का स्वयं उत्तरदायी होता है। उसे अपने अहं पर गुरूर रहता है। ईश्वर की मृत्यु को दिखाते हुए यह बताने का प्रयास किया गया है कि मरता हुआ ईश्वर नये युग में फिर सक्रिय हो उठेगा।

निराशात्मक प्रवृत्तियों से यह अस्तित्ववाद मानव को आशावाद की ओर ढकेलता है।

ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी प्रवृत्तियों को खंड काव्यों में देखने के बाद अब वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्व को हम देखने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार से व्यक्ति समाज में रहते हुए अपनी स्वतंत्रता को कायम रखते हुए अस्तित्ववादी दर्शन के मूल तक पहुँचता है। इसमें समाज कहाँ तक सहयोग देता है।

****

सन्दर्भ सूची

****

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य - अस्तित्ववाद और नयी कविता आलोचना - डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश, पृ-28
2. नयी कविता - डॉ. कान्तिकुमार पृ-290-291
3. नयी कविता नये संदर्भ-हिन्दी के बहुचर्चित काव्य - -बलभीराज गोरे पृ-6
4. मानव से अतिमानव की ओर - श्री अरविंद पृ-12.
5. अरविंद ने कहा था - श्री अरविंद के पत्र (चतुर्थ भाग) पृ-623.
6. इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये - अज्ञेय पृ-51.
7. अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य -डॉ.श्यामसुन्दर मिश्र पृ- 106
8. अस्तित्ववाद दार्शनिक तथा, साहित्यिक भूमिका -डॉ.लालचन्द गुप्त मंगल पृ- 54
9. नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर - संतोष कुमार तिवारी पृ- 38
10. अरविंद ने कहा था - डॉ. गिरिराज शरण पृ-271.
11. विवेकानन्द साहित्य (तृतीय खण्ड) - विवेकानन्द ने कहा था - गिरिराज शरण पृ-95.
12. हिन्दी के खंड काव्य - आधुनिक काल के खंड काव्य - डॉ. शिवराज गोयल पृ- 122
13. दुष्यन्तकुमार- रचनाएँ और रचनाकार -म. तु. अष्टेकर पृ- 102
14. अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य -डॉ.श्यामसुन्दर मिश्र पृ-54
15. नयीकविता में प्रेम सम्बन्ध - डॉ.सुषमा भटनागर पृ- 48
16. पुनश्च - डॉ.हरिचरण शर्मा पृ-137.

17• समकालीन हिन्दी साहित्य – वेदप्रकाश शर्मा अमिताभ पृ-124
18• नयी कविता में वैयक्तिक चेतना –डॉ•अवधनारायण त्रिपाठी,पृ-32
19• नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर – डॉ•संतोषकुमार तिवारी पृ- 46
20• नयी कविता में वैयक्तिक बोध– शशि सहगल पृ-38
21• संवेदना के धरातल – धर्मवीर भारती पृ- 31
22• पुनश्च – डॉ•हरिचरण शर्मा पृ- 122
23• आलोचना के बदलते मानदंड और हिन्दी साहित्य पृ-342•
24• साहित्य के विविध आयाम – धर्मवीर भारती पृ- 49
25• भारतीय संस्कृति के आधार – अरविंद ने कहा था पृ-129•
26• विवेकानन्द साहित्य ‹द्वितीय खण्ड› –संकलित – गिरिराज शरण पृ-252•
27• विवेकानन्द साहित्य ‹पंचम खण्ड› वही पृ-58•
28• वही ‹तृतीय खण्ड› वही पृ-70•
29• नयी कविता की नाट्यमुखी भूमिका –डॉ•हुकुमचन्द राजपाल,पृ-36•
30• अस्तित्ववाद और नयी कविता – प्रकाश दीक्षित पृ-94•
31• नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर – डॉ•संतोष कुमार तिवारी,पृ-52
32• प्रकर –85, दिसम्बर–पौष था 40 – डॉ•मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ,पृ-83•
33• नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर – डॉ•संतोष कुमार तिवारी,पृ- 68
34• हिन्दी के खंडकाव्य – आधुनिककाल के खंड काव्य – – डॉ•शिवप्रसाद गोयल पृ- 110
35• आलोचना–अस्तित्ववाद – मनोहर वर्मा पृ-130
36• हिन्दी कविता – तीन दशक – डॉ•रामदरश मिश्र पृ-100•
37• नयी कविता नये संदर्भ –हिन्दी के बहुचर्चित काव्य –बलभीराज गोरे पृ- 37

38. नयी कविता में वैयक्तिक चेतना-अवधनारायण त्रिपाठी -पृ- 153
39. संवेदना के धरातल - धर्मवीर भारती पृ-150.
40. प्रकर -दिसंबर पौष -2040 ,83 - डॉ.मधुरेशनंदन कुलश्रेष्ठ -पृ-16
41. नयी कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकांत वर्मा पृ-224.
42. नयी कविता की नाट्यमुखी भूमिका - डॉ.हुकुमचन्द राजपाल,पृ-68
43. नयी कविता में वैयक्तिक चेतना - अवधनारायण त्रिपाठी, पृ- 153
44. साहित्य के विविध आयाम - धर्मवीर भारती पृ-126.

****

तृतीय अध्याय
****

वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्ववादी दर्शन
****

नयी कविता से पूर्व की काव्यधाराओं में व्यक्ति का जो सम्प्रत्यय ग्रहण किया गया था, उससे भिन्न रूप में नयी कविता व्यक्ति की व्याख्या करना चाहती है। वह मोटी-मोटी परिभाषाओं में उसे जकड़ना नहीं चाहती, उसे विश्वास है कि इस तरह के साधारणीकरण से मानवीय व्यक्तित्व के रहस्यों का उद्घाटन सम्भव नहीं है। इसलिए उसने आग्रहों और साधारणीकरण को स्वीकार नहीं किया। वह आदर्शों और चरित्र के अवगुण्ठन हटा कर व्यक्ति को देखना चाहती है और इसलिए उसे मनुष्य उसके सहज़ स्वरूप में ही ग्राह्य है। कर्म का आग्रह, पक्षधरता सोद्देश्यता की खोज आदि ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनमें मनुष्य को नियमित और मर्यादित करने की चेष्टा है, एक प्रत्ययवादी आरोपण इस पर किया जाता है। नयी कविता इसे सहन नहीं करती इसीलिए वह अब तक की काव्य परम्परा में प्रतिनिष्ठत सभी प्रकार के व्यक्ति सन्दर्भ से अलग अप्रतिश्रुत, असम्पृक्त और पक्षनिरपेक्षता के धरातल पर समकालीन मनुष्य को समझने की चेष्टा कर रही है।

मानवीय स्वातंत्र्य को कलुषित करने वाले खण्डित सत्यों के अभिशप्त वलय को लांघकर नयी कविता सम्पूर्ण मनुष्य का साक्षात करना चाहती है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है उसकी समस्त चेतनानुभूति को सम्पूर्ण समग्रता के साथ उसकी अपनी सहजता के साथ स्वीकार करना।

असितत्ववाद ने सबसे बड़ा काम यह किया है कि उसने व्यक्ति को महत्व दिया। इससे पूर्व कविता में प्रगतिवाद आदि में व्यक्ति को प्राय: नकार दिया जाता था और सामाजिक चेतना तथा सामाजिक सत्ता और सामाजिक मूल्यों की बात ही अधिक होती थी लेकिन व्यक्ति चेतना और व्यक्ति की सत्ता को नयी कविता के माध्यम से स्थापित करने का श्रेय अस्तित्ववादी दर्शन को ही जाता है।

अत: कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद की इकाई है। व्यक्ति। और व्यक्ति शब्द का अर्थ वैयक्तिक सत्ता से है जो सप्राण आत्मा या आत्मचेतन सत्ता के गुणों का बोधक है जो स्वभावरूप में उनमें निहित है।

सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य की आन्तरिकता में विश्वास रखते हैं, "मनुष्य आत्मनिष्ठ" है इसमें "आत्म" पद व्यक्तिवाद - व्यंजक बिल्कुल नहीं है। इसका अर्थ है कि मनुष्य का वास्तविक जीवन उसका आन्तरिक जीवन है। अस्तित्ववाद के अनुसार व्यक्ति अपनी परिस्थितियों के बीच संघर्ष और चिन्ता के साथ जीता है। वह किसी दूसरे संसार का प्राणी नहीं, कोई असाधारण जीव या देव नहीं वह एक "व्यक्ति" है, जिसे हम प्रतिदिन देखते हैं, जानते हैं , पहचानते हैं, जो शरीरधारी और नामधारी है। उसका जीवन मूलत: उसके अन्तर का जीवन है- यही इस व्यक्ति की व्यक्तिवादिता है। उसका हर ज्ञान, उसकी प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक अनुभूति उसके आन्तरिक जीवन के अंग हैं।

व्यक्ति के संगठन के लिए उसकी वे विशेष परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं, जिनके द्वारा उनका व्यक्तित्व विशिष्ट आकार ग्रहण करता है और जो उसके अधिकार में नहीं होता। किर्केगार्द ईसाई धर्म के आडम्बरपूर्ण वातावरण से असंतुष्ट थे तथा वे ईसाई अन्धविश्वासों के प्रति

विद्रोह कर चुके थे। उन्होंने यह अनुभव किया था कि ईसाई चर्च, व्यक्ति के प्रति स्वतन्त्र समर्पण का विरोध किया करते थे। इस ऊबे हुए वातावरण के कारण ही वे मानव व्यक्ति की व्याख्या स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में करना चाहते थे।§1§

3·1· <u>व्यक्ति</u> :---

व्यक्ति की अस्मिता का आग्रह और प्रतिष्ठा आज के युग का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है।

लेकिन एक व्यक्ति की अस्मिता को महत्व देने पर वह दूसरों के लिए ईर्ष्या का विषय बन जाता है। इतिहास पुरूष कहते है इतिहास पुरूष काव्य में ---

"व्यक्ति की कुटिल कांक्षा कहाँ जनसमूहों की बन जाते क्लेश क्या"
§पृ-40, इतिहास पुरूष§

इसी कुटिल कांक्षा को इन्द्र में देखा जा सकता है। अपनी कुटिल कांक्षा की पूर्ति हेतु तपस्या करते हुए शम्बूक का सम्बन्ध विप्र बालक की मृत्यु से जोड़ा जाता है। क्योंकि उन्हें डर है कि शम्बूक अपनी तपस्या से उनकी कुर्सी न छीन लें। यह संदर्भ कितना हास्यास्पद लगता है। इसे मूर्खता नहीं तो और क्या कहेंगे जो हर व्यक्ति के विश्वास के बाहर है---

"क्यों करे विश्वास/ इस पर व्यक्ति कोई"?
§पृ-78, शम्बूक§

शासन की बाग-डोर हाथ में होने का अर्थ यह नहीं कि शासक जो चाहे वो करे। उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह अच्छी तरह से

विचार करे कि वह क्या कर रहा है ---

"व्यक्ति अपने आप सहित विचार
कर सके अपराध निज स्वीकार ।" §पृ-72, शम्बूक§

और ऐसे व्यक्ति दूसरों के आर्त्त-स्वर को अनसुना कर अपना कार्य कर चले जाएँ तो शस्त्रों से क्या अपेक्षा की जाएगी। महाप्रस्थान काव्य में----

"शस्त्र, व्यक्ति नहीं हुआ करता/जब व्यक्ति ने ही
उस आर्तस्वर को अनसुना कर दिया/
तब शस्त्र कैसे सुन पाता?" §पृ-94, म.प्र.§

और यही कारण है कि विज्ञान ने व्यक्ति पर अपना पैंट जमाया है। कल्पांतर काव्य में ---

"अनुशासन का रीनफोर्स्ड सीमेंटी पर्वत
कई हज़ार मील पेंदी का
बैठ चुका है जनता की छाती के ऊपर
व्यक्ति-व्यक्ति के मन में " §पृ-83, कल्पांतर§

इसलिए व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ही रहना चाहिए नहीं तो विज्ञान ही नहीं हर कोई उस पर अपना अधिकार जमा सकता है --

"व्यक्ति वह कोई हो
उसे इतना अधिक सामाजिक नहीं होना चाहिए" §पृ-59, प्रपर्व§

नहीं तो होगा यह कि एक ही व्यक्ति के जीवन में एक ही नाटक बार-बार दुहराया जायगा । प्रवाद पर्व में यही स्थिति देखी गई है तभी तो राम कहते हैं ---

"और एक ही नाटक
व्यक्ति के जीवन में
बारम्बार दुहराया जाता है।" (पृ-64, प्र•पर्व)

और व्यक्ति को इतना भी ऊपर नहीं उठ जाना चाहिए कि वह दूसरों के लिए अलंध्य विंध्याचल हो जाए। यही युधिष्ठिर कहते हैं। महाप्रस्थान में --

"किसी भी व्यक्ति को/ इतना प्रतिष्ठापित मत करो कि
शेष सब के लिए / वह अलंध्य विंध्याचल हो जाए।"
(पृ-110, महाप्रस्थान)

इसलिए व्यक्ति को निर्वैयक्तिक होकर शासन करना चाहिए लेकिन यह सन्यासी की गैरिकता से भी भयंकर होता है। प्रवाद पर्व में श्रीराम का मन कहता है ---

"व्यक्ति का / निर्वैयक्तिक उदार चरित में परिणत हो जाना
सन्यासी की गैरिकता से भी/ अधिक भयानक होता है राम"।।
(पृ-108, प्र•पर्व)

तभी तो महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठिर कहते हैं कि यह जो परंपरा चली आ रही है। इस परम्परा को चलने दो---

"व्यक्ति का/ चरैवेति।।
धर्मराज! इस स्वर्गारोहण के पथ पर है/चरैवेति।।"
(पृ- 28 म• प्र•)

शम्बूक के लगातार संघर्ष का भी कोई महत्व नहीं रह जाता, उसकी आवाज़ को दबाने का हर प्रयास किया जाता है। जहाँ लोगों की

आवाज़ का कोई महत्व नहीं वहाँ आत्मिक, संघर्षशील व्यक्ति के रूप में शम्बूक को सदायाद किया जाएगा ---

"मनुज हो जहाँ आहत मूक
वही उनका स्वर बने शम्बूक"।।(पृ-2, शम्बूक)

जिस प्रकार से शम्बूक को उसके सद्कृत्यों पर सदा याद किया जाएगा। उसी प्रकार से आत्मदान की अहल्या की भी आत्मोपलब्धि को भी ---

"व्यक्ति की आत्मोपलब्धि थी
जो फैली थी दिव्य ज्योति बन"।।(पृ-41, आत्मदान)

और यह ज्योति सीता को श्रीराम में दिखाई दे रही थी। तभी तो सीता को श्रीराम कोई साधारण राजकुमार नहीं उनसे कई गुना ज्यादा प्रतीत हो रहे थे। प्रवाद पर्व काव्य में सीता कहती है ---

"मैं ने किसी / सामान्य राजकुमार के नहीं
वरन/ एक यज्ञ-पुरुष के दर्शन किए हैं।
क्योंकि उस व्यक्तित्व की गन्ध में
फूलों की पवित्रता तथा/ मन्त्रों की पवित्रता थी"
(पृ-72, प्रवाद पर्व)

उसी प्रकार से कनुप्रिया काव्य में कनु को आम के बौर की महक कनुप्रिया के व्यक्तित्व में झलकती है, जिसे वे बहुत चाहते हैं। कनुप्रिया कहती है ---

"कि वह मेरी तुर्शी है
जिसे तुम मेरे व्यक्तित्व में
विशेष रूप से प्यार करते हो।"(पृ- 32, कनुप्रिया)

युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से कि युद्ध, राज्य, साम्राज्य, सम्पदा, सम्बन्ध ऐसे कुचक्र हैं, जिन्हें व्यक्ति अपने चारों ओर बुन लेता है और इस सफलता की खुशबू में से वह बाहर आना नहीं चाहता। अगर मानव इन सब से परे हट जाए तो व्यक्तित्व से वह संपन्न हो जाएगा--

"वस्तुओं से हीन होते जाने का
अर्थ है/ व्यक्तित्व से सम्पन्न होते जाना।।"(पृ-106 म.प्र.)

इसलिए युधिष्ठिर राज्य त्याग को भूल नहीं मानते। वे कहते हैं महाप्रस्थान काव्य में ----

"मैं ने अपने वैचारिक व्यक्तित्व को
कभी धुंधला नहीं होने दिया "(पृ-123, म.प्र.)

लेकिन जिंदगी भर अपने में अग्निपर्व को ढाल लेना भी कोई आसान कार्य नहीं। प्रवाद पर्व में राम की स्थिति यही है ---

"पूरे समय/ अपने व्यक्तित्व में/ यह अग्नि पर्व
यह आवाहोत्सव धारण किये रहना/ अपने को
प्रतिहवन-कुण्ड बना लेना है राम।।"(पृ-23, प्रप पर्व)

एक ओर राम का हृदय प्रतिहवन कुण्ड बन रहा है तो दूसरी ओर हिम का विराट अस्तित्व एक - एक कर पाण्डवों को हिमपथ में गला रहा है। एक क्षण में एक के बाद एक सभी विलय होते जा रहे हैं ---

हिम के/ अद्वैत व्यक्तित्व में
उभर आये अवांछित पदचिह्न/ हिमपात
कितने असंग भाव से पोंछ रहा है।" ﴾पृ–76, म॰प्र॰﴿

लेकिन अपने अंदर के व्यक्तित्व को अपने में से निकाल फेंकना आसान नहीं होता। द्रौपदी कहती है युधिष्ठिर से ---

"कितना कठिन है
व्यक्तित्व के ये कवच कुण्डल उतार कर
समय को दे देना।" ﴾पृ–84, म॰प्र॰﴿

और हिमपथ पर आरूढ होने के बाद न तो कोई स्वत्व बचा रहता और न ही अग्नि शेष रहती है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं। द्रौपदी से कि शरीर मात्र एक आच्छद के रूप में ही रह जाता है---

"तुम्हारा यह धातु - व्यक्तित्व
और कुछ नहीं/ स्वत्वहीन, मात्र आच्छद है।﴾पृ–75,म॰प्र॰﴿

ऐसा ही अनुभव करते हैं अर्जुन भी। अठ्ठारह दिनों के युद्ध में अर्जुन गाण्डीव के सहारे एक क्षण भी अपने को निर्बल नहीं समझे क्योंकि उन्हें अपने व्यक्तित्व पर भरोसा था पर हिम पथ पर प्रिया के आर्तस्वर को सुनकर वे कुछ भी करने में अपने को असमर्थ पा रहे थे उनके शब्दों में---

"मेरे गाण्डीव - व्यक्तित्व को/ इतना अवश
या नगण्य नहीं कर पायी थी।
जितना कि/ प्रिया का आर्तस्वर कर पाया।"﴾पृ–74॰म॰प्र﴿

प्रिया का आर्तस्वर अर्जुन के मन को हिला डालता है। उन्हें जिन्हें अपने व्यक्तित्व पर गर्व था वही आर्तस्वर उनके व्यक्तित्व को विद्युत की तरह चीर डालती है। वे कहते हैं ---

"इस विभाजित व्यक्तित्व को लेकर/ क्या करूँगा?
(पृ-94, म.प्र.)

एक ही मन:स्थितिवाले अधिकतर एक ही जगह एकत्रित होते हैं। संशय की रात काव्य में टूटे हुए व्यक्तित्व वाले, विभाजित व्यक्तित्व वाले सब एक एक ही जगह एकत्रित होते हैं। राम आश्चर्य से कहते हैं---

"कैसी विषमता है/ हम सब यहाँ
टूटे हुए व्यक्तित्व ले/
अपनी समस्याएँ लिये एकत्र है।" (पृ-81, संशय की रात)

अर्जुन की भी यही स्थिति है। उन्होंने जिन्होंने कौरव शक्ति की अपनी बाण की नोक पर ठहराया। वे आज अपने आप को इतना विवश पाते है। क्योंकि शक्ति के होते हुए भी वे प्रिया की रक्षा न कर पाने की स्थिति में हैं---

"सम्भवत: हम/ धनुष पर नहीं
अपने व्यक्तित्व पर प्रत्यंचा चढाते हैं
और आज/ इस अवश व्यक्तित्व पर
कोई प्रत्यंचा नहीं चढ़ पा रही।" (पृ-103, म.प्र.)

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी का वक्तव्य है- "व्यक्तित्वजो भौतिक और निष्ठावान है, पर विनम्र हैं।

जो नश्वरता से भयभीत हुए बिना उसे सहज भाव से स्वीकार करता है और परिवेश से बंधे रहकर अपनी सर्जनात्मकता को गतिशील रखता है। "नदी के द्वीप" की यह मूल परिकल्पना कृतिकार अज्ञेय की रचना दृष्टि के प्रमुख तत्वों में से है।§2§

अज्ञेय के नदी के द्वीप काव्य में व्यक्ति की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है, जिसे देवेश ठाकुर रेखांकित करते हैं --

रेखा एक स्थान पर भुवन से कहती है-- "मुझे तो लगता है, जब आप मानव से हटकर मानवता की बात सोचने लगते हैं? तभी आप जीवन से दूर चले जाते हैं। क्योंकि जीवन मानव का है, यथार्थ मानव है, मानवता केवल एक उद्भावना एक युक्ति सत्य।

देवेश ठाकुर आगे कहते हैं -- व्यक्ति स्वभावतः आत्मनिर्भर है, उसे अपने अस्तित्व के निर्वाह और विकास के लिए, समाज, व्यवस्था और परम्पराओं पर निर्भर रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। चिन्तन व्यवहार तथा मान्यताओं के सन्दर्भ में प्रत्येक का अपना कुछ निजी होता है। व्यक्ति सृष्टि का सबसे विशिष्ट चिन्तन प्रधान प्राणी है।§3§

इसलिए धृतराष्ट्र अपने अंधेपन से उत्पन्न संसार §संतान§ के प्रति इतने ममतामय हैं कि उन्हें वैयक्तिकता के सम्मुख मर्यादा एवं नीति का मूल्य दृष्टिगत नहीं होता। तभी तो वे कहते हैं----

"पर वह संसार/ स्वतः अपने अन्धेपन से उपजा था
मैं ने अपने ही वैयक्तिक सम्वेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु -जगत्।।"
§पृ-17, अंधायुग§

ऐसे व्यक्ति अपने हर वक्तव्य को सत्य समझते हैं और उसी पर अड़े रहते हैं। लेकिन जब वे यह अनुभव करते हैं कि उनकी वैयक्तिक सीमा के बाहर भी सत्य हुआ करता है तो उनकी मनस्थिति को ' धृतराष्ट्र में देख सकते हैं----

"आज मुझे भान हुआ
मेरी वैयक्तिकसीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है।" (पृ-21, अंधायुग)

कुछ इसी प्रकार का भाव लिए - प्रवाद पर्व की सीता प्रश्न करती है। राम से कि उनमें कब वैयक्तिकता थी। क्योंकि उन्हें कभी वैयक्तिक जीवन जीने का मौका नहीं मिला।---

"आप में कब वैयक्तिकता थी आर्यपुत्र
किस दिन/ हमने नितान्त वैयक्तिक जीवन जिया"।
(पृ-78, प्र,पर्व)

और न ही वैयक्तिकता ऐसी होनी चाहिए कि वैयक्तिक क्षणों में वह एक सामाजिक समस्या लगे और सामाजिक अवसर पर वैयक्तिक---

"इतना कि/ वह वैयक्तिक क्षणों में
एक सामाजिक समस्या लगे
और सामाजिक अवसरों पर/ वैयक्तिक मुद्रा"।।
(पृ-51 •प्र.पर्व)

और राम चाहते भी नहीं कि वैयक्तिक प्रश्न सार्वजनिक बन जाएँ। संशय की रात काव्य में वह कहते हैं---

"व्यक्तिगत मेरी समस्याएँ
क्यों ऐतिहासिक कारणों को जन्म दे।"

(पृ-21, संशय की रात)

इस तरह वैयक्तिक प्रश्न को वैयक्तिक रहने दिया जाये या सार्वजनिक बना दिया जाए। अथवा किसी वैयक्तिक प्रश्न को कब और कौन सी स्थिति में सार्वजनिक बनाना चाहिए था कि नहीं। यह हमारी आज की समस्या है। किसी समस्या को हल करने के लिए अपने अधिकार के पाने के लिए अथवा न्याय के लिए हमें अपनी चिन्ता को वैयक्तिक स्तर पर ही रखना चाहिए। या उसे सार्वजनिक बना दिया जाना चाहिए। कई बार हम इस प्रश्न का निर्णय नहीं कर पाते क्योंकि वैयक्तिकता को सार्वजनिक बनाने के जो परिणाम निकल पड़ेंगे। उसके लिए हम अपने को ही जिम्मेदार मानते हैं। दूसरी सच्चायी है कि कोई भी प्रश्न जबतक वैयक्तिकता से हटकर सार्वजनिक नहीं बन जाता तब तक वह महत्व हीन रहता है।

राम की सम्पूर्ण संवेदना एकान्तिक होते हुए सामूहिकता से ओत-प्रोत है। विभीषण जहाँ युद्ध की अनिवार्यता प्रमाणित करते हैं। वहाँ खंडित व्यक्तित्व के संशय को भी स्वीकारते हुए अन्तत: बहुमत की महत्ता मानते हैं। यथा---

"उस वृद्ध, ठंडी शिला पर/ सिद्धवत बैठा हुआ
बहुमत/ न्याय है सत्य है
ऐतिहासिक नियति है/ हर व्यक्ति की।" (पृ-10, संशय की रात)

डॉ॰हुकुमचन्द राजपाल के अनुसार किसी भी क्रिया का सबसे पहला केन्द्र व्यक्ति स्वयं होता है। उसके सामने जो भी वस्तु आती है, वह अपने दृष्टिकोण से ही देखता - परखता है। इस आत्म - निष्ट दृष्टि। (subjective approach) के कारण वह किन्हीं मूल्यों को नकार देता है।(4)

जहाँ पर सामूहिक रूप से ढोंग का प्रदर्शन किया जा रहा हो ऐसी जगह एक अकेले व्यक्ति का विरोध कहाँ तक सफल होता है। आत्मजयी के नचिकेता प्रसंग में ---

> "तूम जिनसे माँगते हो/ मुझे उनकी माँगों से डर लगता
> इस समझौते और लेन - देन में कहीं
> व्यक्ति के अधिकार नहीं होते।।" (पृ-25, आत्मजयी)

व्यक्ति के बिना समाज नहीं है। समाज व्यक्ति - निर्मित है, अत: व्यक्ति के लिए है। व्यक्ति विशिष्ठ है। व्यक्तित्व का अपना महत्व होता है। उसकी अपनी लीकें होती हैं। एक ज्ञान होता है, और उसके आगे व्यक्ति अपने वर्तमान और भविष्य के बारे में जो समझता है, कल्पना करता है, मनसूबे बाँधता है। उनसे भी तो एक लीक बनती है, लीक चाहिए, चौखटा चाहिए, ढाँचा कहिए या कह लीजिए, दुनिया में अपना एक स्थान।

निष्कर्ष: ---

अस्तित्ववाद की महत्वपूर्ण इकाई है व्यक्ति और यह व्यक्ति किस तरह से अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है और समाज में अपना कैसा स्थान बनाता है यह उसी पर आधारित है।

3·2· समाज :---

समाज व्यक्ति की शक्ति और व्यक्तित्व को बढ़ाने का एक साधन मात्र है, स्वयं समाज कभी साध्य नहीं होता।

हमारा समसामयिक काल एक मोह भंग की जड़ता, वैफिल्यबोध के दंश और दिशाहीन अनास्था से पीड़ित युग है। मूल्यों का ह्रास मानवीय आत्मा का विघटन और सामूहिक नैतिकता के अवमूल्यन ने चरित्र के नाम पर स्वार्थ, छल और बेईमानी को प्रतिष्ठता दी है।

समाज एक सर्वव्याप्त विसंगति है, बीट कवि गिन्सबर्ग के शब्दों में "यह हमारा भाग्य ही है कि हम बिना समाज की परवाह किए इस क्षण भंगुर देह में जीवन यापन कर रहे हैं। सारा समाज यह सिद्ध करने के लिए तुला है कि यौनाचार और रोटी ही आत्मा का अन्तिम लक्ष्य है। वह इस हास्यास्पद विचार को धारणा और आचरण के बड़े - बड़े नियमों द्वारा हम पर आरोपित करने का प्रयास कर रहा है और हमारी आत्मा को नियंत्रित करने की कुचेष्टा कर रहा है।§5§

डॉ·श्याम सुन्दर मिश्र के अनुसार व्यक्तिवादी तत्वचिंन्तन व्यक्ति पर आस्था व्यक्त करते हुए उसकी आन्तरिकता पर बल देता है और उसकी सामाजिकता , ऐतिहासिकता, परिवेश, वातावरण, अर्जित संस्कारों आदि की तथ्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है।§6§ अस्तित्ववाद में व्यक्ति समाज से अलग नहीं है वह अपने व्यक्तित्व की अवधारणा और उसके निर्माण में समाज से सम्बद्ध है। किन्तु अन्त में वैयक्तिक चेतना के धरातल पर वह एकाकी अनुभव करने के लिए अभिशप्त है। यही अभिशप्त

बोध उसे समाज के साथ बांधता है और उसके लगातार मानसिक तनाव को जन्म देता है। समाज ही वह संस्थान है जिसके सम्बन्धों की चेतना व्यक्ति मानस के विभिन्न मनोभावों को जन्म देती है।

समाज का निर्माण व्यक्तियों से ही होता है और उन पर आधारित रहता है कि वह किस प्रकार के समाज की रचना करते हैं। शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं ---

"जड़ समाज/ मनुष्य की रचना नहीं है
गतिरहित जीवन/ कभी अपना नहीं है।"(पृ-41, शम्बूक)

और आज का समाज इतना जड़ और कुरूप हो गया है कि कल्पांतर काव्य में माथुर जी के शब्दों में जहाँ जीने के सब साधन छीन लिए गए हैं, ऐसे समाज में व्यक्ति अपना क्या अस्तित्व कायम करेगा----

"और आज/ जब ये अंध शक्ति, घृणा, हिंसा, संदेह पर
दमन और भय पर/ आधारित समाज-तंत्र"(पृ-20, कल्पांतर)

ऐसा समाज जहाँ अंधी श्रद्धाएँ खूनी प्रथाएँ फैली हैं व्याप्त हैं, ऐसे समाज में मानव की क्या स्थिति होगी ---

"देह, मन, विचारों की दास प्रथाएँ खूनी
अंधी श्रद्धाएँ वही/ मनुज समाज, व्याप्त।(पृ-24, कल्पांतर)

यही नहीं, बल्कि जहाँ लोग नहीं, बस एक समाज का ढाँचा हो अपने विकृत रूप में क्या ऐसा समाज वास्तव में समाज कहलायेगा? एक कंठ विषपायी काव्य में सर्वहत बड़े ही व्यंग्यात्मक ढंग से कहते हैं---

"सिर्फ लोग नहीं है तो क्या हुआ?
लोगों के होने न होने से
क्या कोई दृश्य की महत्ता कम होती है?"
(पृ-45, एक कंठ विषपायी)

इसी सन्दर्भ में धर्मवीर भारती कहते हैं कि आज के समाज में भी व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि है। स्वार्थ के वशीभूत मानवमन उचित-अनुचित का विवेक खो बैठा है। आज के युग में भी महाभारत जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषक धृतराष्ट्रों की कमी नहीं दिखाई पड़ती, जिनके व्यक्तिगत स्वार्थ ने विनाशक युद्ध की दुंदुभी बजाकर भयंकर मानवीय संहार करवाया।(7)

महाप्रस्थान के युधिष्ठिर भी इस बात से पूर्णरूप से सहमत है, तभी तो वे कहते हैं कि केवल समाज की अनुकम्पा से राज्याकांक्षी राज्य नहीं प्राप्त कर लेता, उसे संघर्ष करना पड़ता है, षड्यन्त्र करने पड़ते हैं----

"समाज की अनुकम्पा या कृपा से/ राज्याकांक्षी
राज्य या सत्ता नहीं अर्जित किया करता
बल्कि संघर्ष, षडयन्त्र और कुचक्रों से ही
वह सिंहासन आरूढ़ होता है।"(पृ-114, म॰प्र॰)

और ऐसे राज्याकांक्षी मानव - मानव में भेद करते हैं और उनके लिए समाज राज्य पर नहीं धर्म के नियमों पर निर्भर रहता है। महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठिर कहते हैं---

"धर्म के नियमों पर समाज आधारित है।"(पृ-110, म॰प्र॰)

इसीलिए तो मानव - मानव में भेद दिखाई देता है और यही धर्म शूद्र मानव को उत्कृष्ट जीवन जीने में आढे आता है। शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं----

"लेकिन जो भेद-बुद्धि/मान्य है/ प्रमाणित है
पूज्य है/ मानव समाज में /वही सदा
मेरे आड़े आयी।" (पृ-85, शम्बूक)

मानव-मानव में ही नहीं स्त्री-पुरुष में भी भेद किया जाता है। अर्थात् स्त्री के लिए एक तो पुरुष के लिए एक न्याय। आत्मदान में अहल्या कहती है -- इन्द्र कुकर्म करने के बाद भी स्वतन्त्र है क्योंकि वह पुरुष और अहल्या स्त्री होने के नाते समाज से बहिष्कृत ----

"समाज द्वारा त्यकता/बीते काल की खंडहर वीथि-सी
पतिव्रता की सूनी माँग सी अपशकुना।" (पृ-16,आत्मदान)

इतना होने पर भी समाज में रहना ही है तो समाज के नियमों का भी पालन करना ही होगा कोई भी मनुष्य इनसे भाग नहीं सकता। आत्मदान की अहल्या यही अनुभव करती है----

"तब समाज के लक्षित -अलक्षित/ आचार - नियम
सब तिरकने लगे नेत्रों में।" (पृ-33, आत्मदान)

शम्बूक के अनुसार वही समाज सुसंस्कृत समाज कहलाएगा, जो व्यक्ति का सम्मान करता हो और व्यक्ति की समस्याओं का सही समाधान करे।

"है समाज वही सुसंस्कृत
जहाँ होता व्यक्ति का सम्मान/कर सकेगा वही/
मानव की समस्या का सटीक निदान।" (पृ-97,शंबूक)

युधिष्ठिर समाज को फूल के उदाहरण से परिभाषित करते हुए महाप्रस्थान काव्य में अर्जुन से कहते हैं ---

"समाज अमूर्त होता है/ व्यक्ति नहीं
और व्यक्ति के फूलत्व को कुचल दोगे
तो वन/ गन्धमादन कैसे बन पाएगा पार्थ।" ॥पृ-113,म•प्र•॥

इसी संबंध में अरुण कुमार समिष्ट के स्थान पर व्यक्ति बोध-गाँधी से सार्त्र की ओर में कहते हैं कि समिष्ट की सार्थकता सिद्ध करने वाले स्वीकारते हैं कि समाज सर्वोपरि है और मानव कल्याण इसी में सम्भव है। व्यक्तिबोधइससे इतर धारणा है। वस्तुत: "व्यक्ति बोध" में यदि व्यक्ति के स्वतन्त्र अभिक्रम एवं पुरुषार्थ का महत्व है तो समाजवाद में समाज के सामूहिक अभिक्रम को गुण- गाथा। गाँधी की दृष्टि में व्यक्ति को समाज से अलग रखना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर और अन्याय है। इसलिए हमें अनियंत्रित व्यक्तिवाद एवं निरंकुश समिष्टवाद, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सामाजिक नियंत्रण के बीच का मार्ग ढूँढना चाहिए। वास्तव में व्यक्ति का आंतरिक व्यक्ति-बोध इतना प्रबल होता है कि वह अन्तत: समिष्ट को भुलाकर व्यक्ति के व्यामोह में फंस जाता है।॥8॥

अरविंद के अनुसार "मनुष्य का जन्म समाज के लिए नहीं, समाज मनुष्य के लिए सृष्ट हुआ है। जो मनुष्य के अंतस्थ भगवान को भूल समाज को बड़ा बना देते हैं। वे अपदेवता की पूजा करते हैं अथवा समाज पूजा मनुष्य जीवन की कृत्रिमता का लक्षण है, स्वधर्म की विकृति है।" ॥9॥

युधिष्ठिर भविष्य में समाज कैसे रहेगा की कल्पना करते हैं महाप्रस्थान में ---

"एक दिन/ युद्ध और आतंक ही
सामाजिकता के पर्याय बन जायेंगे।"(पृ-108, म.प्र.)

तो कल्पांतर काव्य में गाथाकार वर्तमान समाज को इस प्रकार दृष्टिगत करते हैं ---

"यह समाज है एक पिरामिड"(पृ-88, कल्पांतर)

जिसके तल में कोटि -कोटि साधारण जन हैं, जिन्हें रूखा - सूखा रोटी - कपड़ा मिलता है। जिनके लिए बाकी के सारे अभाव हैं और ये श्रमिक चींटियों की तरह परेड करते हैं। इन सबके ऊपर अलग आदिम मनोवृत्ति लें क्रूर अतिनायक बैठा है जो विश्व योजना बनाता है।

इसलिए इन सबसे हटकर कल्पांतर में एक नये समाज की कल्पना की गई है, जिसमें व्यक्ति अपनी नयी छवि बना सके---

"अग्नि-अणु कल्पांत हरतीं/विगत में छवि नवल भरतीं
नव मनुज-रवि उदय करतीं/ शमन कर दुख,युद्ध रचतीं
तुम समाज नया सुहावन ।"(पृ-18, कल्पांतर)

निष्कर्ष:---

समाज साधन है, यंत्र है। वह उद्देश्य नहीं हो सकता। निश्चल स्थगित समाज मृत मनुष्यत्व की कब्र बन जाता है। जीवन के स्फुरण से ज्ञान शक्ति के विकास से समाज का भी रूपांतर अवश्यंभावी है।

3.3. व्यक्ति-स्वातन्त्र्य:---

आरंभ में मनुष्य कुछ भी नहीं है यह वह स्वयं है, जो अपने आप को बनाता है। वह स्वयं अपना रास्ता खोजता है, योजनाएँ बनाता है और उन्हें कार्यान्वित करता है। अपना निर्माण करने के लिए वह किसी ईश्वर, समय, इतिहास या समाज का मुखापेक्षी नहीं है। वह बन्धनरहित पूर्णतया स्वतंत्र चेतना है क्योंकि वह आरंभ में कुछ भी नहीं है। अत: अपनी इकाई का निर्माण करने के लिए बाध्य है और इस स्वनिर्माण की महती योजना हेतु वह अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग करता है।

डॉ॰महावीर दाधीच के अनुसार वैयक्तिक स्वच्छन्दता ही चरम मूल्य है।[10]

डॉ॰अवधनारायण त्रिपाठी के अनुसार अस्तित्ववाद मनुष्य को बेहद स्वतन्त्र बनाने की चेष्टा करता है और स्वतंत्रता स्वयं में एक वरदान और अभिशाप, मुक्तिदायक और भयावह दोनों है। वे कहते हैं कि अस्तित्ववादी "स्वतन्त्रता" को विवशता की स्थिति में अत्यन्त अनिवार्य मानता है। इसके प्रति उसमें असीम जागृति होती है वह इसे आत्म - प्रतिष्ठा और व्यक्ति - प्रतिष्ठा के लिए परम उपयोगी मानता है।[11]

अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य का यही प्रामाणिक जीवन है कि वह अपने निजत्व को सुरक्षित रखे और किसी अन्य द्वारा अपनी स्वतंत्रता का अपहरण न होने दे।

जगदीश गुप्त निजी जीवन जीने की पैरवी करते हुए कहते हैं, निजी जीवन बिताने का हक हर किसी को होना चाहिए। यह अधिकार मनुष्य को जन्म से ही मिला है।[12]

जीवन में सुखोपलब्धि ही सत्य नहीं सार्थकोपलब्धि सत्य है। वैयक्तिक सुख सुविधाओं के लिए जीना जीवन का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता है और विचारशील मानव के लिए कदापि नहीं। पूर्णानुभव के निमित्त किसी बृहत मूल्य का अन्वेषण आवश्यक है जो पार्थिव ऐश्वर्यों की भूमिका को पार करता हुआ अपना अस्तित्व प्रमाणित करे व्यक्ति स्वातंत्र्य को निरूपित करे।

अस्तित्ववाद आशावाद का सन्देश प्रदान करता है। क्योंकि उसने मनुष्य का भाग्य डोर मनुष्य के हाथों में ही सौंप दिया है। मनुष्य का भाग्य उसकेनिजी हाथों में है क्योंकि उसे आत्मनिर्माण की स्वतंत्रता है। वह जो कुछ बनता है, अपने कार्यों और योजनाओं के द्वारा ही बनता है।

इसीलिए तो कनुप्रिया काव्य में कनु और कनुप्रिया दोनों ही मुक्ति में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार यह स्वातंत्र्य ही प्रेमियों को उस स्थिति में रख सकता है कि प्रेमी बन्धु रूप में पुन: जुड़ सकें। "समाज" में कनु के दर्द भरी पुकार में परिवर्तित हो जाने के बाद कनुप्रिया पुन: सब छोड़ छाड़कर आ जाती है और अपने इस प्रत्यावर्तन का कारण स्वातन्त्र्य बताती है ---

> "इसीलिए तब/मैं तुममें बूँद की तरह विलीन नहीं हुई थी,
> इसीलिए मैंने अस्वीकार कर दिया था
> तुम्हारे गोलोक का/ कालावधि हीन रास,
> क्योंकि मुझे फिर आना था।"(पृ-87, कनुप्रिया)

प्रवाद पर्व के राम भी मानवीय स्वातंत्र्य में विश्वास रखते हैं और इसलिए वे साधारण जन की अभिव्यक्ति को भी महत्व देते हैं वे लक्ष्मण से कहते हैं -----

"मानवीय स्वातन्त्र्य/ मानवीय भाषा और
मानवीय अभिव्यक्ति के/ प्रति इतिहास का सामना
वैसा ही/ मानवीय प्रतिगरिमा के साथ/
करना होगा लक्ष्मण।।" (पृ-50, प्र·पर्व)

अज्ञेय "अरी ओ करुणा प्रभामय में कहते हैं कि मानव बनी-बनायी प्रतिष्ठित राहों पर चलना नहीं चाहता क्योंकि ये रौंदे हुए रास्ते हैं। इनमें कुछ भी बाकी नहीं है। उसे पता है कि यह जो बनी-बनायी राह थी। उस पर चलकर मनुष्य को कुछ नहीं मिला, केवल भौतिक यान्त्रिकता, सत्ता प्रदत्त दारुण पीड़ा और महायुद्धों की आणविक आग, अत: वह कहता है कि "यह जो लीक हम को मिली थी अन्धी गली थी और इस पर चलकर मैं अपनी निजता क्यों खोऊँ।"(13)

"मैं अपने से ही सम्मोहित मन मेरा डूबा निज में ही
मेरा ज्ञान उठा निज में से, मार्ग निकाला अपने से ही"

मनुष्य का स्व इस जगत के नियमों से समझौता नहीं करता अपितु इन्हें तोड़कर नये मूल्यों का निर्माण करता है और स्व-स्फुरण हेतु अपनी निजता के स्त्रोत को महत्व देता है।(14)

यही कारण है कि आत्मदान की अहल्या भी बंध कर रहना नहीं चाहती। वह नहीं चाहती कि कोई उस पर अंकुश लगाये। यह उसे सहन नहीं वह प्रश्न करती है---

"वृत्तियों के ऐरावत/ कब तक बंधे रहेंगे कच्चे तागों से निरुपाय
एक ही जगह पड़ते अंकुश के/ कब तक नहीं बनेंगे घाव।"
(पृ-15, आत्मदान)

हर कदम पर अवरोध है जिनकी मार खाकर हम नव नूतन अनुभव पाते हैं और इनके आधार पर अपनी राह का निर्माण करते हैं। "अन्य" की बुद्धि आयोजना को स्वीकार करना अपनी स्वतन्त्रता को खो देना है। स्वतन्त्रता चली जायगी तो "मैं" मैं नहीं रहूँगा। लक्ष्मीकांत वर्मा जी कहते हैं। (15)

"मैं तुम्हारी उधार ली हुई दृष्टि लेकर क्या करूँगा
क्योंकि वह दृष्टि मेरी नहीं होगी, तुम्हारी होगी
मेरे अस्तित्व के नाश पर वह बनी रहेगी।।"

प्रवाद पर्व के राम को कुछ ऐसा ही अनुभव होता है उन्हें ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वे एक नाटक के पात्र हैं लेकिन नाटक में उन्हें नाममात्र की भी स्वतन्त्रता नहीं है ----

"परन्तु/ यह कैसा नाटक है सीता
जहाँ कोई अभिनेता स्वतन्त्र नहीं।" (पृ-63, प्र०पर्व)

शम्बूक पक्षी के स्वतन्त्र विचरण तथा मानवीय स्वतन्त्रता की तुलना करते हुए निम्नलिखित शब्दों में अपना क्षोभ प्रकट करता है।

"नीचे गिरे होने का दुख झेल
मैं ने भी चाहा था/ इसी भाँति/ जीवन में
अपनी स्वभाविक गति/ पा लेना।" (पृ85, शम्बूक)

लेकिन स्वतन्त्रता ऐसी तो नहीं होनी चाहिए कि वह दूसरों के लिए अराजक सिद्ध हो/ प्रवाद पर्व में साधारण धोबी द्वारा सीता के प्रति तर्जनी लगाए जाने पर/ लक्ष्मण कहते हैं----

"स्वतन्त्रता का अर्थ/ अराजकता नहीं होता" (पृ॰72॰प्र॰पर्व)

धर्मवीर भारती के अनुसार "आत्मनिष्ठता ही मेरी शक्ति है, स्वतन्त्र मार्ग है। इस मार्ग पर चलकर एक दिन मुझे सत्य अवश्य मिलेगा। शर्त है--चलते चले जाना। स्व आस्था पर टिका मनुष्य ही अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करता हुआ सांसारिक आपदाओं के तिमिर को काटकर जीवन को अर्थ प्रदान कर सकता है। (16) मनुष्य की आत्मनिष्ठता एवं स्वतन्त्रता का चित्रण माथुर ने "खत" के माध्यम से किया है। "खत" हवा की लहर - सा आजाद है। वह न बन्धन जानता है। हठ नहीं वह मानता है। वह जोर, दबाव, डर के कायदे पहचानता है। वह परम्परा पोषित नहीं" (17) हर बार स्वत: नया है ---

"खत नहीं है खिंची लीक लकीर
कि जिस पर कदम रख चलना जरूरी है
वह खुले आजाद मन की।/ है सही तस्वीर।"
(पृ-26;

निष्कर्ष:---

स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। वह एक स्वतन्त्र इकाई है। अस्तित्ववादी मानव किसी भी प्रकार के बन्धन स्वीकार नहीं करता। वह तन-मन से स्वतन्त्र रहना चाहता है।

■.4· व्यष्टिगत एवं समिष्टगत मूल्य :---

जीवन मूल्य उन्हीं तत्वों, स्थितियों को स्वीकार किया जा सकता है, जिनसे जीवन में उत्कृष्टता, सार्थकता एवं औचित्य की रक्षा अथवा विकास किया जा सके। आस्था, विश्वास, श्रद्धा, सत्य एवं मर्यादा जीवन के ऐसे मूल्य है, जिन्हें सामयिक परिस्थितियाँ नष्ट नहीं कर सकतीं। प्रतिशोध, कुण्ठा एवं आत्मघात आदि को भी जीवन -मूल्य माना जा सकता है। क्योंकि ऐसे समय में व्यक्ति इन्हीं में स्वजीवन का उत्कर्ष समझता है।

डॉ·विश्वंभर नाथ उपाध्याय के अनुसार विचार तब तक मूल्यों की शक्ल नहीं लेते, जब तक सामाजिक आधार में समरूप परिवर्तन नहीं आ जाते। कई बार एक ही समाज में भिन्न वर्गों और स्तरों पर भिन्न - भिन्न विचार तथा मूल्य प्रचलित और अंगीकृत होते हैं तथा उनमें प्रतिस्पर्धा का या विरोध का भाव भी रहता है, एक विशेष राजनीतिक , आर्थिक स्थिति में जो मूल्य बनते हैं। वे जब बदलती हुई राजनीतिक, आर्थिक स्थिति में नाकामी होकर अपनी उपयोगिता खोने लगते हैं तो नई जीवन स्थितियों में से नये विचार पैदा होते हैं और धीरे - धीरे मूल्यों की शक्ल लेने लगते हैं।"§।8§

किसी भी समाज में मूल्यों में परिवर्तन की प्रक्रिया अकस्मात न होकर क्रमशः विकसित होती हुई, यानी "रिवोल्यूशन" के माध्यम से नहीं। "इवोल्यूशन" के माध्यम से होती है। अतएव पुराने मूल्यों और नए विचारों में लगातार टकराव होते हैं और सामयिक आधार में नई जीवन स्थितियों के अनुरूप परिवर्तन की प्रक्रिया अपना एक चक्र पूरा कर

लेती है, तो पुराने ढाँचे से नाभिनालबद्ध मूल्य भर जाते हैं। मगर तब तक जीवन स्थितियों का एक नया आयाम खुलने लगता है और उससे उद्भव नये विचार स्थापित मूल्यों से टकराने लगते हैं।

व्यक्ति की अस्मिता का आग्रह और प्रतिष्ठा आज के युग का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध दूसरा है, एक ओर वह समाज का निर्माता है, तो दूसरी ओर उसका अभिन्न अंग भी। व्यष्टि और समष्टि के अन्त - सम्बन्धों की व्याख्या एवं व्यक्ति के निजीपन की स्थापना आज के ज्वलंत प्रश्नों में से एक है।

इसलिए तो इतिहास पुरूष जो सृष्टि के रचयिता हैं। वे मानव को अपने पुरूषार्थ के बल पर नये मूल्यों की रचना करने को कहते हैं।

> "नये बोध, दृढ़तर विवेक, नये मूल्यों की
> खोजनिरत पुरूषार्थ।" (पृ- 47, इ·पु·)

युधिष्ठिर भी मूल्यों को ही महत्व देते हैं तभी तो वे महाप्रस्थान में कहते हैं। भीम से

> "भीम! मैं राज्यान्वेषी नहीं/मूल्यान्वेषी रहा हूँ।"
> (पृ-78, म·प्र·)

नचिकेता मृत्यु की भयंकरता का केवल अनुभव करता है। अत: उसके सामने महत्वपूर्ण प्रश्न है। उसके भय से विमुक्त होना। इसी भक्ति के लिए वह मृत्यु के भय से मुक्ति पाले। सच है जीवन की पूर्णानुभूति के लिए किसी ऐसे मूल्य के लिए जीवन आवश्यक हो जाता है, जो व्यक्ति में जीवन की अनश्वरता की ओर सार्थक संकेत कर सके। यह संकेत ही मृत को जीने का नया अर्थ समझा सकता है। यही वह स्थिति है जो

भटकाव में भी जीवन मूल्यों की तलाश के लिए प्रेरित करती है। ऐसी परिस्थिति में उसके मन में यह बात आती है---

"यदि पीना ही हो जहर
उसे दो तरह पिया जा सकता है --
डरते - डरते/ मरने से पहले ही मरकर
या उसी चरम भय से/ कोई अन्ध बल पा,
जीवन से भी अमर उठकर।"(पृ-01, आत्मजयी)

और इन मूल्यों को विज्ञान ने अपने उपकरणों से दबोच लिया है। कल्पांतर काव्य में आज के युग को प्रतिबिंबित किया है, शैतान के रूप में किस तरह से मूल्यों का ध्वंस हो रहा है ---

"हिंसा/ मूल्य-ध्वंस, घृणा/ गुण है शैतान का।"
(पृ-85, कल्पांतर)

उनके लिए मानव के कोई भी मूल्य महत्व नहीं रखते कल्पांतर काव्य में ---

"मूल्यहीन निरपेक्ष/ कोरे विज्ञानवाद "।(पृ-38, कल्पांतर)

और ऐसे मूल्यहीन दुनिया को देख इतिहास पुरूष काव्य में इतिहास पुरूष कहते हैं ---

"मूल्यसूनी दुनिया का देख - देख अर्थहीन
देश - काल में प्रसार
मानव की जिन्दगी के दु:सह एकान्त के
कोस रहे कलाकार।।"(पृ-21, इतिहास पुरूष)

क्योंकि अब मूल्य बाज़ार में बिक रहे हैं। कल्पांतर काव्य में--

"अर्थ-उपनिवेश बनते है/ मूल्य बज़ारों में बिकते हैं।"
(पृ-32, कल्पांतर)

और यही नहीं विज्ञान रहे - सहे मानवमूल्य को नष्ट करने का हर संभव प्रयास कर रहा है। कल्पांतर काव्य में प्रचारक कहते हैं ---

"हम व्यक्ति - व्यक्ति के बीच,
उठा देंगे नफरत के परदों को
सारे मानव-मूल्यों को विकृत-कलुषित कर।"
(पृ-70, कल्पांतर)

जैसे मूल्य बाजार में बिकते हैं वैसे ही पैसों से मूल्य खरीदें भी जा सकते हैं खरीदना चाहता है --

"दुनिया के मन का सम्मोहन हम कर लेंगे
मिथ्या मूल्यों को फैलाकर।।" (पृ-71, कल्पांतर)

मूल्यों का विघटन हो रहा है। पाण्डवता के पुण्य और करुणा, विवेक धर्म का संकल्प लेकर बढ़नेवाले युधिष्ठिर वास्तव में पाण्डवता के दुर्भाग्यों के आदि स्रोत भी है जिनके हाथों से द्यूत - गन्ध आती है, और जिन्होंने युद्ध में असत्य का आश्रय लिया। मूल्यों का विघटन ही युद्ध की भूमि तैयार करता है, मानवीय सदाशयता के शून्य होने पर युद्ध की स्थिति जन्म लेती है और व्यक्ति के अन्तर का सत्य खंडित हो जाता है ---

"मूल्य और मानवी उदात्ततायें/जब सर्वजनिक जीवन में
हो जातीं हैं शेष/ तभी होता है युद्ध

विजय के सम्मुख/ मूल्यवानता का क्या है अर्थ?"
§पृ-45, म•प्र•§

यही स्थिति द्रोणाचार्य की थी चूँकि राज्य उनका भरण - पोषण कर रहा था। इसलिए युद्ध में उनके सम्मुख हुए अनाचार को अपने आखों से देखने के लिए वे विवश रहे। कितना बड़ा मूल्य उन्हें चुकाना पड़ रहा था। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं। अर्जुन से ----

"कितना बड़ा मूल्य
एक विवेकवान को चुकाना पड़ा सत्यखायी।"§पृ-122,म•प्र•§

युधिष्ठिर प्रज्ञा अग्नि को वहन करने के लिए अपने व्यक्तित्व को प्रतिक्षण हिम में विसर्जित करते हैं। वे महाप्रस्थान में अर्जुन से कहते हैं ---
"----------- व्यक्ति को
"कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है।"§पृ-125,म•प्र•§

प्रवाद पर्व के श्रीराम को भी एक साधारण जन की अभिव्यक्ति पर उनके व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है---

"व्यक्तित्व का यह कितना बड़ा
हाहाकार भरा/ दुर्दान्त मूल्य है सीता।"§पृ-61,प्र•पर्व§

अंधायुग के धृतराष्ट्र जिंदगी भर अपने वैयक्तिक मूल्य के पीछे भागते रहे और आखिर में उन्हें इसका बोध, होता है कि वह सब उनकी ज्ञानहीन आस्थाएँ थीं---

"सब कुछ बह गया/मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ।"
(पृ-21, अंधायुग)

सब कुछ बह जाने के बाद अब कल्पांतर काव्य में नये मूल्य पदार्पण कर रहे हैं ---

"छूट रही है एक - एक कर मानवता खूनी पंजों से
नये साम्य - मूल्यों का सूरज निकल रहा है।"
(पृ-112, कल्पांतर)

अब, चूँकि नये मूल्य उभर आये हैं। इसलिये अब श्रेष्ठतर इंसानों की अपेक्षा है। कल्पांतर काव्य में ---

"और परिष्कृत होते हुए मूल्य - मानवों की
आने वाले और श्रेष्ठतर इंसानों की।"(पृ-20, कल्पांतर)

इसलिए तो आत्मदान की अहल्या भी मूल्यों को महत्व देते हुए कहती है। अपनों को भूल परायों को गले लगाना स्व की सच्ची पहचान नहीं यह तो ---

----------- मात्र आवर्तन है/ जड़ता का
संशय - रहित बद्ध मूल्यों का।।" (पृ-41, आत्मदान)

किसी भी मानव - मूल्य की कल्पना हमें आन्तरिकता की ओर उन्मुख करता है। मूल्य का आत्यंतिक की यह परिणति अवश्यंभावी होती है और तब प्रेम का विवेक से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। कनुप्रिया की "बावरी मित्र" को कभी - कभी न समझ पाने की नादानी अक्सर घेरती है।

"जितनी समझ तुमसे अब तक पाई है कनु,
उतनी बटोर कर भी/ कितना कुछ है जिसका
कोई भी अर्थ मुझे समझ नहीं आता है।"(पृ-74, कनुप्रिया)

इसलिए युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से कि वे किसी भी मूल्य पर अपनी प्रजा को अपने ही सम्राट रूप के सामने विवश या विनत होते नहीं देख सकते ---

"मैं अपने इस प्रजा रूप को/ किसी भी मूल्य पर
अपने ही सम्राट रूप के सामने/ विवश या/
विवश होते नहीं देख सकता था।"(पृ-127, म.प्र.)

और विभीषण अपने दक्षिण प्रदेश को किसी भी मूल्य पर दूसरों का उपनिवेश बनने देने के लिए सहमत नहीं थे। वे राम से कहते हैं ---

"यह स्वीकार नहीं अब/ किसी मूल्य पर।"(
(पृ-79, संशय की रात)

और राम, राजा और प्रजा के बीच व्यष्टि और समष्टि के बीच एक सेतु बनकर रह जाते हैं। इसलिए शम्बूक उनसे प्रश्न करते हैं---

"राम तुम राजा बने किस हेतु हो?
व्यष्टि और समिष्ट मन के सेतु हो।"(पृ-51, शम्बूक)

प्रवाद पर्व के शासक राम पार्षद के निर्णय को ठुकराकर सीता जी को निष्कासित करते हैं और अपनी पुष्टि का पर्याप्त तर्क देते हैं---

"सत्ता के गोमुख पर बैठकर/उसके सारे शक्ति जलों को
अपने ही अभिषेक के लिए/सुरक्षित रखना/ यह कौन सा दर्शन है लक्ष्मण।
(पृ.-41, प्र.पर्व)

महीपसिंह संचेतना में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर विचार करते है। उनके अनुसार दोनों का सम्बन्ध पर्याप्त विवादास्पद है। प्रश्न है कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध क्या हो? व्यक्ति की गरिमा को महत्व देना क्या समाज का विरोध है।"॥19॥ नरेश के पास उत्तर है युधिष्ठिर के माध्यम से ----

"फूल का एकाकीपन
अरण्य की सामूहिकता की शोभा है
विरोधी नहीं।"॥ ॥पृ-113, महा प्रस्थान॥

और यही सामूहिकता हिमपथ में वैयक्तिकता का रूप धारण करती है। द्रौपदी के महाप्रस्थान में अर्जुन को सहायता के लिए पुकारने पर युधिष्ठिर कहते है ---

"पार्थ! या किसी को पुकार कर क्या होगा?
ऊर्ध्वता पर पहुँच कर सारी सामूहिकता
वैयक्तिकता में परिणत हो जाती है।"॥पृ-73, महा प्र॰॥

एक कंठ विषपायी का सर्वहत युद्धोपरान्त विकसित ह्रासशील मूल्यों का भग्न हृदय है। विकृति उसमें है वही विकृति जिसे सारा समाज भोग रहा है। भूख सब जगह है। उसमें अन्तर हो सकता है, कोई पेट की भूख से पीड़ित है तो कोई अधिकारी लिप्सा से, किन्तु जीवन की भूख प्राय: कम ही लोगों में देखी जा सकती है ---

"किन्तु जीवन की भूख
बहुत कम लोगों में होती है।" ॥पृ-65, एक कंठ विषपायी॥

निष्कर्ष:--

मनुष्य की आंतरिक शक्तियों के प्रति आस्थावान यह चिंतन मानता है कि मनुष्य को इस संसार में अपने लिए स्वयं ही मूल्यों का चयन करना होता है क्योंकि इन्हीं मूल्यों के कारण वह एक आदर्श जीवन जी सकता है।

3·5· व्यवस्था :---

अरविंद के अनुसार "व्यवस्था जीवन का नियम अवश्य है पर कृत्रिम व्यवस्था नहीं। सबसे सच्ची व्यवस्था वह है, जो अधिकतम संभावनीय स्वाधीनता पर आधारित हो, क्योंकि स्वाधीनता ही सशक्त विविधता की ओर साथ ही स्वप्राप्ति की शर्त है। (20)

लेकिन स्वाधीनता के बदले आज की व्यवस्था स्वतंत्र व्यक्तियों को या तो समाप्त कर देती है या उन्हें इतना विवश बना देती है कि वे राज्य व्यवस्था की निरंकुशता को कभी चुनौती ही न दे पाये। महाप्रस्थान में राज्य व्यवस्था के संबंध में युधिष्ठिर के भी यही विचार हैं----

"उनका अग्नि व्यक्तित्व
राज्य-व्यवस्था की निरंकुशता को
कभी चुनौती ही न दे पाए।" (पृ-123, म·प्र·)

यज्ञ का विध्वंस हो जाने पर सर्वहत की दिग्भ्रमित स्थिति को अकुलाहट पीड़ा और "विवशता" में "देखा" जा सकता है। वह दुखान्त घटनाक्रम के बाद की स्थितियों को भोग रहा है। जनता को ऐसी नि

स्थितियाँ भोगनी ही होती हैं। यही उनकी विवशता है ----

"शासकों की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है।" §पृ-41, एक कंठ विषपायी§

और ऐसे शासक और उनकी शासन व्यवस्था से पीडित सर्वहत व्यवस्था पर कठोर प्रहार करता है --

"तुम शासक हो
उनकी स्मरण - शक्ति दुर्बल हो जाती है
छोटी - छोटी बातें उन्हें याद नहीं आती हैं।
§पृ-110, एक कंठ विषपायी§

छोटे व्यक्तियों का ही नहीं, महान व्यक्तियों का भी समाज में कोई महत्व नहीं रह गया है। महाप्रस्थान में गुरु द्रोणाचार्य के संबंध में युधिष्ठर कहते हैं ---

"अपने षड्यन्त्रों/ कुचक्रों में सहयोगी बनाकर
राज्य ने उस मेधावी को/ एक क्रीतदास से अधिक
कोई महत्व नहीं दिया।"§ पृ-122, म•प्र•§

और विदुर जो आखिर तक धृतराष्ट्र और माता गांधारी के साथ रहें लेकिन व्यवस्था उन्हें भी अर्थहीन चरित्र बना कर छोड़ गयीं। युधिष्ठर कहते हैं अर्जुन से कि राजवंशी होने पर भी राज्य कृपा के पात्र न होने के कारण उनकी ज्ञान सम्पन्नता के लिए किसी भी कौरव के मन में आदर नहीं था---

"परम भागवत विदुर/एक अर्थहीन चरित्र बनकर रह गये।"
§पृ-122, म•प्र•§

यह स्थिति विदुर और द्रोणाचार्य की ही नहीं बल्कि पराजित नगरी में भविष्य ज्ञाता याचक भी टुकड़े के लिए हाथ पसारता फिरता है---

"जिनमें बूढ़ा झूठा भविष्य याचक - सा
है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसार।" ﴾पृ-29, अंधायुग﴿

आज की वर्तमान व्यवस्था वर्ग सीमित स्वार्थ से अंधी हो गयी है कि व्यक्ति के सत्कर्मों को भी अपराध मान लेती है। शम्बूक कहते हैं-

"वह विषम/ घातक व्यवस्था
शीघ्र ही हो/ अस्त"। ﴾पृ-45, शम्बूक﴿

हर व्यक्ति व्यवस्था से पीड़ित है। एक कंठ विषपायी का सर्वहत जो प्रजा का प्रतिनिधि है वह अपनी भावना को इस प्रकार से रखता है, जैसे कि वह लहलहाता हुआ खेत है। जिस पर राजा दक्ष ने अनेक पगडंडियाँ बनायीं और प्रजा होने के नाते -

"हम नहीं बोले - बिछे रहे/ हमने पथ दिया सब को
क्योंकि हम प्रजा थे । ﴾पृ-111, एक कंठ विषपायी﴿

कुछ पीडित हैं शासन की व्यवस्था से तो कुछ असंतुष्ट हैं । उनकी अपनी स्थिति को देखकर। अंधायुग के प्रहरी नये शासकों को देख कर कहता है ---

"हम जैसे पहले थे/ वैसे ही अब भी हैं
शासक बदले/ स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं।" ﴾पृ-109, अंधायुग﴿

ऐसी ही वर्तमान व्यवस्था को कल्पांतर काव्य में दृष्टिगत किया है। न्याय और अभय के वादे भूलकर केवल आश्वासनों से ही जनता का

पेट भरना, भरी व्यवस्था पर एक चोट है -- ऐसी व्यवस्था में मानव व्यक्तित्व कहाँ तक बरकरार रहेगा ---

"जन को न्याय, अभय देने के
जन मंगल के वे पैम्फलैटी वायदे
डूब गये एकाधिपत्य की दल-सत्ता के गर्त में"।।
8पृ-82, कल्पांतर8

ऐसी ही कुछ स्थिति हमें शम्बूक काव्य में दिखायी देती है, जहाँ श्रीराम न्याय को अनदेखा कर शम्बूक का वध कर देते हैं। शम्बूक कहते हैं कि जब बुद्धि से हरा नहीं पाये उन्हें तो वध की भाषा से हरा दिये---

"केवल व्यवस्था के तर्क की/ पैनायी धार से
काट कर मेरा स्वत्व/ वध की क्रूर भाषा से।"8पृ-100,शंबूक8

ऐसा जान पड़ता है कि व्यवस्था अन्धी होती है। किसी की बलि से किसी की प्राण रक्षा अंधता नहीं तो और क्या हो सकती है। शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं----

"किसी की बलि से/ किसी की प्राण रक्षा
अंधता से युक्त/ यह आदिम व्यवस्था।"8पृ-78, शम्बूक8

" जब व्यक्ति अधिकारों से वंचित हो फिर भी अगर वह अधिकार जताए तो यह न्याय संगत नहीं प्रतीत होता शम्बूक काव्य में श्रीराम अवध से निर्वासित हुए थे और उनके हाथ में व्यवस्था का अधिकार तक नहीं था फिर भी वे परदेश में अपना अधिकार जमा कर शम्बूक का वध करते हैं।" शम्बूक कहते हैं------

"व्यवस्था का तब तुम्हारा कुछ न था अधिकार
मात्र तुम थे एक निर्वासित महीप कुमार।।" (पृ-52, शंबूक)

और ऐसे निष्कासित शासक से शम्बूक कहते हैं कि अच्छी व्यवस्था के लिए समता बोध की आवश्यकता होती है।

"सहज" समता हो सभी में व्याप्त
व्यवस्था के हेतु यह पर्याप्त।।" (पृ-68, शम्बूक)

अगर यह समता बोध न रहे तो राजाओं से भी अधिक क्रूर हो जायेगी। राज्य - व्यवस्थाएँ। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं --

"सुदूर भविष्य में
राज्य से भी अधिक अमानवीय हो जाएँगी।
ये राज व्यवस्थाएँ।" (पृ-108, म.प्र.)

इसी सन्दर्भ में डा.संतोष कुमार तिवारी कहते हैं धर्म और वैचारिकता राज्य को नहीं सौंप देना चाहिए। कारण यह कि धर्म का उत्स राज्य में नहीं व्यक्ति की प्रज्ञा में होता है। करुणा और प्रज्ञा मानवता के लिए अनिवार्य है। राज्य व्यवस्था मानव के विरुद्ध सबसे बड़ा संघबद्ध षड्यन्त्र है।(21) अतः मानवीय उदात्तता के लिए व्यक्ति की गरिमा सर्वोपरि होनी चाहिए---

"राज्य की गरिमा को/व्यक्ति की गरिमा का यथार्थ
होने दो
किसी भी व्यवस्था का
व्यक्ति से बड़े हो जाने का अर्थ होगा।/अमानवीय तंत्र।"
(पृ-112, म.प्र.)

युधिष्ठर के अनुसार व्यवस्था का मुखौटा पहनने वाला हरनियंता का मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है। महाप्रस्थान में युधिष्ठर कहते हैं कि दुर्योधन ही दुर्विनीत नहीं था---

"व्यवस्था का मुकुट धारण करते ही
किसी भी व्यक्ति का/ मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है।"
8पृ-123, म.प्र.8

और ऐसी सत्ता मानव में शून्यता भर देती है। महाप्रस्थान में युधिष्ठर कहते हैं----

"यह सत्ताधारी/ यह राज्य व्यवस्था
एक दिन/ प्रत्येक व्यक्ति के भीतर
विचार शून्यता का/अन्धा कारगार निर्मित कर दे।"
8पृ-116, म.प्र.8

और ऐसा राज्य जो अंधे राजा द्वारा परिचालित हों वहाँ की व्यवस्था कैसी होगी? अंधायुग में प्रहरी के शब्दों में ---

" "अंधे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे?
दीख नहीं पड़ता कुछ।।" 8पृ-16, अंधायुग8

राज्य व्यवस्था की नींव में कराहता मनुष्य का होना कितनी दर्दनाक स्थिति है मानव की। युधिष्ठर महाप्रस्थान में अर्जुन से कहते हैं---

"राज्य व्यवस्था की नींव में
कराहते मनुष्य का होना
एक अनिवार्यता है अर्जुन।।" 8पृ-112, म.प्र.8

और ऐसी राज-व्यवस्था को भंग करने का किसी को अधिकार नहीं ।"शम्बूक" काव्य में राम कहते हैं शम्बूक से----

"व्यक्ति कोई/ यदि व्यवस्था भंग करने का
करे संकल्प/ उसको प्रश्न का/ होता नहीं अधिकार।।"
§पृ-47, शम्बूक§

अव्यवस्थित हुई व्यवस्था का फिर से व्यवस्था क्रम में नवीकरण होना जीवन का अगला चरण होता है-- आत्मदान काव्य में भी यही आशा व्यक्त की गई है---

"यह जीवन के अगले चरण का/ नवीकरण है।"§पृ-10,आत्मदान§

निष्कर्ष:---

हर व्यवस्था के अपने कुछ अन्तर्विरोध होते है और कुछ भीतरी असंगतियाँ होती हैं। अत: सही व्यवस्था वही होती है, जिसमें समता-बोध रहता है।

3•6• मर्यादा:---

मर्यादा एक ऐसा जीवन मूल्य है जिसे सामयिक परिस्थितियाँ नष्ट नहीं कर सकती हैं। यह जीवन का परम तत्व है।

मर्यादा जिंदगी का अहम् तत्व होता है। और चरित्र पर उठाया गया प्रवाद क्षम्य नहीं होता। प्रवाद पर्व में राम का अन्तर्मन कहता है--

"एक साधारण जन ने/तुम्हारी राजसी गरिमा
और चरित्र - मर्यादा की ओर
अपनी अनाम तर्जनी उठायी है।" (पृ-27, प्र॰पर्व)

और राम ऐसे महापुरुष हैं जो सदा इतिहास की प्रत्यंचा पर बाण की मर्यादा बने रहे। सीता कहती है किसी के मोह का यहाँ कोई अर्थ नहीं रखता ---

"जो जीवन भर/ इतिहास की प्रत्यंचा पर
केवल बाण की मर्यादा बन/ चढा रहा।" (पृ-38 ,प्र॰पर्व)

प्रत्येक मानव को लोक की मर्यादा को निभाने के लिए ऐसे बहुत कार्य करने पड़ते हैं जो उनकी इच्छा के प्रतिकूल होते हैं। एक कंठ विषपायी में वीरिणी कहती है दक्ष से ---

"ऐसे बहुत कार्य करने पड़ते हैं/ जिनसे
लौकिक मर्यादाओं का पालन होता है।" (पृ-11,एक कंठ वि॰)

समाज की लौकिक मर्यादाओं का पालन हर एक को करना होता है। कनुप्रिया काव्य में कृष्ण द्वारा यह कहलवाना कि "माथे पर पल्ला रक्खो", भारतीय समाज में शादी-शुदा स्त्री की एक झाँकी देता है-- कनुप्रिया पूछती है कृष्ण से ---

"कि अपने इसी निजत्व को, अपने आंतरिक अर्थ को
मैं सदा मर्यादित रक्ख, रसमय और पवित्र रक्खूँ ।।"
(पृ-33, कनुप्रिया)

जिस तरह से लौकिक मर्यादा का ध्यान हर व्यक्ति को रखना पड़ता है। उसी प्रकार से शासन की भी मर्यादा होती है। एक कंठ विषपायी में इन्द्र शासन की मर्यादा के लिए शस्त्रों से उत्तर देना चाहते हैं ---

"मात्र एक व्यक्ति ही नहीं प्रभु
यह शासन की मर्यादा है।" ﴾पृ-96,एक कंठ विषपायी﴿

और मर्यादा को तोड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि तोड़ी हुई मर्यादा अजगर के रूप में लपेट लेती है। अंधायुग काव्य में भीष्म पितामह गुरु द्रोण ने तथा श्रीकृष्ण ने भी यही कहा था। लेकिन धृतराष्ट्र कौरवों की हार पर ही इसका अनुभव करते हैं----

"मर्यादा मत तोड़ो/ तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर - सी
गुंजलिका में कौरव वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी - सा तोड़ डालेगा।"﴾पृ-19, अंधायुग﴿

और अगर प्रकृति की नियम, मर्यादा से कोई खिलवाड़ करता है तो प्रकृति भी सारी दुनिया को भस्मीकृत कर देती है। यही कल्पांतर काव्य में पराविद्युता कहती है, स्वर्ण दैत्य से ---

"है छड़े छाड कर रहा
प्रकृति की नीति नियम मर्यादा से
यदि क्षुब्ध, क्रुद्ध हो गयी प्रकृति
वह भस्मीकृत करेगी सारी दुनिया को।"﴾पृ-61, कल्पांतर﴿

और आखिरकार अठारह दिनों के भयंकर महा संग्राम में मर्यादा टुकड़े - टुकड़े हो बिखर जाती है। पांडवों ने कुछ कम तोड़ा है और कौरवों ने कुछ ज्यादा अंधायुग में ---

"टुकड़े - टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा"॥पृ-13,अंधायुग॥

ऐसी टूटी हुई रोगी मर्यादा की रक्षा करनी पड़ती है अन्धे राजा के प्रहरियों को। प्रहरियों ने आज कल के राजाओं और उनकी अंधी संस्कृतियों पर कटाक्ष किया है। धृतराष्ट्र के प्रति वे कहते हैं ---

"जिसके अन्धेपन में मर्यादा/गलित अंग वेश्या सी
उस रोगी मर्यादा की/ रक्षा हम करते रहे
सत्रह दिन।।" ॥पृ-15, अंधायुग॥

क्योंकि उनकी अपनी कोई मर्यादा नहीं थी इसलिए अंधायुग के प्रहरी उस अंधी नगरी की रोगी मर्यादा का पहरा देते रहे---

"हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी मर्यादा"॥पृ-28, अंधायुग॥

लेकिन मर्यादा का अतिक्रमण केवल साधारण जन ही नहीं करते बल्कि महान योद्धा भी करते हैं। अठारह दिन के महायुद्ध में अधर्म से युद्ध करने पर अंधायुग के अश्वत्थामा पांडवों के संबंध में कहते हैं---

"पांडवों की मर्यादा
मैं ने आज देखी द्वन्द्व युद्ध में।"॥पृ-66, अंधायुग॥

पांडव ही नहीं मर्यादित श्रीकृष्ण भी मर्यादाहीन कूट बुद्धि से दुर्योधन को भीम द्वारा हरा कर जीत हासिल करते हैं, जिसे देख बलराम कहते हैं-----

"जानता हूँ मैं तुमको शैशव से
रहे हो सदा से मर्यादाहीन कूट बुद्धि।" ﴾पृ-63, अंधायुग﴿

अश्वत्थामा की इस स्थिति के पीछे वे परिस्थितियाँ उत्तरदायी है, जिन्होंने अश्वत्थामा को इस रूप में परिवर्तित होने पर मजबूर किया।

श्रीकृष्ण जिन्हें सभी प्रभु कहते थे उन्होंने मर्यादा को जब चाहा अपने ही हित में किया। गांधारी कहती है---

"जिसको तुम कहते हो प्रभु/उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया/वंचक है।"
﴾पृ-24, अंधायुग﴿

और ऐसी बुद्धि रखने वालों की क्या प्रशंसा की जाएगी। श्रीराम मानते हैं कि शम्बूक ने व्यवस्था का उल्लंघन किया, वह यह कि शूद्र होते हुए उसने तपस्या की है। राम कहते हैं कि इस मर्यादित आचरण के कारण शम्बूक को दण्ड स्वीकारना पड़ेगा शम्बूक उनकी इस बुद्धि को देख कहते हैं ---

"हे राम/ मर्यादा तुम्हारी/ क्या प्रशंसा करूँ
अपनी बुद्धि से/ ज्यादा तुम्हारी ।।" ﴾पृ-47, शम्बूक﴿

तभी तो गांधारी कहती है कि वे मर्यादा के इस आडंबर को अच्छी तरह पहचानती है। इसलिए उसने अपनी आँखों पर पट्टी बांध ली थी। वह कहती है ---

"मैं ने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था
धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब है केवल आडम्बर मात्र।।"
﴾पृ-23, अंधायुग﴿

इसके समरूप आत्मदान की अहल्या भी तपस्या को यंत्रणा मानती है, जिसकी यांत्रिक क्रियाओं को केवल दोहराते जाना है। गौतम ऋषि जो तपस्या में ही लीन रहते हैं अतः अहल्या को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह सब छूछी मर्यादा हो और वह प्रश्न करती है---

"कब तक संभाले रख सकता है कोई
छूछी मर्यादा।।" (पृ-3, आत्मदान)

सीता जानती है राम जानते हैं कि सीता निष्कलंक है सारी प्रजा तक यह मानती है कि उनके मर्यादित चरित्र पर लगाया यह आरोप गलत है। लेकिन सीता उस तर्जनी को स्वीकार लेती है। क्योंकि वह यह मानती है कि ऐसी मर्यादा का कोई अर्थ नहीं जहाँ किसी एक को भी उसके प्रति शंका हो, वह प्रश्न करती है राम से कि उनकी राज्य गरिमा इतनी व्याकुल क्यों है---

"और आपकी राज्य गरिमा
किस आसक्ति के कारण व्याकुल
और क्यों।" (पृ-80, प्र॰पर्व)

इतिहास पुरुष काव्य में क्लिओ पेट्रो भी यही मानती है कि सीता निष्कलंक है। वह कहती है ---

"तुम पवित्र/ तुम धन्य, सभ्यता की मर्यादा।" (पृ-62॰इ॰पु)

सीता यह चाहती है कि उनकी प्रजा निर्भय होकर अभिव्यक्त करे और उसकी अभिव्यक्ति की हर हाल में रक्षा की जाना चाहिए, जिसके लिए उन्हें परीक्षा देना पड़े तो वे अवश्य देंगी, वह प्रवाद पर्व में कहती है---

"मैं आपकी राज्य गरिमा
और अपनी चरित्र मर्यादा के लिए
कोई सी भी परीक्षा दे सकता हूँ।" (पृ-81, प्र॰पर्व)

यह सही है कि हर व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है लेकिन इसका मतलब यह नहीं होता कि राज्य की शीर्षतम व्यक्तियों की चरित्र मर्यादा पर वह आँच लगाता चला जाये। लक्ष्मण कहते हैं - प्रवाद पर्व काव्य में ---

"राज्य और राष्ट्रीय गरिमा तथा
शीर्षतम व्यक्तियों की चरित्र-मर्यादा पर
आँच आये।" (पृ-92, प्र॰पर्व)

शीर्ष से शीर्षतम है शंकर लेकिन उन्हें भी दक्ष अमर्यादित करते हैं। फलस्वरूप सती दु:खी होती है और यज्ञ में कूदकर शरीर त्याग देती है। पति की अमर्यादा को पत्नी सह नहीं पाती। वीरिणी कहती है। एक कंठ विषपायी काव्य में ---

"पत्नी की मर्यादा/पति की मर्यादा से होती है।"
(पृ-30॰ एक कंठ विषपायी)

इस अपमान के कारण दक्ष की पुत्री धर्म की पवित्र मर्यादाओं को तोड़ती है। दक्ष से यह सहा नहीं जाता कि अनामंत्रित लोग आकर उनकी आलोचना करें और ---

"धर्म की पवित्र मर्यादाएँ तोड़ दें।" (पृ-26, एक कंठ वि॰)

शंकर अपनी सती की मृत्यु पर इतने आहत हो जाते हैं कि शासन की मर्यादा को तोड़ते हैं, जिस पर इन्द्र कहते हैं एक कंठ विषपायी में---

"जब शिव जैसे उच्चाधिकार-युक्त हस्त
शासन की मर्यादा खो देंगे।
तो क्या यह शासन चल सकता है।" (पृ-58, एक कंठ विष)

जिस पर ब्रह्मा कहते हैं इन्द्र से कि किसी व्यक्ति के अपशब्दों से या अकारण अपमानित करने से, क्रोधित होने से या क्रोधित करने से उसी की मर्यादाएँ खंडित होती है जो ऐसा आचरण करता है---

"किसकी मर्यादाएँ खंडित होती है
स्वयं उसी की जो ऐसा आचरण करेगा।" (पृ-76, एक कंठ वि०)

नचिकेता थोथी, झूठी मर्यादा से बहुत दूर है क्योंकि इससे मन को शान्ति प्राप्त नहीं होती। नचिकेता अपने पिता वाजश्रवा के कार्य को एक दिखावा मानता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह बन्द अन्धेरे कोटरी में है जो उड़ना तो चाहता है। लेकिन जिसमें वह नाकाम होता है।---

"किसी नकाम उड़ान का टूटा हुआ पंख
जिसमें आकाश की मर्यादा थी।" (पृ-46, आत्मजयी)

कुछ इसी प्रकार की भावना अश्वत्थामा में उभरती है। वह अपने पिता की हत्या का बदला लेना तो चाहता है। लेकिन उसके इस बदला लेने की भावना को देख उसका कोई साथ नहीं देता और बदले में उसकी मर्यादाबुद्धि पर प्रश्न लगाया जाता है-- अश्वत्थामा कहता है----

"दुनिया की सारी मर्यादा बुद्धि
केवल इस निपट अनाथ अश्वत्थामा पर ही
लादी जाती है।" (पृ-65, अंधायुग)

लेकिन मर्यादा रुपी आचरण विदुर के अनुसार व्यक्ति के लिए कवच का काम करते हैं। वे कहते हैं अंधायुग काव्य में ---

"मर्यादित आचरण कवच है
जो व्यक्ति को बचाता है।"(पृ-११· अंधायुग)

इस मर्यादित आचरण में राम चूक जाते हैं। शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं कि राम कर्म वेद-पथ को त्यागकर वर्ण भेद पथ को अपनाते हैं। इसी कारण से शम्बूक कहते हैं----

"मानव समाज की/ ऊर्ध्वमुखी मर्यादा में
तुम जाये चूक।।" (पृ-1, शम्बूक)

और वही राम प्रजा को महत्व देते हुए अपनी पत्नी सीता को वनवास के लिए भेज देते हैं। इसके साथ वह यह भी कहते हैं ---

"वह किसी भी राजकीय पद
मर्यादा, सुविधा और सुरक्षा की अधिकारिणी नहीं होगी।"
(पृ-104, प्र·पर्व)

एक ओर सीता वनवास का प्रस्थान करती हैं तो दूसरी ओर पुत्र वियोग के कारण गांधारी इतनी जर्जर हो गयी थी कि उन्हें समस्त मर्यादाएँ एवं आस्थाएँ आडम्बर लगती हैं। याचक के इतना कहने पर दुर्योधन विजयी होगा वह सत्य को जानते हुए भी प्रसन्न होती है और

प्रहरी को उसे मुद्राएँ देने का आदेश देती है। पुत्र विजय की स्वाभाविक लालसा उसमें है। भले ही ऐसी स्थिति में वह सहज नहीं रह पाता। यथा---

"प्रहरी, इसको एक अंजुल मुद्राएँ दो
तुमने कहा है/जय होगी दुर्योधन की।" ﴾पृ-26, अंधायुग﴿

गांधारी इस युद्ध का मूल कारण श्रीकृष्ण को मानती है और दुर्योधन की मृत्यु पर श्रीकृष्ण को श्राप दे देती हैं। फलस्वरूप श्रीकृष्ण की संचित हुई मर्यादा खत्म होने लगती है ---

"युग-युग की संचित मर्यादा निष्प्राण हुई।
श्रीहीन हो गये कवियों के सब वर्ण-छन्द।।" ﴾पृ-103, अंधायुग﴿

निष्कर्ष:---

मर्यादा मानव के चरित्र का अहम् तत्व है जो व्यक्ति को समाज में "प्रतिष्टित करता है, अमर्यादित व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

3·7· परंपरा :---

मानव जाति का हित परंपराओं के प्रति मोहित रहने में नहीं। प्रत्युत बदलती हुई परिस्थितियों, परम्पराओं﴿ मान्यताओं और परिवर्तित मूल्यों को स्वीकार करने में ही उनका लाभ निहित है। पुरानी पीढ़ी हमेशा नये मूल्यों और नयी पीढ़ी के भावनात्मक धरातल को अनदेखी करती है और परम्परा से चिपके रहकर पश्चाताप करती है तथा अन्दर से टूट भी जाती है।

विश्व-युद्धों की विभीषिका के कारण परम्परा के बंधे - बंधाये सिद्धान्तों में अविश्वास प्रकट करके मनुष्य ने अपने आप को उनसे तोड़-कर अलग कर लिया और इन सिद्धान्तों से टूटकर पृथक हो जाने के कारण ही अब वह नि:संग हो गया है।

डॉ॰अवधनारायण त्रिपाठी के अनुसार परम्परा शाश्वत लीक न होकर काल-निरपेक्ष मूल्य है, जो बाहरी भीतरी दबावों से परिवर्तित होती रहती है। पुराने मूल्यों, दर्शन प्रणालियों तथा नैतिक भावों को नयी कविता जीर्ण - शीर्ण वस्त्र की तरह त्याज्य समझती है। वर्तमान जगत और जीवन में जहाँ कहीं असत्य है वह उस अस्तित्वहीन असत्य का प्रक्षालन कर देती है। बड़ी निर्ममता से उसे काटकर जीवित अस्तित्व से विलग कर देती है।§22§

नचिकेता जब प्राचीन खंडित धारणाओं और रूढ़ियों का तिरस्कार करना चाहता है तो प्राचीन पीढ़ी के प्रतीक स्वरूप उसके पिता का आक्रोश आकस्मिक रूप से उमड़ आता है। नचिकेता अपने पिता की दृष्टि में विद्रोही है क्योंकि उसके सवाल उनकी मान्यताओं का उल्लंघन करते हैं। इसलिए वाजश्रवा जो कि परम्परा या पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहा है। वर्तमान अथवा नवीन युग को संज्ञा तो प्रदान करता है पर महत्ता स्वीकार नहीं कर पाता, अस्वाभाविकता का बोध आज के व्यक्ति को सहज नहीं। नचिकेता कहता है ---

"एक स्तर पर/विद्वेष, क्रूरता, हिंसा, बेईमानी
सबकुछ इतना सम्भव है कि स्वाभाविक लगे
और उसी स्तर पर हममें से हर एक जी सकता है।
पागलों की तरह /एक दूसरे से त्रस्त,
पीड़ित और अपमानित।" §पृ-21, आत्मजयी§

यह हिंसा, यह आहुतियाँ नचिकेता की समझ से बाहर हो जाती हैं वह अपने पिता से प्रश्न करता है। क्योंकि उसे कोरी दिखावटी आदर्शवादिता स्वीकार्य नहीं, वह तो यथार्थबोध का हामी है और उसे इसी में सत्य, विश्वास, आस्था एवं संतोष प्राप्त होता है। नचिकेता पिता से यहाँ तक कहता है---

"समझाओ मुझे अपने कल्याण का आधार
ये निरीह आहुतियाँ/यह रक्त/ यह हिंसा
ये अबोध तड़पने/ बीमार गायों - सा जन समूह"।।
§पृ-21, आत्मजयी§

और वह यह देख नहीं पाती उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब रहस्यमय कानाफूसियाँ, गुप्त मंत्रणाएँ "दान" जैसे अज्ञात बाधकों से कोई अशुभ समझौता है। वह पूरी परम्परा को प्रश्नांकित करता है---

पिता/ ये सब कैसे संकेत हैं जो आश्वस्त नहीं करते--
ये कैसी स्तुतियाँ हैं जिनसे
पाखण्ड की गन्ध आती है। "§पृ-20, आत्मजयी§

पिता से नचिकेता प्रश्न ही नहीं बल्कि विद्रोह भी करता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके पिता की दुनिया रूढ़ और बासी है जो सिद्ध नहीं है बल्कि विकृत स्वाभावों से निष्कासित है तथा जो जीने से पहले ही बीती सी लगती है---

"मेरे पिता/ तुम और तुम्हारी दुनिया
एक दूसरे की थकी हुई प्रतिक्रिया में युगों से
बासी सी लगती है।" §पृ-21, आत्मजयी§

ऐसी परंपरा ऐसे आदर्श जिनका विक्रय होता है, ऐसे आदर्श नहीं चाहिए कल्पांतर काव्य में ---

"विक्रय होता आदर्शों का/देश,व्यक्ति का,संस्कृतियों का
लोकतंत्र भी यहाँ जल है/आत्मा,अंत:करण माल है।"
(पृ-32, कल्पांतर)

और ऐसे मृत आदर्शों की पगडंडी पर देह धर्म से बहरा होकर जीवन शोषी आचारों की सीढ़ियाँ कोई कब तक चढ़े। आत्मदान की अहल्या कहती है---

"कबतक चल - सकता है कोई
मृत आदर्शों की पगडंडी पर/ आँखें मूँदे।"(पृ-4, आत्मदान)

यह परंपराएँ तब और हास्यास्पद और दकियानूसी प्रतीत होती हैं। जब किसी की मृत्यु से किसी के कर्मों को जोड़ा जाता है। यह मूढ़ परंपरायें नहीं तो और क्या हैं शम्बूक प्रश्न करता है---

"करे कोई प्रश्न/ तो संतोष देगा कौन
भरी संस्कृति का सदा/ प्रहरी रहा है मौन।"(पृ-72,शंबूक)

नचिकेता को अपने पिता के यज्ञ करने का ढंग रास नहीं आता। वाजश्रवा बूढ़ी गायों को यज्ञ में दान कर धर्मात्मा का आवरण पहनते हैं। नचिकेता को यह सब ढोंग प्रतीत होता है। वह अपने पिता से प्रश्न करता है ---

"ये विधान और प्रणालियाँ जिनके पार
तुम मुझे तुड़े-मुड़े से दीखते।"..."(पृ-27,आत्मजयी)

वाजश्रवा की ही तरह एक कंठ विषपायी के दक्ष भी अपने मूढ़ आदर्शों पर ही अड़े रहे। उन्होंने भी अपने ज्ञान और विवेक का प्रयोग न किया---

"उसका अस्तित्व/एक जर्जर परम्परा के
पोषण के यत्नों में लगा हुआ।"
टूट गया।" (पृ-54, एक कंठ विषपायी)

क्योंकि दक्ष यह समझते थे कि शंकर ने उनकी बेटी सती को फुसलाकर ब्याह किया है अर्थात् घर की परम्परा तोडने के कारण शंकर इसके दोषी हैं। वह कहते हैं वीरिणी से ---

"वह जिसने घर की परंपरा तोडी है।"
(पृ-11, एक कंठ विषपायी)

परम्परा हमेशा एक प्रकार की मोहान्धता को जन्म देती है, जिसके फलस्वरूप निर्णय अक्सर गलत दिशाओं की ओर संकेत करते हैं। प्रगति के मार्ग अवरुद्ध होते हैं और संघर्ष की संभावनाएँ बलवती होती हैं। इसलिए तो दक्ष के लिए परंपरा का खंडन लोक-हँसाई और बदनामी का कारण बनता है। वे कहते हैं ---

"परम्पराओं के खंडन की।" (पृ-18, एक कंठ विषपायी)

और ऐसे लोगों के लिए जिन्दगी एक पगडंडी ही रहती है जो परंपरा की तरह एक ही दायरे में चक्कर लगाती है। एक कंठ विषपायी के सर्वहत अपने आप को एक पगडंडी ही मानते हैं ---

"जो परंपरा की तरह/एक दायरे में
चक्कर लगाती हुई चलती है।" (पृ-111, एक कंठ विषपायी)

विरासत में मिली इन मूढ परंपराओं को, सिद्धान्तों को हमें छोडना है। उन्हें केवल वक्त की मसलहत बनाकर ही रखना है। कल्पान्तर काव्य में यही कहा गया है।

"परम्परा की धूप पके सब मूल्य मानवी
दुनिया को जो मिले विरासत में सदियों से
वह सारे सिद्धान्त, नियम, आदर्श
यहाँ है सिर्फ मसलहत वक्त की।" (पृ-81, कल्पांतर)

इसके अनुकूल ही विज्ञान ने भी ऐसे यंत्र-तंत्र बना लिए हैं जो पुरानी परम्पराओं को भस्म कर देती है---

"भस्म हो गयी सब परंपरा
परम निरंकुश नयी अग्नि के दाह में।" (पृ-83, कल्पांतर)

और यह विज्ञान कट्टर मतवाद संप्रदाय से मानव की आत्मा को ठोक रहा है ---

"बैठा है मतवाद संप्रदायों सा कट्टर" (पृ-34, कल्पांतर)

यही नहीं पूँजीवादी पद्धतियाँ भी सामूहिक हिप्नोसिस की तरह मानव पर छायी हुई है ----

"पतित अधोमुख ये पूँजीवादी पद्धतियाँ
हैं जनमत पर पहरा देती
सामूहिक हिप्नोसिस की अंधिका रचाकर।" (पृ-32, कल्पांतर)

लेकिन जीत इंसान की ही होती है। क्योंकि उसने मिथ्या आदर्शों को, जड़वादी संस्कृतियों को उखाड़ फेंका है। कल्पांतर काव्य में ---

"मिथ्या आदर्शों के प्रेतों विकृतियों पर
शव-साधक पंथों पद्धतियों पर
जड़वादी पंजों में जकड़ी संस्कृतियों पर
जीत इंसान की।।"(पृ-30,कल्पांतर)

और हर परम्परा के मरने पर थोड़े दिन तक सारा वातावरण शून्य से भर जाता है। एक कंठ विषपायी काव्य में विष्णु कहते हैं --

"हर परम्परा के मरने पर थोड़े दिन तक
सारा वातावरण शून्य से भर जाता है।"(पृ-119,एक कंठवि॰)

डॉ॰हरिचरण शर्मा "एक कंठ विषपायी" के संदर्भ में कहते हैं कि एक कंठ विषपायी में परम्परा भंजन का कार्य शंकर ने किया है। वे परम्परा पोषक भी रहे, किन्तु तभी तक जब तक मोह उन पर हावी रहता है। अत: शंकर की परंपरा भंजकता और परंपरा पोषकता का सही अर्थ स्थिति विशेष का ही आयाम है।(23)

आदर्श और मान्यताओं की रक्षा का दायित्व निभाते हुए शंकर अंतत: मानवीय आदर्शों और मर्यादा का हनन करनेवाले प्रजापति दक्ष के अनाचार की पीड़ा, वेदना, संत्रास और आत्महनन आधुनिक बुद्धिजीवी की भावना के अत्यधिक निकट हैं। शंकर कहते हैं ---

"देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़
मैंने क्या पाया?

हर परंम्परा के मरने का विष
मुझे मिला।।"   ‹पृ-69, एक कंठ विषपायी›

शंकर ने जिस प्रकार थोड़े ही समय में नयी स्थितियों को स्वीकार किया इसलिए उन्हें एक कंठ विषपायी कहा गया। पहले भी सिन्धु मन्थन के समय शंकर ने विष पिया था फिर परम्परा के टूटने का विष भी उन्हें पीना पड़ा।

अष्टेकर जी के अनुसार मानव जाति का हित परंपराओं के प्रति मोहित रहने में नहीं, प्रत्युत बदलती हुई परिस्थितियों, परम्पराओं, मान्यताओं और परिवर्तित मूल्यों को स्वीकार करने में ही उनका लाभ निहित है। पुरानी पीढ़ी हमेशा नये मूल्यों और नयी पीढ़ी के भावनात्मक धरातल को अनदेखा करती है और परम्परा से चिपके रह-कर पश्चाताप करती है तथा अन्दर से टूट भी जाती है।‹24›

शंकर सती को अपने कंधों पर रखे रहते हैं और फिर उसी शव को खंड - खंड कर दिया जाता है। विष्णु के बाण से पल भर में---

"शिव के कंधों पर पड़ी हुई भगवती सत्ती के
शव को खंड - खंड कर पल में।"‹पृ-125,एक कंठ विषपायी›

- शंकर जैसे महान व्यक्तित्व परिस्थिति को समझकर नयी स्थिति और नये मूल्यों को अपना लेते हैं। शंकर का आरंभ में परम्परा से चिपके रहना किन्तु अंत में विष्णु के प्रणाम बाण द्वारा परंपरा के मोह से विकल हो जाना - यह सब स्पष्ट कर देता है ---

शिव का यह प्रश्नाकुल रूप परम्परा से मुक्ति और पुष्टि दोनों को व्यक्त करता है। उनके व्यक्तित्व का यह कान्ट्रेडिक्टरी" रूप है।

किन्तु यही तो आधुनिक जीवन की विसंगतिपूर्ण स्थिति है। जिसे हर आदमी भोगता है।

इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष की एक अलग परम्परा है। उनके अनुसार प्रलय के थपेड़ों से रविशशि भी मार्गभ्रष्ट हो सकते हैं। धरा भी डोल सकती है। लेकिन उनकी परंपरा नहीं,उन्हीं के शब्दों में----

"वायवी प्रतीकों से रक्षित न ठेस पाये
किन्तु मेरी परम्परा।" §पृ-46, इ.पु.§

अपनी ही परम्परा को महत्व देनेवाले इतिहास पुरुष के समान नचिकेता भी हैं, जो सही जीवन जीने के अभिलाषी है। वे नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। नचिकेता अपने को अतीत पर ढोना नहीं चाहता है। यहीं कारण है कि वह अपने पिता से कहता है--

"और तुम हमारी ओर - हम जो अभी आने वाले हैं
सन्देह से देखते हो अपना संचय
छोड़ जाने से पहले, क्योंकि हम उसे
तुम्हारे अनुकरण से बेहतर कोई विशिष्टता देना चाहते हैं।"
§पृ-19, आत्मजयी§

<u>निष्कर्ष:---</u>

परम्परा से चिपके रहने का अर्थ है परिवर्तन की अस्वीकृति और उसे सनातन मानने का अर्थ है-- नये मूल्यों से कतराना। कोई भी नयी परम्परा पुरानी परम्परा की पीठिका पर ही जन्म लेती है।

3·8· इतिहास:---

साधारण जीवन में काल सूचक भूत, भविष्य और वर्तमान केवल "**अब**" के ही विभिन्न रूप हैं। भूत बीता हुआ अब है, भविष्य आगामी अब है और वर्तमान प्रस्तुत अब है, न कोई निश्चित भूत और न ही कोई निश्चित भविष्य है। मनुष्य का ही ऐतिहासिक अस्तित्व है।

इतिहास जिसमें मिथक भी शामिल है। हमें उस मानवीय यात्रा की दूरियों का पता देता है। जहाँ से चलकर हम यहाँ पहुँचे हैं। साथ ही वह दृष्टि भी जिससे पिछली भूलों को न दुहराकर हम वे इशारे पा जाएँ जिनसे मानवता आगे बढ़ सकती है। क्योंकि किसी असम्बद्ध बियाबान के बजाय पिछली सिद्धियों और उपलब्धियों के आगे बढ़ना एक स्वाभाविक अग्रगामिता है ---

> "वे प्रतीक अनुष्ठान/ जिनको समझने में
> युग के युग बीते हैं।"(पृ-108, आत्मजयी)

इतिहास मानव - नियति और मानव - निर्णय को प्रभावित करती है। मानव को दिशा बोध कराती है। राम इस शक्ति को अपने व्यक्तिगत विवेक के लिए चुनौती के रूप में देखते हैं। साधारण जन की स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत हनुमान के लिए यह इतिहास मानव - मुक्ति की दिशा में बहनेवाला एक ऐसा शक्तिशाली प्रवाह है, जिसके साथ विरोध की अपेक्षा तादात्म्य की स्थिति काम्य है। राम इतिहास के प्रवाह के प्रति शंकित हैं किन्हीं अंशों में उससे आतंकित भी हैं---

> "इस ऐतिहासिक विषमता का
> कौन सा प्रतिकार? (पृ-80, संशय की रात)

लेकिन हनुमान इस समस्या पर बिल्कुल भिन्न प्रकार से सोचते हैं, वे मानते हैं कि इतिहास की दिशा यदि संघर्ष की ओर उन्मुख है तो यह स्थिति अपने आप में अनपेक्षित नहीं है----

"हम केवल घटना हैं/ इतिहास नहीं।"॥पृ-82,संशय की रात॥

ऐसे ही एक घटना घटती है अहल्या के साथ। आत्मदान में अहल्या इन्द्र-मिलन को एक स्वार्थ कृत्य मानती है---

"यह एक व्यक्ति का
इतिहास - बोध निरपेक्ष स्वार्थी कृत्य था व्यक्ति निष्ठ"।
॥पृ-45, आत्मदान॥

इस पुरुष स्वार्थी राज्य में एक महान आदमी बनने के लिए मानव कितनों का उपयोग करता है, कितनों पर पैर रख आगे बढ़ता है यह वह देखने का प्रयास नहीं करता। कनुप्रिया काव्य में कनु एक महान आदमी बन जाते हैं और उनके महान आदमी बनने में कनुप्रिया का कितना हाथ है ----

"जिसको जाना था वह चला गया-
हाय मुझी पर पग रख
मेरी बाहों से - इतिहास तुम्हें ले गया।"॥पृ-64,कनुप्रिया॥

यह हमें पीड़ा तो देती है लेकिन यह मानव को साधारणता से विशिष्टता की ओर ले जाने का एक सोपान है। बहते पानी के वेग में बहते जाना या अपरिचित हवाओं में उड़ना अहल्या के अनुसार इतिहास का निर्माण नहीं करती ---

"पराये इशारों पर बाहु की लब्धियाँ
नहीं करती इतिहास का निर्माण।।"§पृ-40,आत्मदान§

डॉ•संतोष कुमार तिवारी भी यही मानते हैं कि इतिहास विशिष्ट का होता है, सामान्य का नहीं।§25§

युधिष्ठिर भी यही समझाते हैं अर्जुन को कि जिसकी देह को छील-कर इतिहास लिखा जाता है। उस विचारहारा व्यक्ति का कोई इतिहास नहीं होता। महाप्रस्थान में ----

"जो अनाम विचारहार व्यक्ति है
जिसका कोई इतिहास नहीं लिखा जाता
बल्कि जिसकी देह को छीलकर ही
हम इतिहास लिखते आये हैं।"§पृ-102, म•प्र•§

वह साधारण जन हल की रेख से पृथ्वी पर धन धान्य का भाषा-ग्रन्थ रचता है तो सत्ताधारी पृथिवी पर रथ की रेख से रक्त स्नाथ इतिहास लिखता है ---

"जब कि सत्ताधारी/ पृथिवी पर
रथ की रेख से/ रक्त स्नात इतिहास लिखता है।"§पृ-115म•प्र§

जब सत्ताधारी मानव रक्त - स्नात इतिहास लिखता है तो यह माना जा सकता है कि वह एक ऐतिहासिक निष्कर्ष पर आ गया है। मानवता का पथ किस अंधे रास्ते पर जा रहा है। यह जानने का प्रयास भी नहीं किया जाता। युधिष्ठिर कहते हैं। महाप्रस्थान काव्य में अर्जुन से ---

"हमारे इन अमानवीय कृत्यों के
ये ही तो ऐतिहासिक निष्कर्ष निकले।"(पृ-109, म॰पृ॰)

ऐसे ही अमानवीय हो गए थे। अश्वत्थामा भी। उनमें भी प्रतिशोध की भावना प्रबल हो उठी थी। लेकिन जैसे बाढ़ के बाद उतरता जल तट पर विकृत अधखाये शव को छोड़ जाती है। उसी प्रकार से तट पर अश्वत्थामा को छोड़ इतिहास खुद एक नया मोड़ अपनाती है। अंधायुग काव्य में ----

"वैसे ही तट पर तज अश्वत्थामा को
इतिहासों ने खुद नया मोड़ अपनाया।"(पृ-48, अंधायुग)

यही स्थिति है नचिकेता की। भविष्यबोध में नचिकेता को ऐसा बोध होता है, जैसे कि वस्तुओं को विभाजित करने वाली रंगहीन रेखाएँ एकरंग होकर, वस्तुओं के आकर्षण से नचिकेता को अलग कर रही हो और इतिहास उसे छोड़कर आगे बढ़ गया हो-- नचिकेता के शब्दों में----

..."और इतिहास मुझे छोड़कर आगे बढ़ता है।"(पृ-72, आत्मजयी)

धर्मवीर भारती कहते हैं कि कनुप्रिया जन्म - जन्मांतरों की अनंत पगडंडी के कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर मनु की प्रतीक्षा कर रही थी कि कहीं इस बार इतिहास निर्मित करते समय अकेले न भटक जाए।(26) राधा समझाती है कि उसके अभाव में "इतिहास" के शब्द का कोई महत्व नहीं। वह कनु की प्रतीक्षा में पगडण्डी के कठिनतम मोड़ पर अड़िग खड़ी हुई है ---

"कि, इस बार इतिहास बनाते समय
तुम अकेले न छूट जाओ।"(पृ-88, कनुप्रिया)

कनु का लक्ष्य भौतिक अथवा बाह्य जगत से सम्बन्धित है। जबकि कनुप्रिया आत्मिक या भावना का महत्त्व स्वीकारती है। कृष्ण को असफल इतिहास का परित्याग कर राधा के लिए व्याकुल दिखाया है। राधा का ऐसा सोचना कथन की पुष्टि करता है---

"सब त्याग कर/ मेरे लिए भटकती हुई।" (पृ-83, कनुप्रिया)

अन्तत: राधा को विश्वास हो जाता है कि अपने इतिहास निर्माण के चरम विफल क्षणों में उसके प्रिय कृष्ण ने उसे याद किया था। इसीलिए वह सबकुछ भुलाकर उसके पास पहुँचती है। वह इतिहास बनाने में कनु की असफलता के लिए अपने सहयोग सहकार्य के अभाव को ही एकमात्र कारण समझती है। अत: कनु से उसका अनुरोध है कि वह उसकी प्रतीक्षा की महत्ता को मान ले और दूसरी बार इतिहास निर्माण करते समय अकेला न रहे। राधा के समग्र चिन्तन का सूत्रबद्ध निष्कर्ष कितना यथार्थ है----

"बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता
तुम्हारे इतिहास का?" (पृ-79, कनुप्रिया)

ऐसा ही एक संबंध श्रीराम का इतिहास से जुड़ जाता है। जहाँ पर वे जीवन भर इतिहास की प्रत्यंचा पर बाण की मर्यादा बन चढ़े रहे और असंग भाव से दिशायें संचालित करते रहे, भले ही वह दिशा माता, पिता, परिवार, पत्नी, राज्य, वनवास, मित्र अथवा शत्रु की रही हो। वे स्वीकारते हैं कि जब व्यक्ति इतिहास को समर्पित हो जाता है। तब उसके लिए ऐसी त्रासदी का घटना अनिवार्य हो जाता है क्योंकि ---

"इतिहास उसे और/ वह इतिहास को
निरन्तर तराशते रहते हैं।" (पृ-77, प्र.पर्व)

और ऐसे व्यक्ति इतिहास की आग पर चलकर --

"पुराण - पुरुष बन जाते रहे हैं।"﴾पृ-31, प्र•पर्व﴿

और यह आग जिस व्यक्ति को लपेटती है वह उसी का हो जाता है। सीता देवी कहती हैं--प्रवाद पर्व में ---

"आग पर/ कोई और नहीं/ केवल
पिपीलिका ही चल सकती है।संज्ञाहीन पिपीलिका"।
﴾पृ-28, प्र•पर्व﴿

राम अपने आपको केवल इतिहास की वनस्पति मानते हैं,जिसपर चलने से धरती थोड़ी सी सुन्दर हो उठती है और जिसके कारण हम थोड़ी सी सुगन्ध वहन कर सकते हैं --प्रवाद पर्व में राम कहते हैं ---

"हम/ इतिहास की केवल वनस्पतियाँ भर हैं।"﴾पृ-63,प्र•पर्व﴿

राम को इस बात का दुख होता है कि मानवीय पुरुषार्थ के होते हुए भी यही वह पुरस्कार है जो उन्हें इतिहास के हाथों राज्यों,पद के रूप में प्राप्त होता है और हमें इतिहास पुरुष बनाता है। राम कहते हैं ----

"यही वह पुरस्कार है/ इतिहास के हाथों
हमें प्राप्त होता है/ जो हमें इतिहास-पुरुष बनाता है।"
﴾पृ-60,प्र•पर्व﴿

राम इतिहास - पुरुष के रूप में ही रह गए क्योंकि उन्हें कभी एकान्त नहीं मिला। वे जीवन-भर दूसरों के लिए ही जीते रहे। प्रवाद पर्व काव्य में सीता यही प्रश्न करती है राम से ---

"इतिहास ने/यज्ञ-पुरुष को कब एकान्त दिया।"﴾पृ-78,प्र•पर्व﴿

और जब व्यक्ति इतिहास को समर्पित हो जाता है तब ऐसी त्रासदी की घटना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि घटनाओं के बीत जाने पर इतिहास उस खाली तूणीर जैसे व्यक्ति को मात्र एक शीर्षक के रूप में प्रयोग कर आगे बढ़ जाता है और पृष्ठ पलट जाता है। सीता कहती है ---

"व्यक्ति जब इतिहास को समर्पित होता है
तब ऐसी त्रासदी का घटना
अनिवार्य हो जाता है।"(पृ-78, प्र॰पर्व)

लेकिन यह इतिहास की कितनी बड़ी आश्वस्ति है कि राम अपनी भार्या सीता को आसन्न मातृत्व की स्थिति में वनवास के लिए भेजते हैं। उनका मन कहता है ---

"इतिहास की कितनी बड़ी आश्वस्ति
पौराणिकता के किस अच्युत पद के लिए
इस सनातन हाहाकार का वरण किया राम!"(पृ-109॰प्र॰पर्व)

वह इसलिए कि जीवन भर इतिहास का सन्धान करनेवाले राम यह भूल जाते हैं कि वे व्यक्ति भी हैं और उनके पार्श्व में उनकी प्रिया खड़ी है---

"यह भूल जाता है कि/ वह व्यक्ति भी है, और
उसके पार्श्व में/ कोई एकांतकांक्षिणी प्रिया खड़ी है।"
(पृ-110,प्र॰पर्व)

नचिकेता को आत्मजयी काव्य में पिता का वह वाक्य याद आने लगता है तथा वे लोग, जिनकी वह अमानत था। परछाइयों के रूप में गुजरने लगते हैं, और उसकी इस स्थिति पर उसे ऐसा लगता है कि पत्थरों

के तले जो इतिहास है उस पर हँस रहा है ----

"पत्थरों के तले का इतिहास करता अट्टहास"
(पृ-56, आत्मजयी)

और जब नूरजहाँ को इसकी भनक हो जाती है कि शहंशाह जहाँगीर उसके रूप और यौवन को ही देख रहे हैं। उसके अन्तर के प्रेम को नहीं देख रहे तो वह कहती है ---

"..... मैंने तुम्हारी आड़ से इतिहास के अल्हड़ प्रवाह
लहरों से जी खोल कर खेल-खिलवाड़ किया।" (पृ-82.इ.पु.)

प्रेम, करुणा, त्याग, निर्भरता, मैत्री निष्ठा, वचन-बद्धता, संवेदना, क्षमा, उदारता ये और मानव की कमजोरियों से ही इतिहास बनता है। कल्पांतर काव्य में कहा गया है कि ऐसे ही क्षेत्रों में इतिहास-बिगुल बजता है---

"यहाँ बजी इतिहास - बिगुल है।" (पृ-81, कल्पांतर)

इतिहास मानव के बीच घटित घटनाओं से निर्मित होता है। जीवन एक महालीला है जिसमें से बीतकर इतिहास और भविष्य का पुराण बनता जाता है। राम कहते हैं ---

"यह खेल/ हमें आद्यन्त मथ कर
हममें से बीत कर/ कल का इतिहास और
भविष्य का पुराण बनता जाता है।" (पृ-8 61, प्र.पर्व)

एक अनाम साधारण जन की तर्जनी जब समय के पत्तों और लोगों के इतिहास-निरीह नेत्रों में जब एक जलता प्रश्न उत्कीर्णित कर देती है

तब उसे क्या दण्ड दिया जा सकता है। सीता देवी पूछती हैं----

"उसे किस राजाज्ञा/ या राजदण्ड
या आदेश खुदे शिलालेखों से
अनहुआ किया जा सकता है राम?" ४पृ-29,प्र•पर्व४

सबकुछ किया जा सकता है लेकिन साधारण जन को इतिहासीन नहीं। प्रवाद पर्व में राम भी यही कहते हैं ---

परन्तु/ मनुष्य/ उसकी अनाम साधारणता को
इतिहासहीन नहीं।"४पृ-31, प्र•पर्व४

प्रवाद पर्व में राम कहते हैं कि इतिहास को भी वनस्पतियों की भांति शोभा और गन्ध देनी चाहिए। इसे मानवीय अभिव्यक्ति का पद देना चाहिए और व्यक्ति मात्र को इतिहास से परिधानित होने देना है जिससे लगे कि ---

"इतिहास/ मानवीय/ विष्णु की कण्ठ श्री/वैजयन्ती है।"
४पृ-34,प्र•पर्व४

यह ठीक है कि राम मानवीय अभिव्यक्ति को महत्व देते हैं लेकिन यह अभिव्यक्ति मात्र अंगुली नहीं होती, उसका महत्व होता है। प्रवाद पर्व में - राम का मन यही कहता है--

"वह मात्र अंगुली ही नहीं होती राम!
उसका एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व होता है।
महत्व भी।"४ ४पृ-27,प्र•पर्व४

तर्जनी वह किसी की भी हो वाणी ही होती है और यह आवश्यक नहीं कि शक्ति केवल मन्त्रों और श्लोकों में ही हो अनेक बार ऐसी ऐतिहासिक अनाम तर्जनी में भी शक्ति होती है ---

"इतिहास को
प्रतिइतिहास में बदल देने की शक्ति होती है।"ऍपृ-28,प्र•पर्वऍ

यही बात अंधायुग के याचक कहते हैं कि उनका ज्ञान-विज्ञान सब मिथ्या सिद्ध हुआ है क्योंकि ---

"जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।"ऍपृ-26,अंधायुगऍ

इतिहास एक ऐसा जन्मचक्र होता है,जिसमें समय के उत्थान और पतन दोनों भी देखे जा सकते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं ---

"इतिहासों के रक्त-स्नात/उत्थान -पतन
जयघोषों - चीटकारों के हर्ष शोक।"ऍपृ-31,म•प्र•ऍ

इतिहास पुरूष कहते हैं कि इतिहास के पृष्ठों में अपना नाम रहे, इसके लिए राघव-रावण, कौरव-पांडव, भीष्म - पार्थ परस्पर लड़े। इतिहास कों और आगे बढ़ाने के लिए अब एण्टनी सीज़र भी जन्म लेते हैं।

"धरती का इतिहास अग्रसर करने ज्यों ही
जनमे जिये ऐण्टॅनी सीज़र।।"ऍपृ-67, इ•पु•ऍ

इतिहास खड्ग से नहीं मनुष्य की उदात्तता से लिखी जाती है। उसे इतना दास नहीं बनाना चाहिए कि वह राजभित्तियों पर चित्रित तथा

शिलालेखों पर उत्कीर्णित हमारी चारण - गाथा क लगे---

"इतिहास/ खड्ग से नहीं
मानवीय उदात्तता से लिखा जाना चाहिए।"(पृ-33,प्र.पर्व)

इसी संदर्भ में नरेश मेहता कहते हैं कि वे इतिहास के प्रत्येक व्यक्ति को इतिहास से विभूषित करना चाहते हैं। वे देशकाल से अपर न राज-पुरुष को, न इतिहास पुरुष को और और न पुराण - पुरुष को मानते हैं। बल्कि इतिहास से बड़ा मूल्य चरित्र मर्यादा और ऋतम्भरा व्यक्तित्व को स्वीकारते हैं।"(30)

यही कारण है कि सीता की अग्नि परीक्षा पर जब लक्ष्मण 'हम इतिहास दोषी' हैं का प्रयोग करते हैं तो राम इसे स्वीकारना नहीं चाहते क्योंकि वे व्यक्ति के चरित्र की अभिव्यक्ति की उदात्तता को सम्मानता देते हैं---

"व्यक्ति के चरित्र की
अभिव्यक्ति की उदातता है
जिसका सम्मान किया जाना चाहिए।"(पृ-78,प्र.पर्व)

इसलिए राम सामाजिक भाषाहीनता के सम्मुख व्यक्ति की अभिव्यक्ति की इतिहासीनता का सामना नहीं करना चाहते वे लक्ष्मण से कहते हैं ---

"कैसा ही इतिहास - पुरुष क्यों न हो
सामाजिक भाषा हीनता
अभिव्यक्ति की इतिहासीनता का सामना
नहीं कर सकता।"(पृ-43, प्र.पर्व)

राम सबसे बड़े इतिहास पुरूष के बारे में लक्ष्मण को बताते हैं कि रावण के पास ही वाणी, भाषा और आदेश थे और अन्य के पास झुके मस्तक, स्वयं ब्रह्म जिसे वेद-पाठ सुनाया करते थे, ऐसे विद्याधर अधिपति और कौन हो सकता है---

"रावण से बड़ा इतिहास - पुरूष कोई था लक्ष्मण।"
§पृ-45, प्र॰पर्व§

इसलिए राम साधारण जन की अभिव्यक्ति को दोष या विद्वेषपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार व्यक्ति गलत हो सकता है पर अकेलेपन की स्थिति को देख दण्डित करना अन्याय होगा। वे पूछते हैं---

"इतिहास के प्रवाह से अकेला पड़ जाना
किस तर्क से दोष है महानुभावों।"§पृ-101,प्र॰पर्व§

राम के अनुसार इतिहास व्यक्ति को व्यक्ति नहीं मानता है शस्त्र मानता है। संशय की रात में वे कहते हैं ---

"इतिहास/ व्यक्ति को व्यक्ति नहीं
शस्त्र मानता है।"§पृ-100, संशय की रात§

इसलिए तो लक्ष्मण कहते हैं कि जिस तरह अगस्त्य मुनि ने समुद्र का मन्थन किया उसी तरह वे भी महादेवी सीता को लाने के लिए समुद्र का दूसरी बार मन्थन करेंगे जिसके लिए इतिहास साक्षी रहेगा---

"महाकाल देखे अब/ साक्षी रहे इतिहास।"
§पृ-22, संशय की रात§

एक ओर लक्ष्मण अपने धैर्य का प्रदर्शन करते हैं तो दूसरी ओर विभीषण सत्य पर खड़े होते हुए, राम का साथ देते हुए रावण के विरुद्ध युद्ध करते हैं। लेकिन उन्हें कल के इतिहास से डर लगता है कि लोग उन्हें क्या कहकर पुकारेंगे कि राष्ट्र संकट के समय राज्य पाने के लिए उसने आक्रमण किया था---

"कल/ जब हम नहीं केवल
युद्ध, ठंडी शिला सा/इतिहास होगा।" (पृ-81, संशय की रात)

यही कारण था कि राम वैयक्तिक कारणों के लिए रावण से युद्ध नहीं करते, दक्षिण के कोटि - कोटि नर-किन्नर -वानरों ने राम की पारिवारिक समस्या के लिए ऐतिहासिक सहयोग नहीं दिया था। वे लक्ष्मण से प्रश्न करते हैं---

"इतिहास को हमने/ वैयक्तिकता के लिए माध्यम बनाया था?"

लेकिन कनुप्रिया इसके विपरीत ऐसा अनुभव करती है कि केवल उसी के लिए समय जैसे रुक गया हो, सेनाएँ स्तब्ध खड़ी हो देख रही हो और---

"इतिहास स्थगित हो गया है
और तुम मुझे समझा रहे हो।" (पृ-52, कनुप्रिया)

डॉ॰चन्द्रभानु सोनवर्ण के अनुसार कनुप्रिया की भोली राधा इतनी भोली नहीं है कि वह जड़ इतिहास की निरर्थकता को समझ ही न सके। उसकी मूल वृत्ति संशय या जिज्ञासा भले ही न हो, किन्तु उसे संशय ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि इतिहास की जड़ प्रक्रिया असफल सिद्ध हो रही है।" (28)

वह निश्चयात्मकता के साथ यह कहती है कि इस प्रकार के इतिहास का अर्थ उसकी समझ से परे है---

"आसपास जाने कितना है तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ मुझे समझ में नहीं आता है।"
(पृ-58, कनुप्रिया)

भोली राधा को कृष्ण कभी मध्यस्थ कभी तटस्थ, कभी युद्धरत नज़र आते हैं, जो व्यक्ति प्रेम के इतिहास में गति बांधता है। वह प्रेम के अभाव में इतिहास की शक्तियों से बुरी तरह पराजित हो गया। कृष्ण की सारी महा भारतीय राजनीति असफल हो गई और वह खिन्न, उदास, आहत हो गया। अपने अस्तित्व के संत्रास से मुक्त होने के लिए उसने राधा के कन्धे का आश्रय लिया---

"थक कर/ इन सबसे खिन्न, उदासीन, विस्मित और
कुछ-कुछ आहत/मेरे कंधों से टिककर बैठ गए हो।"
(पृ-56, कनुप्रिया)

हवा भी अपने गूंगे झकोरों से बालु पर अपने पदचिह्न बनाने का करुण प्रयास करता है। लेकिन बैसाखियों पर चलता हुआ इतिहास गले हुए सिवार सा उतर आया है---

"बैसाखियों पर चलता हुआ इतिहास
.....लहरों में तुम्हारे श्लोकों से अभिमन्त्रित गाण्डीव
गले हुए सिवार सा उतर आया है.......
और तुम तटस्थ हो और उदास।।" (पृ-82, कनुप्रिया)

इतिहास के निर्माता घर-परिवार की भाषा में नहीं बात किया करते। प्रवाद पर्व काव्य में महादेवी सीता कहती है कि प्रारम्भ से ही स्वयं को उसने बंधन में बांधा है क्योंकि उन्हें तो ---

"इतिहास और/ इतिहास पुरुष के पार्श्व में
केवल एक प्रतिमा सा खड़ा होना था।"{पृ-71,प्र.पर्व}

इसलिए लक्ष्मण न्याय मांगते हैं। क्योंकि न्याय व्यक्तियों को संबंधों को नहीं बल्कि उत्पन्न परिस्थितियों को देखता है। राज्य की शीर्षतम नारी की चरित्र गरिमा को ध्यान में रख प्रजाजनों के सम्मुख न्याय मांगते हैं। वे कहते हैं ---

"हमें तथा/ इतिहास को इसी की प्रतीक्षा है।{पृ-74.प्र.पर्व}

तो दूसरी ओर एक अलग ही प्रकार के फैसले की प्रतीक्षा है, जहाँ एक ओर यंत्र है तो दूसरी ओर मनुज को रख इतिहास का फैसला एक नरबलि देकर की जा रही है---

"सिक्के के दूसरे छोर पर/एक भयानक नरबलि लेकर
जन -गरिमा की कीमत पर/इतिहासों का हो रहा फैसला।"
{पृ-33,कल्पांतर}

रक्तरंजित आसन्न घटनाओं वाला बल्कि अनंत त्रासदियों वाली एक महागाथा के अंतिम अधूरे श्लोक में धर्मचक्र को साक्षात् करने के लिए युधिष्ठिर रह जाते हैं ---

"... आसन्न घटनाओं वाला
रक्तरंजित एक इतिहास/बल्कि अनंत त्रासदियों वाली
एक महागाथा समाप्त हुई।" (पृ-140, म.पृ.)

इसी संदर्भ में गिरिजाकुमार अपने कल्पांतर काव्य में कहते हैं---

"नक्षत्रों में लिखी कथा पृथ्वी के मन की
यह गाथा है इतिहासों के आवर्तन की।" (पृ-19, कल्पांतर)

चारों ओर फैले हुए हिम को देखकर ऐसे प्रतीत होता है कि बिछी हुई हिम किसी इतिहास की प्रतीक्षा में शताब्दियों से लेटी है---

"पता नहीं/ किस इतिहास प्रतीक्षा में
यहाँ शताब्दियाँ भी लेटी हैं।/हिम धुल्मों में।" (पृ-31, म.पृ.)

हिम की प्रचण्डता को देख कर ऐसा लगता है कि यह काल को
चींथ कर इतिहास पर अट्टहास
कर रही हो---

"इतिहासों पर अट्टहास करती/बघनख सी चींथ रही
सब दिशा - काल को। " (पृ-37, म.पृ.)

आज मानव बुद्ध, यीशु, फ्रायड़, शेक्सपियर, सीज़र के नाम लेता है और अतीत के इतिहास का अखबार द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। इतिहास पुरुष कहते हैं ---

"दीर्घ आयु, युग का, अतीत इतिहासों का
अखबारी सहज ज्ञान।" (पृ-18.इ.पु.)

इतिहास की जानकारी अखबार द्वारा प्राप्त करते हैं। कुछ तो कनुप्रिया प्रश्न करती है कनु से कि कनु उसे इतिहास कैसे समझाये चूँकि कनु का हर शब्द का अर्थ राधन-राधन है-- वह कहती है---

"फिर उन शब्दों से/ मुझी को
इतिहास कैसे समझाओगे कनु।"ṣपृ-57, कनुप्रियाṣ

नूरजहाँ भी अपने आप को अनेक रूपों में प्रस्तुत करती है और प्रश्न करती है कि इतिहास को उसका कौन सा रूप पसन्द आया है--

"पत्नी - जाया? माता? कब यह इतिहास को
रूप तुम्हारा भाया।"ṣपृ-75, इ॰पु॰ṣ

क्लिओपेट्रा पत्र लिखती है सीता को कि उसके स्मृति धागों में इतिहास के मनके अब भी पिरोए जा रहे हैं। अभी तक वह कुछ भी नहीं भूली---

"जमा नहीं है किन्तु अभी तक खून रगों का
दाह जिगर में, अब भी इतिहासों के मनके
स्मृति धागों में पित्त पिरोता।" ṣपृ-62,इ॰पु॰ṣ

जिस इतिहास को मानने के लिए कौरव और पांडव युद्ध कर रहे थे। निर्वेद पर उन बंधनों का, सम्बन्धों का, मोह का कोई अर्थ नहीं रह गया! अब युधिष्ठिर के लिए वह कोलाहल शांत प्रतीत होता है----

"निर्वेद के/इस प्रशान्त बिन्दु की नींव में
इतिहास और गाथाओं का यह कोलाहल
अब शांत हो चुका।"ṣ पृ-141, म॰प्र॰ṣ

विज्ञान ने सभी नये ऐतिहासिक विरोधों को समाप्त कर दिया है-- कल्पांतर काव्य में ---

"मेरे हाथों में अब सारी पृथ्वी होगी
होंगे समाप्त ये नये ऐतिहासिक विरोध।" (पृ-22, कल्पांतर)

कल्पांतर काव्य में इतिहास के अंधकार को पिघलते हुए दिखलाकर नये साम्य मूल्यों का उदय दिखाया गया है। इतने वर्षों से विज्ञान ने अपना आधिपत्य जमाया था अब मानव परिवर्तित हुआ है। उसके मूल्य बदले हैं---

"इतिहासों का अंधकार लो पिघल रहा है
नये साम्य - मूल्यों का सूरज निकल रहा है।" (पृ-112, कल्पांतर)

इसलिए इतिहास पुरूष अब नयी हवाओं की बात करता है। क्योंकि अब पुराने अंधेरे इतिहास पर पर्दा पड़ता हुआ नया इतिहास प्रारंभ हो रहा है---

"इतिहासों के अन्तरिक्ष में नयी हवाएँ
चलीं, नये तूफान उठे भूमध्य -उदधि पर
जन-जिह्वा पर नयी कथाएँ।" (पृ-65, इ॰पु॰)

निष्कर्ष:--

हर मानव का इतिहास होता है यह बोध ही मानव को उत्कृष्ट जीवन जीने की ओर ढकेलता है।

3·7· परिस्थितियाँ :---

व्यक्ति के संगठन के लिए उसकी वे विशेष परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं, जिनके द्वारा उनका व्यक्तित्व विशिष्ट आकार ग्रहण करता है और जो उसके अधिकार में नहीं होती। चयन करते समय, अपनी धारणाओं को कार्यरूप में परिणत करते समय वह लगातार परिस्थितियों से संघर्ष करता है और यह संघर्ष आज की स्थितियों में और सघन तथा त्रासदायक होता जा रहा है।

परिस्थितियाँ मानव को अस्तित्व बनाने में सहयोग भी देती है। इसलिए वे धेनु हैं। संशय की रात काव्य में राम से छाया कहती है--

"परिस्थितियाँ धेनु हैं।" §पृ-57, संशय की रात§

धर्मवीर भारती के अनुसार युगीन परिस्थितियाँ, युग अथवा परिवेश उसके व्यक्तित्व को ढालने में सहायक हैं। इसलिए जीवन-मूल्यों के विकास में युग अथवा परिवेश का विशेष महत्व है।§27§ मानव एक सामाजिक प्राणी होता है। वह जिस प्रकार से युग अथवा परिवेश में रहता है। उसे अपने अनुभवों एवं चिंतन के आधार पर अपने व्यक्तित्व में ढालकर छाप स्वरूप अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिंबित करता चलता है---

"युद्धोपरान्त/ यह अन्धा युग अवतरित हुआ
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।"
§पृ-12, अंधायुग§

भला अंधा व्यक्ति ज्योति अथवा प्रकाश को किस प्रकार व्यंजित कर सकता है। जो अंधा है उसके सम्मुख तो प्रकाश एवं अंधकार में कोई अंतर

नहीं। मंतव्य उस अंधे युग से है, जिसमें चारों ओर विकृतियाँ व्याप्त है और वह इनमें प्रकाश अथवा ज्योति की व्यापकता को दर्शाने के लिए प्रयत्नशील है।

नचिकेता अपने पिता वाजश्रवा से कहता है कि विभिन्न परि-स्थितियों में वे विभिन्न रूप में दिखाई देते हैं। लेकिन यह सब अवास्त-विक है ---

"..... एक साथ देखता हूँ
और लगता है कि हर जगह तुम अतिरंजित हो।"
इसलिए अवास्तविक।" ॥पृ-19, आत्मजयी॥

समाज में रहते हुए अगर व्यक्ति चारों ओर की परिस्थितियों को अच्छी तरह समझ लेता है तो वह उत्कृष्ठ जीवन जी सकता है।

"मैं जिन परिस्थितियों में जिन्दा हूँ।
उन्हें समझना चाहता हूँ।"॥पृ-25, आत्मजयी॥

डॉ॰हुकुमचन्द राजपाल इसी संदर्भ में कहते हैं कि एक ओर परंपरा और युग-सापेक्ष दृष्टि में टकराहट है तो दूसरी ओर हिंदू दर्शन एवं अस्तित्ववादी पाश्चात्य दर्शन में। आज का मनुष्य जिन परिस्थितियों में जी रहा है। उनमें एक साथ रति, मृत्यु, युद्ध विषाद एवं महामारी इत्यादि सभी स्थितियाँ संयुक्त हैं। साथ ही वह स्वयं को एकाकी अनुभव करने लगा है।"॥30॥

निष्कर्ष:---

मानवीय अस्तित्व मूलत: परिस्थितिगत अस्तित्वमय है।

निष्कर्ष:---

वैयक्तिक तथा सामाजिक अस्तित्ववादी जीवन दर्शन के अंतर्गत अस्तित्ववाद की महत्वपूर्ण इकाई-व्यक्ति को विभिन्न रूपों में जैसे कि उसका समाज के साथ सम्बन्ध उसकी स्वतन्त्रता, उसके मूल्य, मर्यादा, व्यवस्था इतिहास में अपना नाम तथा परंपरा का विरोध और विभिन्न परिस्थितियों में रहता हुआ सार्थक जीवन जीने का प्रयास यह सब विभिन्न काव्यों के उदाहरणों के साथ देखा गया है। आगे मानवीय यथार्थ और अस्तित्ववादी जीवन दर्शन को देखने का प्रयास करेंगे, जिसमें जो कुछ भी यथार्थ है, सत्य है, मृत्यु, काल क्षण इत्यादि को विभिन्न काव्यों के उदाहरणों को लेते हुए अस्तित्व की सार्थकता को देखने का प्रयास करेंगे।

****

सन्दर्भ सूची

****

1• परामर्श हिन्दी वर्ष 7, अंक 2; जून 1986•
सारेन कीर्कगार्द का मानव व्यक्ति एक विवेचन-राजेन्द्र प्रसाद
आनन्द प्रसाद पृ-36

2• अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या - श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ-91

3• नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया- डॉ•देवेश ठाकुर पृ-62•

4• नयी कविता की नाटयमुखी भूमिका- डॉ•हुकुमचन्द राजपाल, पृ-58

5• आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान से उद्धृत
डॉ•नरेन्द्र देव शर्मा पृ-42

6• अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी कविता-
डॉ•श्याम सुन्दर मिश्र पृ- 106

7• साहित्य के विविध आयाम - धर्मवीर भारती पृ-68•

8• नयी कविता : वक्तव्य एवं विमर्श पृ-243
समिष्ट के स्थान पर व्यक्ति बोध - गांधी से सार्त्र की ओर
डॉ•रामजी सिंह, गांधी दर्शन मीमांसा - बी•कृपलानी -
द गांधियन वे -- शीर्षक लेख - गांधियन ,अरुण कुमार, पृ-155•

9• अरविंद ने कहा था - गिरिराज शरण - बंगला रचनाएँ से उद्धृत
पृ-185•

10• अस्तित्ववाद - डॉ•महावीर दाधीच पृ-136•

11• नयी कविता में वैयक्तिक चेतना - डॉ•अवधनारायण त्रिपाठी, पृ-61•

12• धर्मयुग - जगदीश गुप्त अप्रैल 1, 1972 पृ-18•

13• अरी ओ करुणा" प्रभामय - अज्ञेय पृ-25,34•

14• अस्तित्ववाद - स्वतन्त्रता की अवधारणा और नयी कविता -
डॉ•हनुमन्त राय नीरव 5 सं•अज्ञेय, तार सप्तक मुक्तिबोध पृ-67,55•

15• अतुकांत - लक्ष्मीकांत वर्मा पृ-147•

16• ठंडा लोहा -धर्मवीर भारती पृ-83•

17• शिलापंख चमकीले - गिरिराजकुमार माथुर पृ-26•

18• देवराज - साहित्यकार और चिन्तक -डॉ•विश्वंभर नाथ आध्याय पृ-28

19• संचेतना साहित्य समीक्षा - महीपसिंह पृ- 22

20• मानव एकता का आदर्श - अरविंद ने कहा था से उद्धृत -
डॉ• गिरिराज शरण पृ-137•

21• नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर - डॉ•संतोष कुमार तिवारी,पृ-62

22• नयी कविता में वैयक्तिक चेतना- डॉ•अवधनारायण त्रिपाठी,पृ-49

23• पुनश्च - डॉ•हरिचरण शर्मा पृ-65•

24• दुष्यन्तकुमार रचनाएँ और रचनाकार -ग•तु•अष्टेकर- पृ-28•

25• नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर - डॉ•संतोष कुमार तिवारी,पृ-26•

26• साहित्य के विविध आयाम - धर्मवीर भारती ,पृ- 37

27• परवर्ती रचनाएँ - आख्यान काव्यों का अनुशीलन-
नरेश मेहता का काव्य संवेदना और शिल्प पृ-32•

28• धर्मवीर भारती का साहित्य - सृजन के विविध रंग -
डॉ•चन्द्रभानु सोनवणे पृ-42

29• साहित्य के विविध आयाम - धर्मवीर भारती पृ-61•

30• नयी कविता की नाट्यमुखी भूमिका - डॉ•हुकुमचन्द राजपाल ,पृ-76•

****

चतुर्थ अध्याय

मानवीय यथार्थ और अस्तित्ववादी जीवन - दर्शन

प्रत्येक व्यक्ति के विचारों में कुछ न कुछ मौलिकता होती है। सामाजिक भावनाओं से प्रभावित होने पर भी वह मौलिकता बनी रह सकती है। समाज का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की उच्छृंखलताओं का नियंत्रण करते हुए भी उसकी वैचारिक मौलिकता की रक्षा करे। क्योंकि समाज की उन्नति व्यक्तिगत विचारों की ही श्रेष्ठता पर अवलंबित है।

मनुष्य जिज्ञासाविशिष्ट प्राणी है। वह वस्तुओं का अनुभव करता है। यही उसकी विशेषता है। इसी "हम" अथवा "अहम् की अनुभूति उसकी दृष्टि को अंतर्मुखी कर देती है और वह अंत:करण की शक्तियों द्वारा अपने भीतर और बाह्य जगत में भी छिपी हुई किसी अज्ञात सत्ता का अनुसंधान करके आत्मा, परमात्मा, ब्रह्मा आदि की दृष्टि को जानने का प्रयास करता है।

डॉ॰हरिचरण शर्मा "चिंतक" के अनुसार मानव के लिए "जीवन" और उसके "सत्य"सबसे बड़े यथार्थ हैं।१।१

धर्मवीर भारती के अनुसार मानवीय आंतरिकता की स्थापना, क्षण का महत्त्व, मानवीय विवेक के प्रति आस्था, वैयक्तिक दायित्व, मानवीय व्यक्तित्व का विघटन, मानवीय संकट और इस तरह के

बहुत से शब्दों का आशय और उसके पीछे निहित गांभीर्य को समझने के लिए अस्तित्ववाद चिन्तनधारा की प्रपत्तियों की ओर लौटना पड़ता है। वस्तुत: अस्तित्तववाद जीवन की एक संपूर्ण व्याख्या है और इस दृष्टि से जीवन-यथार्थ से संघर्ष करता व्यक्ति ही उसका मूल आधार है।§2§

डॉ॰गोविन्द रजनीश के अनुसार मानव अपने चारों ओर के वातावरण में जो कुछ देखता था अनुभव करता है। उसकी यथातथ्य अभिव्यक्ति के लिए वह प्रयासशील रहता है। जीवन को समग्र रूप में देखता है। मनुष्य जैसा है, सुख-दु:ख, जय-पराजय, हास-विलास, सृजन और संघर्ष आदि समस्त क्रिया-व्यापारों में उसकी जो मूर्ति उभरती है, नई कविता उस संपूर्ण संभावित मानव को चित्रित करना चाहती है। वह जीवन को व्यापक धरातल पर ग्रहण करता है और भोगे गए क्षणों की यथार्थ अनुभूति के आधार पर उसके खंड - रूपों की सार्थक अभिव्यक्ति करता है।§3§

यथार्थ को देखने की दृष्टि वस्तुओं को देख सकने की क्षमता पर नहीं बल्कि वस्तुओं के आपसी रिश्तों को बदलने की इच्छा पर निर्भर है। यथार्थ की धारणा नैतिक होती है। रघुवीर-सहाय इस संदर्भ में कहते हैं। मेरी समझ में वास्तविकता का परिचय देती हुई हर कलाकृति कला के बोझ से मुक्त नहीं हो सकती। मुक्त होने के लिए उसे इतिहास निर्माण में शामिल होना पड़ेगा - इतिहास निर्माण में अर्थात् यथार्थ का ऐसा संसार, सपनों में जो वास्तविकता के वर्तमान संसार को चुनौती दे दे।§4§

4·1· यथार्थ:--

अस्तित्ववादी चिंतनधारा ने वस्तुओं को परखने की यथार्थवादी दृष्टि दी है। वस्तुत: सत्य मानवीय यथार्थ का तत्वबोध है और चेतना के स्तर पर उसकी अनुभूति होती है। अस्तित्ववाद मानता है कि यथार्थ या सत्य का स्वरूप स्थिर नहीं होता, वह सर्वदेशीय या सर्वकालिक भी नहीं होता, बल्कि सत्य का स्वरूप वस्तु और काल सापेक्ष है अस्तित्ववादी चिंतकों ने यथार्थ-बोध को इसी रूप में चित्रित किया है।

मानव को ऐसे बहुत कार्य सामाजिक दबाव के कारण करने पड़ते हैं। प्रवाद पर्व में लक्ष्मण कहते हैं ---

"सामाजिक दबावों/ यथार्थ के दुराग्रहों तथा
कल्पना प्रसूत ऐतिहासिक इच्छाओं के सम्मुख
नतमस्तक होना पड़ता है।"§पृ-87§प्र·पर्व§

यथार्थ है मृत्यु भी जो जीवन पर छायी हुई है। आत्मजयी काव्य में नचिकेता कहता है वाजश्रवा से --

"यदि यथार्थ है मृत्यु भी
तो मृत्यु ही यथार्थ हो जा सकती है।
इस तरह कि वह जीवन पर छा जाय।।"§पृ-21·आत्मजयी§

महाभारत जो यथार्थवाद की चरम गाथा है। अश्वत्थामा क्रूरता, प्रतिहिंसा, भयानकता का प्रतीक है। वह विकास और पल्लवन का प्रतिनिधित्व करता है तथा जीवन के कठोर और क्रूरतम यथार्थ में जीता है---

"जैसे रोगी मुर्दे के/ मुख में शेष रहता है।
गन्दा कफ/ बासी थूक/ शेष हूँ अभी तक मैं।" (पृ॰37, अंधायुग)

अश्वत्थामा की इस स्थिति का महत्वपूर्ण कारण था। उसकी आस्था और उसके विश्वास का मज़ाक। उनके पिता द्रोणाचार्य का युधिष्ठिर की वाणी में अटल आस्था थी लेकिन युधिष्ठिर ने अपने अर्द्ध-सत्य से उनका वध करवा दिया। अश्वत्थामा उस दिन से अन्ध बर्बर पशु की तरह अन्धी गुफा में भटकते हैं। उनके शब्दों में कितना यथार्थ झलकता है। व्यास उन्हें पशु कहते हैं तब अश्वत्थामा कहते हैं---

"था मैं नहीं/ मुझको युधिष्ठिर ने बना दिया।"
(पृ-96, अंधायुग)

जो कभी यथार्थ था आज वही बिम्ब के रूप में जमा हुआ है। कल्पांतर काव्य में ---

"अनझर गुलदस्तों से/जिनमें हैं जमे बिम्ब
पूर्ते, गत यथार्थों के।" (पृ-23, कल्पांतर)

एक कंठ विषपायी काव्य में शंकर आदर्शों को त्यागकर यथार्थ के धरातल पर उतर आए हैं। क्योंकि आदर्शों ने उन्हें छला है। आदर्शों से उन्हें निर्वासन और प्रेयसि वियोग ही मिला है। अत: आज उनकी जीवन दृष्टि बदल गयी है ---

"महादेव" शंकर की सेनाएँ/ लौट गईं-----
सीमा पर रक्तपात/ नहीं हुआ--------
युद्ध हो गया समाप्त।" (पृ-125, एक कंठ विषपायी)

जो व्यक्ति अन्धा होते हुए भी संसार को ग्रहण कर सकता है। राजा के पद पर आसीन हो सकता है। वह धृतराष्ट्र, अगर यह कहे कि जन्मांध होने के कारण बाहरी यथार्थ और सामाजिक मर्यादा को वह ग्रहण न कर पाया, तो इसे क्या कहा जाए। धृतराष्ट्र कहते हैं विदुर से ----

"मैं था जन्मांध/ कैसे कर सकता था
ग्रहण मैं
बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को।" (पृ-19·अंधायुग)

डॉ·हुकमचन्द राजपाल के अनुसार कोरी दिखावटी आदर्शवादिता आज के मानव को स्वीकार्य नहीं वह तो यथार्थ वादिता का हामी है और उसे इसी में सत्य विश्वास, आस्था एवं संतोष प्राप्त होता है, नचिकेता समकालीन स्थितियों को अनेक प्रसंगों में स्थापित करता है। वह तो अपने पिता से यहाँ तक कहता है कि ---

"समझाओ मुझे अपने कल्याण का आधार
ये निरीह आहुतियाँ /यह रक्त/ यह हिंसा
ये अबोध तड़पनें/ बीमार गायों सा जन-समूह।"
(पृ-21· आत्मजयी)

निष्कर्ष:---

मनुष्य यथार्थ में रहना चाहता है। उसे खोखले आदर्श स्वीकार्य नहीं।

4•2• सत्य :--

भारतीय दर्शन सत्य तथा धर्म पर आधारित है। सत्य "सत" धातु से बना है अर्थात् सत्ता या जो विद्यमान है। यह सत् अविनाश्य है। सत्य और धर्म दोनों की विजय होती है -"सत्यमेव जयते तथा यतो धर्मस्ततो जय:। सत्य अस्तित्व बोध है और धर्म कर्मबोध है। अस्तित्वबोध के लिए कर्म करना आवश्यक है।

धर्मवीर भारती साहित्य के विविध आयाम में कहते हैं कि नैतिक मूल्यों में "सत्यं शिवं सुंदरम्" को सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया गया है। जब हम इसी सत्य को पृथक से व्यंजित न कर जीवन के साथ रखते है तो उस समय जीवन-सत्य का तात्पर्य सम्पूर्ण जीवन के मर्म - ध्येय से हो सकता है।(5)

पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव के अनुसार जो कुछ है वह "सत्य" है। जो कुछ हम देखते या सुनते हैं। जिसका अनुभव या अनुमान करते हैं, जिसकी कल्पना करते हैं, जिसे बुद्धि से जानते हैं अथवा जिसका हमें आभास मिलता है। वह सब है-- इसलिए सत्य है। व्यक्त सत्य के अतिरिक्त किसी पूर्ण एवं अनन्त सत्ता की कल्पना उसे सह्य नहीं है।(6)

सत्य कटु होता है लेकिन मानव को सत्य ही कहना है। यही तो कल्पांतर काव्य में प्रराविधुता वहती है। यह एक आँच के रूप में होती है, जिसको पाना, रखना, सहना बहुत कठिन होता है---

"सच कहना है कडुवा कहना।
अभिव्यक्ति सत्य की है कोई अपराध नहीं।"

(पृ-62, कल्पांतर)

अंधायुग के संजय भी यही कहते हैं ---

"सत्य कितना कटु हो/ कटु से यदि कटुतर हो
कटुतर से कटुतम हो/ फिर भी कहूँगा मैं
केवल सत्य, केवल सत्य, केवल सत्य
है अंतिम अर्थ।" (पृ-39, अंधायुग)

जिस प्रकार से संजय के लिए सत्य ही अंतिम अर्थ था उसी प्रकार से धृतराष्ट्र के लिए उसकी मांसलता से उपजे कौरव ही अंतिम सत्य थे। वे कहते हैं ---

"वे ही थे अंतिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी मर्यादा थी।" (पृ-20 अंधायुग)

लेकिन ये अंतिम सत्य भी झूठे पड़ जाते हैं जब मोहावश व्यक्ति झूठ को सच मानते हुए उसी पर अड़ा रहे। धृतराष्ट्र यह जानते थे कि उनका सैनिक बल कितना है -- और प्रारंभिक दिन से वे पूरे वंश का नाश सुनते रहे फिर भी उन्होंने उसे रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। क्योंकि अपनी मिथ्या को ही वे सत्य मानते थे। विदुर कहते हैं---

"पहले दिन से किन्तु/आपका वह अन्तिम सत्य
कौरवों का सैनिक बल/होने लगा था सिद्ध झूठा और -
शक्तिहीन।" (पृ-20;अंधायुग)

यही कारण था धृतराष्ट्र के पराजय का और संजय जो अपनी दिव्य दृष्टि से युद्ध के पश्चात् हुई सारी घटनाओं को धृतराष्ट्र और माता गांधारी को सुनाते रहे।लेकिन पराजय के अनुभव को कहने में वे हिचकिचा जाते हैं। उन्हें लगता है ----

"----- आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने
जैसे प्रकृति ही बदल दी है सत्य की।"ᚱपृ-32,अंधायुगᚱ

संजय को यह वरदान व्यास से प्राप्त होता है कि वे सत्य कहने के लिए बचे रहेंगे। लेकिन संजय को यह वरदान, ऐसा प्रतीत होता है जैसे व्यास ने उन्हें अनजाने में ही श्राप दे दिया हो ---

"कैसा यह शाप मुझे व्यास ने दिया है अनजाने में,
हर संकट, युद्ध,महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद।
शेष बचोगे तुम संजय/ सत्य कहने को।" ᚱपृ-23, अंधायुगᚱ

दुर्योधन की हार की विकृत अनुभूति को माता गांधारी और धृतराष्ट्र को सुनाना संजय को कष्टप्रद प्रतीत होता है। वे कहते हैं ----

"कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें विकृत अनुभूति से।।" ᚱपृ-33· अंधायुगᚱ

अश्वत्थामा उन्हें पांडव योद्धा समझ दबोच लेते हैं। संजय चाहते हैं कि उनकी उसी क्षण मृत्यु हो जाये क्योंकि यह विकृत अनुभूति जिसे अंधों को सुनाना है यह मृत्यु की पीड़ा से अधिक दुखदायी है---

"जाकर अन्धों से/ सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो/उससे तो वह ज्यादा सुखमय है।"
ᚱपृ-10·अक अंधायुगᚱ

एक कंठ विषपायी काव्य में विष्णु भी इस पीड़ा पर प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं ---

"सत्य का ताप/ बड़े संयम से औ" श्रम से मिलता है।
जिसमें उद्घाटित होता है सत्य
उसे सृजन का सुख मिलता है।
किन्तु सृजन से पहले की पीड़ाओं जैसी
पीड़ा इसमें भी होती है।"§पृ-121, एक कंठ विषपायी§

लेकिन विष्णु भी सत्य पर ही खड़े होते हैं। वे इन्द्र से कहते हैं कि शंकर कितने ही निकट मित्र हो और ब्रह्मा कितने ही अभिन्न हो--

"पर मै अपना मत/ सत्य के पक्ष में दूँगा।"§पृ-117,एक॰ वि॰§

सत्य के साथ कर्म की महत्ता भी जीवन में स्वीकार्य है। केवल सत्य की ओट में रहते हुए निष्क्रिय व्यक्ति जीवन को सार्थकता एवं उत्कृष्टता की ओर अग्रसर नहीं हो सकता।

कृष्ण भी रणभूमि में अर्जुन को कर्म करने का आदेश देते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि सत्य की ही जय होगी---

"सत्य जीतेगा/ मुझसे लो सत्य, मत डरो।"§पृ-26,अंधायुग§

और संजय जीवन भर सत्य पर ही खड़े रहे, उन्होंने कर्म को महत्व न दिया। फलस्वरुप उनकी दिव्य दृष्टि लुप्त हो जाती है।

जीवन भर रहा है मैं निरपेक्ष सत्य
कर्मों में उतरा नहीं
धीरे - धीरे खो दी दिव्य दृष्टि।"§पृ-अंधायुग§

संजय की ही तरह राम भी कर्म नहीं करना चाहते वे भी सत्य चाहते। वे भी सत्य चाहते हैं। उनके पिता दशरथ छाया के रूप में

प्रवेश हो उन्हें समझाते हैं कि सत्य और अधिकार पाने के लिए कर्म करने पड़ते हैं, जिसके बिना वे प्राप्त नहीं होंगे।---

"राम !/ तुम चाहते हो सत्य
औ अधिकार/ युद्धसाधन के बिना।" ﴾पृ-56, संशय की रात﴿

ब्रह्मा जिसपर विचार ही करते रहते हैं विष्णु अपने प्रणाम - बाण से शंकर की मोहांधता को तोड़ते हुए कर्म करके दिखाते हैं---

"सत्य समझकर ही शंकर पर
अपना प्रथम बाण छोड़ा है/इसके द्वारा
उनका एक स्वप्न तोड़ा है।" ﴾पृ-119, एक कंठ विषपायी﴿

युधिष्ठिर सत्यवादी थे। लेकिन कौरवों को युद्ध में हराने के लिए वे अर्द्धसत्य का सहारा तो लेते हैं, फिर भी यातना का अनुभव करते हैं ---

"ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य , रक्तपात, हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव कर
यह भी यातना ही है।" ﴾पृ-106, अंधायुग﴿

युद्ध जीतने के बाद भी पांडव खुश नहीं है क्योंकि अपने ही बंधु बांधवों को मार कर, रक्त पात कर युद्ध जीतना दुखदायी होता है। और इसलिए पांडव समुदाय महाप्रस्थान करते है। उन्हें इस सत्य की जानकारी है कि इस पथ पर यात्रा करते समय उनके भीतर की यात्रा कभी भी पूरी हो सकती है। युधिष्ठिर कहते हैं भीम से ---

"कितना निमर्मम है/ यह सत्य।" ﴾पृ-95; म॰प्र॰﴿

और सत्य छुपाने से नहीं छुपता, चाहे मानव कितना ही प्रयास क्यों न कर ले। यह सच था कि वाजश्रवा इन्द्रासन की प्राप्ति हेतु यज्ञ करते हैं। लेकिन उनकी दुर्वासा को जितना वे ढकने का प्रयत्न करते हैं। उतनी ही वह उभरती है। क्योंकि सच्चाई छिपे नहीं छिपती।

"जितना ढंका उससे कहीं अधिक अनावृत
घातक, अश्लील स्पाइयाँ/जिन्हें सब छिपाते
पर जिनसे छिप नहीं पाते।"॥पृ-26,आत्मजयी॥

वाजश्रवा सत्य को बड़ी आसानी से अपनी तरफ कर लेते है, जिस सत्य को पाने के लिए कितनी ही महान आत्माओं ने कष्ट सहा है-- वे इसे न ही समझते हैं और न ही समझने का प्रयास करते हैं। नचिकेता कहता है आत्मजयी में ---

"सत्य, जिसे हम सब इतनी आसानी से
अपनी-अपनी तरफ मान लेते हैं, सदैव
विद्रोही सा रहा है।"॥पृ-23, आत्मजयी॥

और यही कारण है कि नचिकेता अपने पिता के प्रति विद्रोह करते हैं और अपने पिता के क्रोध के कारण शापित होते हैं। उन्हीं की हठ की सत्यता से वे दंडित भी है, वे कहते हैं --

"मैं अपनों के हठान्त सत्यों से दण्डित हूँ
उनके विमूढ विश्वासों से हारा हूँ।"॥पृ-30,आत्मजयी॥

यही हाल है याचक का जो कौरव होते हुए भी कौरवों के विपक्ष में थे और कृष्ण के साथ रहते हुए, पांडवों का साथ देते हुए सत्य पर

आरूढ थे। फलस्वरूप माता गांधारी जब उनके प्रति व्यंग्यात्मक शब्दों का प्रयोग करती है। तो वह सह नहीं पाते। वे विदुर से कहते हैं ---

"अच्छा था यदि मैं/कर लेता समझौता असत्य से।"

§पृ-68, अंधायुग§

लेकिन युयुत्सु अगर इस उपेक्षा" के डर से, असत्य से समझौता कर लेते तो विदुर कहते हैं --

"तो अन्दर से जर्जर हो जाते।"§पृ- 69 अंधायुग §

इसलिए नचिकेता कहते हैं आत्मजयी में कि व्यक्ति को सत्य पर ही अड़े रहना है और सही जीवन जीना है, क्योंकि --

"गलत जीने से/सही बातें गलत हो जाती हैं।
सच्चाइयाँ झूठ लगतीं।"§पृ-20, आत्मजयी§

और विज्ञान सच और झूठ के भेद मिटाता हुआ, इंसान को लेकर उसकी गरिमा पर छाप छोड़ता जाता है - कल्पांतर काव्य में ---

"सत्य - झूठ का भेद मिटाकर
सभी मानवी भावों का आधार हटाकर
इंसानी निरंग गरिमा पर/छाप लगायी जाती।"

§पृ-82, कल्पांतर§

जब विज्ञान ही मानव - मानव में भेद मिटा देता है तो मानव को क्यों आपस में भेद करना चाहिए। शम्बूक कहते हैं कि सभी पृथ्वी पुत्र हैं तब भेद क्यों माना जाए।---

"जन्मता जायते शूद्र:
क्यों नहीं सबके लिए यह सत्य।।"﴾पृ-41,शम्बूक﴿

मानव को सभी मानवीय भावनाओं को हटाकर सत्यता की जड़ तक पहुँचना चाहिए। यह भावना नहीं होनी चाहिए कि अकेले व्यक्ति की अभिव्यक्ति असत्य है और समूह की ही सत्य। सीता पर तर्जनी लगाए जाने पर प्रवाद पर्व में राम कहते हैं कि ---

"चूँकि वह तर्जनी अकेली है।
अत: उसकी सत्यता पर संदेह भी स्वाभाविक है।"
﴾पृ-10। प्रवाद पर्व﴿

सत्य कुछ लोगों के लिए ही सीमित नहीं होती। हर व्यक्ति सत्य पर खड़ा हो सकता है। प्रवाद पर्व में राम का मन कहता है--

"यह कोई आवश्यक नहीं कि
सत्य/ अपनी ऐतिहासिक अभिव्यक्ति के लिए
केवल राजपुरुषों या। पण्डितों को ही चुने।"﴾पृ-32,प्र.पर्व﴿

लक्ष्मण इसे चुनौती के रूप में लेते हैं। क्योंकि एक साधारण जन को राज्य के शीर्षतम पर तर्जनी उठाने से पहले सोचना चाहिए था। लेकिन राम ऐसा नहीं मानते वे कहते हैं कि इसे ---

"सहज सत्य की अभिव्यक्ति
क्यों नहीं माना जाना चाहिए।"﴾पृ-34,प्र.पर्व﴿

लेकिन सीता सत्य को ही महत्व देती है। वह कहती है ---
"मैं था/ कोई भी
राष्ट्र-न्याय और सत्य से बड़ा नहीं।"﴾पृ-81,प्र.पर्व﴿

सत्य पर खड़े युयुत्सु भी यही कहते हैं ---

"मैं भी हूँ कौरव
पर सत्य बड़ा है कौरव वंश से।" ॥पृ-55,अंधायुग॥

और सत्य पर खड़े व्यक्ति को किस का डर। एक कंठ विषपायी में वीरिणी अपने प्रति दक्ष से अपनी पुत्री सती के बारे में कहती है कि उनकी पुत्री आत्म - तुष्ट और सुखी है इसका कारण-उसके पास सच्चाई का बल है।

"अगर सचाई का बल/ उसके साथ न होता
तो शंकर की/ संयम - शीला कदापि न हिलती।"
॥पृ-14,एक कंठ विषपायी॥

सत्य हर एक को हिला कर रख देती है। एक कंठ विषपायी में शंकर सहसा आक्रामक का रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि वे ---

"नए सत्य से जोड़ नहीं पाए वे खुद को/शव के कारण।"
॥पृ-120,एक कंठ विषपायी॥

ग•तु•अष्टेकर के अनुसार यह सत्य है कि सती का शरीर मृत है। शंकर इसे भले ही अस्वीकार करते रहे। परन्तु सच्चाई - सच्चाई है। शंकर का अस्वीकार भी अस्वाभाविक नहीं। एक सत्य से कटकर दूसरे सत्य से जुड़ने में जो भारी आन्तरिक अड़चन होती है। उसी के कारण हम क्रुद्ध और भयभीत होते हैं। मृत परंपरा से चिपककर उसका बोझ ढोनेवाले यह सत्य नहीं समझ पाते कि वे स्वयं भी अपने आनेवाले कल की लाश है।

व्यक्ति जब सत्य से कटता है तो व्याकुल हो जाता है। एक कंठ विषपायी काव्य में बालक सुलभ पक्षी को पकड़कर रखना चाहता है। उड़ने की प्रवृति वाली पक्षी को जब बांध कर रखा जाता है तो उसकी क्रोंच से सभी व्याकुल हो उठते हैं। उसकी माँ वीरिणी कहती है दक्ष से कि यह हृदय कि सहज दुर्बलता है, जैसे हर मनुष्य अपनी सामर्थ्य और सीमा के भीतर जीवित किसी सत्य से कटने पर दुखी हो जाता है--

"किसी सत्य से सहसा कट जाने पर
व्याकुल हो उठता।" (पृ-21, एक कंठ विषपायी)

यह मानव का स्वभाव है कि वह सत्य से आँखें मींचने का प्रयास करता है। इन्द्र अपनी कुर्सी की रक्षा हेतु शंकर से युद्ध करना चाहते हैं न कि प्रजा के लिए लेकिन वे दिखाना यह चाहते हैं कि प्रजा की रक्षा हेतु युद्ध चाहते हैं जिस पर ब्रह्म कहते हैं ----

"तुम सत्य से आँख मत मींचो
यदि तुम को जय ही अभिष्ट है।
अपनी ओर सत्य को खींचो।" (पृ-117, एक कंठविषपायी)

यही तो राम भी कहते हैं प्रवाद पर्व काव्य में कि युद्ध और खड्ग से वे सत्य नहीं चाहते बल्कि मानव का मानव से सत्य चाहते हैं-

"मैं सत्य चाहता हूँ।/युद्ध से नहीं
खड्ग से नहीं/ मानव का मानव से सत्य चाहता।"
(पृ-39, एक कंठ विषपायी)

और यही विष्णु कहते हैं कि शंकर अगर चुनौती को स्वीकार कर हमसे युद्ध करने आते हैं तो भी युद्ध हमारे पक्ष में ही होगा। क्योंकि

हमने आक्रान्ता को आत्माभिमुख होकर सोचने का अवसर दिया।
वे कहते हैं ---

"हर हाल में सत्य हमारी ओर रहेगा
....अन्तिम विजय हमारी होगी।" §पृ-125,एक कंठ वि.§

हर हालत में सत्य उनकी ही थी। क्योंकि वे सती के शव को शंकर ढो रहे थे। अर्थात् पुरानी मान्यताओं की लाश ढो रहे थे। जिसे त्यागना है और नयी स्थिति की सच्चाई को स्वीकारना है, जिसके अनुसार सती मृत है और यदि शंकर "बाण" का प्रणाम स्वीकार कर अपनी भूल को समझते हैं तो भी सत्य उन्हीं के पक्ष में होगा।

इसी विषय को लेकर जब ब्रह्मा कहते हैं कि सत्य के संरक्षक की जय होगी। लेकिन इन्द्र समझते हैं कि ब्रह्मा पक्षपात कर रहे हैं। इसलिए शंकर के युद्ध की दुंदुभी बजाने पर भी वे युद्ध की अनुमति नहीं दे रहे हैं। जिसपर ब्रह्मा कहते हैं । इन्द्र से ---

"पक्षपात से ऊपर उठकर यह बतलाओ।
मेरी ओर नहीं है।/तोफिर सत्य किधर है?"
§पृ-77; एक कंठ विषपायी§

. सत्य से हटकर या हटकर कोई नहीं जी सकता है। कल्पांतर काव्य में---

"समय चक्र पर/ यही चिरंतन सत्य पल रहा।" §पृ-31,कल्पांतर§

यही सत्य है कि जीवन एक चक्र के रूप में सदा चलता रहता है।

"है पृथ्वी के सत्य की/ जीवन के चक्र को।" §पृ-22, कल्पांतर§

लेकिन अहल्या यह नहीं समझ पाती कि किस चरम सत्य के लिए गौतम ऋषि तपस्या कर रहे हैं। जबकि उसके मन में अनेक अभिलाषाएँ हैं। अहल्या का मन कहता है --

"किस चरम सत्य के लिए/ जबकि भीतर
एक पर्वत उठने के क्रम में हो
और समुद्र उसे स्थान दे कर
आँखें चुराता निरस्त।।"(पृ-4, आत्मदान)

डॉ॰विनय के अनुसार संपूर्ण प्राचीन भारतीय, वाङ्गमय सत्य की खोज के लिए "ज्ञान" पर बल देता है और जीवनगत शांति के लिए त्याग और समर्पण पर उसकी अवधारणा आत्मगत होते हुए भी सामान्य जीवन पर लागू होती है। ज्ञान का अनुभव कर स्थितियों से ऊपर उठ जाता साधारण व्यक्ति के बस की बात नहीं है। अंधायुग में प्रहरियों का कथन कि "ये क्या शासन करेंगे, ये तो संत - ज्ञानी हैं, सत्य के स्वरूप की सही व्याख्या है। आत्मज्ञान से सत्य का वह रूप पाया जा सकता है। जिसकी उपलब्धि वैयक्तिक स्तर पर होती है। समिष्टगत सत्य पर सत्य जीवन की गति का ही पर्याय है। जिसमें स्थिति सापेक्ष अच्छा बुरा, कोमल - कठोर, सभी की उपस्थिति अनिवार्य है।"(1)

संपूर्ण अंधकार के महासागर के बीच शायद जीवन की गति पर विश्वास ही सत्य है। "जिसकी खोज अंधायुग के माध्यम से की गई है---

"जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार।"(पृ-130,अंधायुग)

और ऐसे ही सत्य की खोज पर उतरते हैं। आत्मजयी के नचिकेता। यमराज कहते हैं कि ज्ञान कठिन जिम्मेदारी है,जिसमें मानव पहले नयी

वचस,श्रम,साधना, अनिश्चय,चिन्तन,मनन,खोज लेता है और उसके बाद मानव उदासीन जीवन व्यतीत करता है, वे कहते हैं---

"खोज सत्य की करनेवाला/बहुधा उसमें ही खो जाता।"
(पृ-82, आत्मजयी)

और यह खोज करने की शक्ति केवल मानव में ही है। क्योंकि ईश्वर ने मानव को ही बुद्धि दी है। आत्मजयी काव्य में---

"बुद्धि/ जीवन-सत्य के कुछ श्लोक शाश्वत खोजती -सी
भूमि पर पहले -पहल मनुष्यत्व के तेजस् उदय पर।
(पृ-113, आत्मजयी)

और कभी - कभी यह बुद्धि भी सत्य तक नहीं पहुँचती । क्योंकि मानव उसका उपयोग नहीं करता। शम्बूक काव्य में राम सत्य को जानने की कोशिश नहीं करते और शम्बूक का वध कर देते हैं। शम्बूक कहते हैं ---

"था तुम्हारा चित्त/ क्रोधावेश से भर पूर
सत्य भासित हो न पाया/ रहा तुम से दूर।" (पृ-86, शंबूक)

शंकर की भी यही स्थिति है। सती की अकारण मृत्यु के कारण वे इतने क्रोधित होते हैं। कि वह मृत्यु की सत्यता को स्वीकार नहीं पाते। ब्रह्मा कहते हैं----

"क्रोध के बहाने कराहते हैं/उन्हें किसी सत्य से जुड़े रहने
और टूट जाने का/ दुविधा युक्त भ्रम है।" (पृ-60,
एक कंठ विषपायी)

राम भी भ्रम में हैं । उन्हें हर जगह सीता ही नज़र आती है। क्योंकि अतीत के पन्ने उनके हृदय में पलटते रहते हैं। वे सोचते हैं---

"यह सत्य है/ या मात्र परछायी ।"(पृ-35, शम्बूक)

राम को सत्य पर आस्था है। लेकिन उनका मन कहता है कि यज्ञ, आस्था, देवोपासना, मानव एकता अगर युद्धों के बिना सत्य नहीं है तो वे लक्ष्मण से कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह संकट, एक गहरा प्रश्न बन जाएगा और तब हर व्यक्ति ---

"सत्य की मिथ्या पताकाएँ लिए
अपने स्वार्थ के दे खड्ग
होगी आस्था की वंचना ही।"(पृ-32, संशय की रात)

किसी की मिथ्या अभिव्यक्ति को शस्त्र सम्मत सत्य कहकर छले जाने से अच्छा है। अंधेरे में खो जाना, संशय की रात के राम कहते हैं ----

"मात्र/ श्रेष्ठ हाथों की प्रतीती के लिए
इस मिथ्यात्व को/शस्त्र सम्मत सत्य कहकर
मत छलो।"((पृ-13, संशय की रात)

यही स्थिति है अंधायुग के विदुर की भी युधिष्ठिर कहते हैं जब पांडवों के साथ अन्याय हो रहा था। वे मूक रहे, और न ही उन्होंने प्रतीकार किया। क्योंकि शीलवान की सज्जन भाषा को कोई राज्य नहीं समझता, वे कहते हैं ---

"सत्य की मूर्ति/निस्पृह तटस्थ
क्यों मूक रहे।" ﴾पृ-51. म.पृ.﴿

विदुर सत्य की मूर्ति होते हुए परिस्थीतियों को देख मूक रहे तो धर्मराज जो सत्य की मूर्ति थे उन्हें भी। किन्ही परिस्थीतियों में असत्य का सहारा लेना पड़ा। महाप्रस्थान में ---

"--- फिर भी असत्य का आश्रय लेना पड़ा।"﴾पृ-44,म.पृ.﴿

परिस्थीति के अनुसार जब विदुर और युधिष्ठर अपनी बात विभिन्न रूपों में कहते तो संजय अन्धे धृतराष्ट्र और माता गांधारी को अश्वत्थामा को दिखाना चाहते है, जिससे कि अश्वत्थामा को माता वज्र बना सके पर तभी संजय की दिव्य दृष्टि समाप्त होने लगती है तो वे कहते हैं ---

"अन्धों को सत्य दिखाने में क्या
मुझको भी अन्धा ही होना है।"﴾पृ-88,अंधायुग﴿

और यह अंधत्व की बात तब भी आती है जब व्यक्ति या तो क्रोध में या मोह में अंधा हो जाता है। एक कंठ विषपायी में ब्रह्मा युद्ध नहीं करना चाहते है शंकर से क्योंकि युद्ध ही एकमात्र समाधान नहीं होता, तो कुबेर, इन्द्र, समूह में आकर ब्रह्म से कहते हैं कि वे सब अगर क्रोध में अंधे हैं तो ब्रह्मा ममता में अंधे हैं और इसलिए वे कहते हैं---

"तुम में भी उस सहज सत्य के
अन्वेषण की दृष्टि नहीं है।"﴾पृ-103,एक कंठ विषपायी﴿

और सत्य की प्राप्ति दूसरों से प्रश्न करके नहीं बल्कि महाप्र प्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं ---

"स्वयं से ही जिज्ञासा करनी होती है।" (पृ-105, म.प्र.)

और वृद्ध याचक जिन्होंने ज्योतिशास्त्र के द्वारा दुर्योधन की विजय बताई थी वे उनके पराजय के समय कहते हैं। यह सत्य का बोध है। इसलिए वे स्वयं जाकर कहेंगे कि ---

"नहीं है पराजय यह दुर्योधन
इसको तुम मानो नये सत्य की उदय बेला।" (पृ-44, अंधायुग)

तो दूसरी और विज्ञान हर सही सूचना, को गलत सिद्ध करने पर तुला है। कल्पांतर काव्य में स्वर्ण दैत्य पूछते है संचारक प्रचारक से---

"तुम दुनिया में/ कितना कर पाये हो प्रचार
किन किन सत्यों को तुमने मिथ्या सिद्ध किया।" (पृ-58, कल्पांतर)

इस संहार को रोकने के लिए गाथाकार समता बोध की बात करते हैं, जो सभी जन को सम्मोहित करती है। कल्पांतर काव्य में--

"ग्राम, वन, खेतों का/ सत्य न्यारा समता
अर्थ मुक्ति जन मोहन है।" (पृ-39, कल्पांतर)

विवेकानन्द कहते हैं ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। एकमात्र आत्मा ही सत्य है और एकमात्र धर्म ही सत्य है। इन्हें ही सत्य समझो। (10)

निष्कर्ष:--

सत्य जीवन का परम तत्व है। वह जिससे कोई भाग नहीं सकता और जिसे छिपाए नहीं छिपाया जा सकता है। वह स्वयं प्रकाशवान होता है। जिसके सहारे मानव एक अच्छा इंसान बनता है। एक अस्तित्ववादी मानव बनता है।

4·3· युद्ध :---

देश और समिष्ट के न्याय और सत्य की रक्षा के लिए युद्ध के वरण करने में ही बुद्धिमता है। शांति स्थापना के लिए जब सारे युद्धेतर प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। तब परिस्थिति का औचित्य युद्ध स्वीकार करने में है। युद्ध तब अंतिम निर्णय होता है।

एक कंठ विषपायी काव्य में विष्णु भी यही कहते हैं वे भी युद्ध को अधिक से अधिक एक कारण मानते हैं, वे कहते हैं ---

"दृष्टि के बिना अकारण युद्ध न ठानें
युद्ध अधिक से अधिक एक कारण है।"(पृ-106,एक कंठ वि·)

सुग्रीव भी युद्ध को कारण मानते हैं। संशय की रात काव्य में वे कहते हैं राम से ----

"युद्ध केवल पेन ही नहीं/ निर्णय है
जिससे इतिहास बनता है।"(पृ-83, संशय की रात)

इतिहास पुरुष काव्य में क्लिओपेट्रा कहती है कि मार - काट और युद्ध स्वयं में काम्य नहीं है। उसे संगीत में, प्रणय में खोये रहना अच्छा लगता है पर वह क्या करे ---

"युद्धाश्रित ही बढ़ पाता इतिहास / प्रलय है,
साम्य है , सृष्टि में गुथी विषमता।" (पृ-67, इ॰पु॰)

राम यही समझाते हैं कि रावण उनकी अर्थात् सीता की शक्ति से अनभिज्ञ था। सीता तो रावण के व्यक्तित्व की स्वाहा थी। वे कहते हैं। प्रवाद पर्व काव्य में ---

"युद्ध तो केवल/ऐतिहासिक पुष्टि के लिए हुआ था।"
(पृ-70, प्रवाद पर्व)

सीता की अग्नि परीक्षा लेने पर सभी इस कृत्य के लिए अपने आपको इतिहास दोषी मानते है। लेकिन राम ऐसा नहीं मानते, वे कहते हैं ---

"क्या युद्ध/ राष्ट्र और इतिहास के लिए दी गयी
समाज की/ ऐसी ही अग्नि परीक्षा नहीं होता।"
(पृ-100, प्रवाद पर्व)

सीता की प्राप्ति हेतु रावण से युद्ध क्या वह दायित्व था। संशय की रात के राम मानते हैं कि युद्ध किसी भी पीढ़ी के लिए दायित्व है---

"किन्तु युद्ध दायित्व है/किसी भी पीढ़ी के लिए दायित्व है।
आवेश नहीं "-- (पृ-81, संशय की रात)

एक कंठ विषपायी काव्य में ब्रह्म भी यही समझाते हैं इन्द्र को---
"युद्ध/अधिक से अधिक विशिष्ट परिस्थितियों में
समाधान का संभव कारण बन सकता है।यही नियम है।"
(पृ-101, एक कंठ विषपायी)

और इन्द्र से जब ब्रह्म प्रश्न करते कि क्या युद्ध स्वयं में कोई उपलब्ध सत्य है तो इस पर इन्द्र कहते हैं कि जहाँ न्याय की हत्या हो, अन्याय सफल हो, जहाँ शक्ति को अहंकार हो, सत्य विकल हो, जहाँ विवश सा शौर्य झुकाए शीश हों, जहाँ प्रबल हो असुर और निर्बल हो भर्ता, वहाँ ---

"धैर्य का दुर्ग अन्ततः ढह जाता है।
औ, एकमात्र आय युद्ध ही रह जाता" (पृ-104, एक कंठ वि॰)

शंकर एक कंठ विषपायी काव्य में सती की मृत्यु के पश्चात् डाकिनियों, शाकिनियों, प्रेतों और गणों के साथ युद्ध के लिए चलते हैं। इसलिए इन्द्र सेनापति के वेश में ब्रह्मा से अनुमति लेने के लिए आते हैं। क्योंकि ---

"--- युद्ध के सिवा/ अब कोई भी विकल्प अवशेष नहीं है।"
(पृ-75, एक कंठ विषपायी)

लेकिन युद्ध का उत्तर युद्ध नहीं होता। संशय की रात में राम का मन यही कहता है। "एक शासक के कारण वे सामूहिक दृष्टि को महत्त्व देते हुए युद्ध का निर्णय तो लेते हैं। लेकिन उनका मन प्रश्न करता है। अपने विवेक से कि क्या युद्ध के बाद शांति की कोई गुंजाइश रहेगी। वे कहते हैं ---

"--- सम्भव है/ युद्ध ही युद्ध का उतर हो
या यह भी सम्भव है कि / शान्ति
युद्ध के सत्य की एक चेष्टा हो।" (पृ-107, संशय की रात)

और यही राम के पिता दशरथ छाया के रूप में समझाते हैं राम को कि युद्ध सत्य है और युद्ध सत्य के लिए लड़ा जाता है। छाया के रूप में राम को सम्बोधित कर वे कहते हैं ---

"तुम्हें लड़ना युद्ध है/ असत्य से।"॥पृ-58,संशय की रात॥

डॉ॰हरिचरण शर्मा भी इस बात पर जोर देते हैं कि राम की समस्या वैयक्तिक नहीं सामूहिक है। इसलिए युद्ध आवश्यक है। उनके शब्दों में राम इसलिए युद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि सीता हरण उनकी व्यक्तिगत समस्या है, फिर व्यक्तिगत समस्या के निवारण के लिए इतना रक्तपात, इतनी भयंकरता और मन को कंपा देनेवाली "वेदना किस काम की, हनुमान की दृष्टि में सीता अकेले राम की समस्या नहीं, वह तो साधारण व्यक्तियों की अपहृत स्वतंत्रता है। अत: इस स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए युद्ध अनिवार्य है।॥।।॥

राम को जो युद्ध लड़ना है वह न तो अपने आप लड़ा जाने वाला युद्ध है न अनास्था से लड़ा जाने वाला है। बल्कि वह तो असत्य के विरुद्ध उठाया गया अनिवार्य कर्म है।

वे आधे मन और अधूरे व्यक्तित्व से ही युद्ध को स्वीकारते है। मानव विभूति की चिन्ता उन्हें अंत तक पीड़ित किये हुए हैं। यही कारण है कि राम निर्णय के बाद भी शांति का अनुभव नहीं करते और भावी युद्ध का मानचित्र उनके मानस में पहले ही साकार हो उठता है।

"मुझमें कल का युद्ध/ आज ही संभावित हो चुका
रक्त स्नात हो गये आज ही।"॥पृ-101, संशय की रात॥

और युद्ध के पश्चात् होनेवाले नाश का उत्तरदायी कौन होगा? युधिष्ठिर कहते हैं। महाप्रस्थान में ---

"प्रत्येक युद्ध/ जिसमें से एक राज्य जन्म लेता है
कितनी स्त्रियों को विधवा
और बच्चों को अनाथ कर जाता है।" ॥पृ-107, म०प्र०॥

और यही नहीं युद्ध के उपरान्त युधिष्ठिर कहते हैं ---

"समाज में वर्ण संकरता बढ़ जाती है।" ॥पृ-108॥ म०प्र०॥

यह एक ऐसा दावानल है कि जब यह प्रारंभ होता है तोअपर अपना प्रभाव छोड़ जाता है -- महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठिर कहते हैं द्रौपदी से -- उसमें भी कोई भी सुरक्षित नहीं रहता--

"न कृष्ण, न पार्थ/ न तुम, न मैं
कोई भी सुरक्षित नहीं रहता। ॥पृ-75, म०प्र०॥

डॉ० शिवराज गोयल क भी यही कहते हैं कि युद्ध प्रतिहिंसाओं का ऐसा दावानल है, जिसमें कोई भी सुरक्षित नहीं रहता। युद्ध राज्य प्राप्त करने या छीनने के लिए होते हैं, युद्धों के बाद नए राज्य बनते अवश्य है। किन्तु उनकी चपेट में न जाने कितनी स्त्रियाँ, विधवा और कितने बच्चे अनाथ हो जाते हैं। समाज वर्णसंकर हो जाता है। मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ युद्ध और आतंक को जन्म देती हैं। यदि इन प्रवृत्तियों पर अंकुश न लगाया गया तो युद्ध और आतंक सामाजिकता के पर्याय बन जायेंगे। ॥12॥

और जो विजयी होते हैं उनके लिए युद्धस्थल के बाद भी जिंदगी भर उनके अन्त:स्थल पर युद्ध चलता ही रहता है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर यही कहते हैं ---

"युद्ध क्या ऐसे ही होते समाप्त?
जब शस्त्रों से थे/ शेष कर दिये जाते हैं।
युद्ध स्थल में/ तब अन्तःस्थल में युद्ध
अशेष हो/ जीवन भर चलता रहता है।"(पृ-48,म·प्र·)

और युद्ध के बाद हुए विनाश को देख कर ही मानव का विवेक जागता है। आत्मजयी के नचिकेता कहते हैं सब कुछ सहसा ऐसे शान्त हो जाता है--

"मानो किसी गहरे आघात के उपरान्त
शांति एक/ जैसे युद्धों के बाद का विवेक।"(पृ-66,आत्मजयी)

और यह विवेक ही व्यक्ति को विरक्ति की ओर खींचता है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं भीम से ---

"युद्ध और राज्य/ किसी में भी
मेरी कोई रुचि नहीं रही/रक्त और स्वेद से अर्जित
उस साम्राज्य से विरक्त ।।"(पृ-97,म·प्र·)

युधिष्ठिर ही नहीं संशय की रात के राम को भी ऐसा ही अनुभव होता है उन्हें भी यह सब मिथ्या लगता है। वे कहते हैं ---

"ऐसा युद्ध/ ऐसी विजय
ऐसी प्राप्ति/ सब मिथ्यात्व है।"(पृ-33, संशय की रात)

युद्ध में विजय के सम्मुख मानव मुल्यों का क्या महत्त्व रह जाता है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं---

"युद्ध का एकमात्र है तर्क-/विजय के सम्मुख
मूल्यवानता का क्या अर्थ है।"॥पृ-45, म॰प्र॰॥

और जब यही मानवीय मूल्य और मानवीय उदात्ततायें समाप्त हो जाती है। तभी युद्ध का जयघोष होता है। महाप्रस्थान में ---

"मूल्य और मानवीय उदात्ततायें
जब सार्वजनिक जीवन में/ हो जाती हैं शेष
तभी होता है युद्ध/ युद्ध का घोष।"॥पृ-44, म॰प्र॥

और एक युद्ध सदा भावी युद्ध को जन्म नहीं देगा। संशय की रात के राम कहते हैं --

"यह युद्ध/ संशय है अनागत युद्ध का कारण बने।"
॥पृ-80, संशय की रात॥

स्वत्व प्राप्ति के लिए भी क्यों न हो यदि युद्ध करना पड़े तो भी चिर सुरक्षा और शांति प्राप्त नहीं हो जाती। परन्तु हनुमान स्वत्व त्यागना स्वीकार नहीं करते उनके अनुसार अनुचित का प्रतिकार समय ही करेगा ।

लेकिन "एक कंठ विषपायी" के ब्रह्मा एक आदर्श राष्ट्राध्यक्ष का प्रतिनिधित्व करते हुए युद्ध को सामूहिक आत्मघात मानते हैं तथा शांति और पारस्परिक वार्तालाप से समस्या को सुलझाने का विचार व्यक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में युद्ध के पीछे वह जीवन दृष्टि नहीं होती। वे कहते हैं ---

"आत्मघात वह भी सामूहिक/मेरे अपने ज्ञानकोश में
युद्ध शब्द का यही अर्थ है।"§पृ-78,एक कंठ विषपायी§

युद्ध सामूहिक ही होती है। और महाभारत के युद्ध में तो वर्तमान बर्बरता देखी जा सकती है। युद्ध की इस बर्बरता की विभीषिका से अश्वत्थामा इतना प्रताडित होता है कि अन्त में वह किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। वह समझ नहीं पाता कि वह क्या करे क्योंकि उसके अंदर जो भी सत्य था, सुन्दर था। शिव था कोमलतम रूप था, सबको युद्ध की बर्बरता ने विनष्ट कर दिया। युद्ध की विभीषिका से अश्वत्थामा विक्षिप्त हो जाता है। बर्बर पशु बन जाता है। उसे कर्तव्य - अकर्तव्य का ज्ञान नहीं रह पाता है और जो - जो उसके समक्ष आ जाता है। उसकी हत्या कर देना चाहता है। युद्ध की बर्बरता उसके विवेक को नष्ट कर देती है।

"उस दिन से मैं/ पशुमात्र,अन्ध बर्बर पशु।"§पृ-37,अंधायुग§

अश्वत्थामा की यही पशुता एवं बर्बरता आधुनिक विश्व जीवन में भी विद्यमान है, जो निकटवती अतीत के दो आणविक महायुद्धों की देन है। आज के विश्व जीवन में उसी प्रकार की विक्षिप्तता, विवेक शून्यता, अनास्था, कुण्ठा, अविश्वास एवं निराशा दिखाई पड़ती है, जो कभी महाभारत अथवा अंधायुग के अभिशप्त पात्र अश्वत्थामा में निहित थी।

मनुष्य की मोहान्धता, स्वार्थपरता संकीर्णता, समाज निरपेक्ष वैयक्तिकता, मर्यादाहीन और अनैतिक आचरण के फलस्वरूप ही युद्ध का उदय होता है। अंधायुग में ---

"यह अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है।"(पृ-13, अंधायुग)

बलभीराज गोरे के अनुसार युद्ध मात्र जब कर्म बन जाता है। तब क्या धर्माधर्म क्या "सत्यासत्य" सार्थक, निरर्थक सभी प्रश्न गौण हो जाते हैं, युद्ध में केवल विवेक ही नहीं बल्कि प्रेम और केवल प्रेम ही नहीं प्रत्युत श्रद्धा स्थानों की भी बलि चढ़ायी जाती है। जिस राह से कृष्ण को राधा प्रणाम करने गुजरती थी, आज वही राह उसके लिए अभिशप्त बनी नज़र आती है, क्योंकि आज, उस रास्तें से कृष्ण की सेनाएँ युद्ध में भाग लेने जा रही थीं।(13) उस समय राधा को क्या लगा होगा, उसके सुकोमल मन को कितनी मर्मांतक चोट मिली होगी, कल्पना तक नहीं की जा सकती। मन ही मन कनुप्रिया सोचती है---

"जिस राह से तू लौटती थी बावरी
आज उस राह से न लौट/क्योंकि आज उस राह से
कृष्ण की अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ
युद्ध में भाग लेने जा रही हैं।"(पृ-69, कनुप्रिया)

और युद्ध में जहाँ मानव एक दूसरे को न पहचानने का नकाब ओढ़ता है वहाँ पर उसके श्रद्धास्थलों का क्या अर्थ रह जाता है-- कनुप्रिया --

"यदि ग्रामवासी/ सेनाओं के स्वागत में
तोरण नहीं सजाते/ तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़
दिया जाएगा।"(पृ-71, कनुप्रिया)

लेकिन इन सबके बावजूद भी कनुप्रिया की राधा को ऐसा-प्रतीत होता है जैसे कि कृष्ण के साथ वह शेष शय्या पर हो और समुद्र की लहरें युद्धमुद्रा में ---

"फेन का शिरस्त्राण पहने/सिवार का कवच धारण किये
निर्जीव मछलियों के धनुष लिये/युगमुद्रा में आतुर है।"
§पृ-80, कनुप्रिया§

हनुमान "संशय की रात" काव्य में यह प्रतिपादित करते हैं कि वे कभी युद्ध के लिए आतुर नहीं थे। वे कहते हैं दास भाव से राक्षस के रथ उन लोगों ने खेंचे थे और बदले में "नर" नहीं उन्हें वानर पद प्राप्त हुआ। उन लोगों को भोज्य पदार्थों के साथ बेचा जाता था और गरम सलाखों से उनकी देह पर लिखा गया था कि वे गुलाम हैं। उनका यही नाम है। कितनी मर्मांतक स्थिति है इन साधारण जनों की वे कहते हैं---

"हम साधारण जन/ युद्धप्रिय थे कभी नहीं
और न लंका युद्ध लड़ेंगे/युद्ध भाव से ।"§पृ-71,संशय की रात§

सर्वहत जो साधारण जन का प्रतिनिधि है वह युद्ध को व्यस्तता का नाटक मानता है। एक कंठ विषपायी काव्य में इन्द्र नए सत्य की सृजन-व्यथा से कतराना चाहा तथा न्याय के नाम पर उन्होंने नाटक रचना चाहा था। सर्वहत कहते हैं --

"व्यस्तताओं की रचना करके/उसे टाल जाते हैं
और युद्ध भी एक व्यस्तता का नाटक है।"
§पृ-122, एक कंठ विषपायी§

तो विभीषण युद्ध को एक दर्शन मानते हैं। वे राम से कहते हैं---

"युद्ध ही/ अन्तिम सत्य दर्शन हुआ करता मित्र
शेष/ शोभा वंचना ।"(पृ-84, संशय की रात)

विभीषण सत्य पर तो खड़े थे। लेकिन अपने भाई रावण के विपक्ष में युद्ध करना उन्हें बाधित करता है। वे कहते हैं ---

"मै भी युद्ध की अनिवार्यता को मानता हूँ
किन्तु/ अपने राष्ट्र के प्रति
क्या यही कर्तव्य है मेरा"।(पृ-85, संशय की रात)

रावण ने सामंतों को अधिकृत कर खुद युद्ध के बीज बोये थे। इसलिए अब वे सीता को सौंपकर उऋण होंगे। सुग्रीव कहते हैं संशय की रात में ----

"यह युद्ध न्याय का है।"(पृ-83, संशय की रात)

और युद्ध हर समय समस्याओं का समाधान नहीं होता। एक कंठ विषपायी में ब्रह्मा कहते हैं इन्द्र से कि शासकों का कर्तव्य यह नहीं कि ---

"प्रजा की रक्षा करे युद्ध के द्वारा "(पृ-35,एक कंठ वि॰)

इसलिए संशय की रात के राम भी गहरे चिंतन में पड़ जाते हैं। लक्ष्मण यह नहीं समझ पाते हैं कि क्या है जिसे प्राप्त करने में राम बाधा का अनुभव करते हैं। वे कहते हैं--

"सन्धि या कि युद्ध/ टूटे सन्दर्भ की
मात्र विवशता ही नहीं है।" ‹पृ-18,संशय की रात›

लक्ष्मण जितना समझना चाहते हैं। राम को वे उतना ही उसमें उलझाते हैं। फिर भी वे राम से प्रश्न करते है। कि ---

"युद्ध आवाहन आदि कहीं/ व्यर्थ तो नहीं लगता
या फिर/ युद्ध में क्या होगा।
मात्र यदि इसकी ही चिन्ता है।" ‹पृ-21,संशय की रात›

राम को सीता की प्राप्ति के लिए युद्ध के सिवा और कोई रास्ता नज़र नहीं आता। वे कहते हैं ---

"जहाँ अब कोई पथ नहीं/ पथान्त है
वह भी युद्धाभिमुख।" ‹पृ-54, संशय की रात›

अब उनके सामने केवल युद्ध और युद्ध की विभीषिका रह गयी है। वे कहते हैं ---

"सम्मुख अब केवल युद्ध/अवैतरित सिन्धु/
युद्ध की विभीषिका।।" ‹पृ-55, संशय की रात›

साधारण जन का प्रतिनिधि सर्वहत जो युद्ध की विभीषिका और तत्प्रसूत परिणामों को भोगती हुई चिर पीड़ित जनता का प्रतीक है। वह एक कंठ विषपायी में कहता है --

"आप लोग शासक हैं/और शासकों को कहीं
रक्त की कमी हुआ करती है।" ‹पृ-113, एक कंठ विषपायी›

सर्वहत के शब्दों में साधारण जनता की गहरी व्यथा छिपी है।

युद्ध अब इतना अमानुषिक हो गया है कि केवल संकेतों पर ही अपने मंतव्य को पूरी कर जाता है। कल्पांतर काव्य में गीतिका कहती है गाथाकार से ---

"युद्ध स्वार्थ का रूप भयानक/स्वर्ण दैत्य है अर्थ पिशाच
जिसके संकेतों पर होता/यंत्र दैत्य का भीषण नाच।"
(पृ-39, कल्पांतर)

निष्कर्ष: ---

युद्ध, आघात और संघर्ष अपने आप में कोई निरर्थक संहार नहीं होते वे तो काल के महान लेने-देन के लिए एक उग्रतापूर्ण आवरण होते हैं।

4·4· काल :---

अनवरत काल प्रवाह का बोध एक स्वस्थ, मूल्यपरक जीवन के लिए कितना अनिवार्य है। यह महायुद्धों के दौरान और उनके बाद उत्पन्न विघटन ने दिखा दिया है। योरोप के तत्कालीन जीवन में मृत्यु की आसन्न उपस्थिति और आशंका से भोग और निर्लज्जता की ऐसी आंधी चली थी कि सामाजिक जीवन का ढाँचा ही चरमरा उठा था। मानवीय निरंतरता ताक में रखकर आदमी विलास का क्षणिक और एकांत जीवन जी लेने को लगभग बावला ही हो गया था। यदि उसे काल की अजस्त्रता का बोध होता तो वह जीवन को एक ऐसा पारगामी प्रवाह मानता जिसमें मृत्यु एक श्रांत विक्षेप की तरह नगण्य हो जाती और मनुष्य अपने को कटा-कटा अकेला अनुभव न करता।

जबतक व्यक्ति काल की बद्धता से आक्रान्त रहता है। वह कायर परवश बना रहता है। परिणाम स्वरूप अकुण्ठ और निर्भय नहीं हो पाता, इसके विपरीत सक्रिय समय बोध, नित्यता, संलग्नता और आस्था उसके व्यक्तित्व को अर्थ देता है।

डॉ॰लालचन्द गुप्त "मंगल" के अनुसार मनुष्य में प्रमाणिक अस्तित्व प्राप्त करने की जो शक्ति निहित है। वह भविष्य है। उसकी अप्रमाणिक पतित स्थिति, जिसमें वह अपने को पड़ा पाता है। उसका भूत है और उसकी वह मूर्त स्थिति, जिसमें उसे कर्म करना है, उसका वर्तमान है। मनुष्य के बिना काल कोई अस्तित्व नहीं रखता। काल तो मानव अस्तित्व सापेक्ष है।§14§

मानव का काल के साथ अनिष्ट सम्बन्ध जुड़ा है मानव जब नहीं था तब भी काल था। कनुप्रिया कनु से कहती है कि प्रकृति के नियम बिना किसी रुकावट के अपनी यात्रा करते हैं ---

"यह काल की अनंत पगडंडी पर
अपनी अनथक यात्रा तय करते हुए सूरज और चंद्र ।"
§पृ-43, कनुप्रिया§

काल समय है और समय एक चक्र है, जो व्यक्ति के स्वत्व का उपयोग कर आगे बढ़ जाता है। प्रवाद पर्व में राम कहते हैं सीता से यह व्यक्ति की कैसी स्वत्वीय उपादेयता है कि ---

"काल/ उसे अपने उपनिषद में
मात्र एक वाक्य के रूप में उपयोग कर
अज्ञात शून्य में फेंक देता है।"§पृ-62, प्र॰पर्व§

समय रूपी चक्र से कोई अलग नहीं रह सकता, महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठिर कहते हैं कि न ही सूरज, चन्द्र और नक्षत्र अलग रह सकते हैं--

"सूर्य - चन्द्र नक्षत्र अपर ब्रह्माण्ड
सभी चक्रांयित
प्रति - चक्रायित इस काल चक्र में।"॥पृ-39, म॰प्र॰॥

काल को किसी भी हाल में कोई विभाजित नहीं कर सकते, काल की महिमा बताते हुए दशरथ की छाया संशय की रात में राम से कहती है--

"उस अजन्मे अमर्त्य महाकाल को/ न जन्म से
न मृत्यु से/ न सम्बन्धों से
योजित या विभाजित किया जा सकता।"
॥पृ-59, संशय की रात॥

जटायु भी राम को यही समझाते हैं कि कहीं कुछ भी समाप्त नहीं हुआ क्योंकि कभी भी कुछ नहीं प्रारंभ हुआ। केवल बीच में अन्तराल फैला हुआ है तथा जिसमें समय स्वयं यात्रित है---

"राम! तब काल के किस प्रश्न को
समय के किस संशय को/सत्य के किस शंकात्व को
निकषना चाहते हो।"॥पृ-67, संशय की रात॥

महाप्रस्थान काव्य में इसी प्रकार के प्रश्न उठाये जाते हैं कि वह कौन काल पुरुष है जिससे कि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अपर ब्रह्माण्ड सभी कालचक्र में चक्रायित प्रति चक्रायित हो रहे हैं ---

"है कौन नियन्ता/ कार्य और कारण जिससे अद्भुत हो रहे?
जो अनन्त आकाशों में शायी है, वह काल-पुरुष।"(पृ-40, म.प्र.)

और ऐसे ही प्रश्न उठते हैं। ब्रह्मा के मन में कि शंकर कालजयी होते हुए भी अपनी सती के शव को क्यों अपने कंधे पर लटकाये हुए हैं---

"क्यों उनकी कालजयी/दैविक चेतनता पर
लौकिक संवेगों की रेखाएँ अंकित हैं।"(पृ-55, एक कंठ वि.)

इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष सृष्टि के नियंता हैं। विशाल वटपादप के रूप में जिसकी सौ करोड़ शाखाओं से काल टपक रहा है। अर्थात् वे समाप्त हो रहे हैं, समझाते हैं मानव को कि जो आता है इस धरती पर उसका जाना निश्चित है--

"अरब - खरब खर्व, वृत्त क्षुद्र जिन्दगानियों के
मंजरी के किनकों से
टके हुए, कुल काल - आंगन में टपक फटे
पके - गिरे फलों से।।"(पृ-8. इ.पु.)

चूँकि काल के प्रवाह में बह जाना है इसलिए इतिहास पुरुष कहते हैं कि क्या इस मात्र से कली फूल बनना छोड़ देती है? क्या फूल अपना सुगंध बिखेरना भूल जाती है। इसलिए मानव को भी अपना कर्तव्य निभाते चले जाना है---

"क्या चिन्ता कब सूखी पंखुड़ियाँ छीन - झपट
बह - चल दे काल हवा।"(पृ-44.इ.पु.)

इतिहास पुरुष मानव की बेबसी को देख कर कहता है कि मानव का जीवन गुलाब की पंखुड़ी की तरह कोमल और ओस कण की तरह होती है। लेकिन जिसे काल के बिन्दु क्षणों में बहुत कुछ करना है ---

"और यह अटूट बिन्दू - क्षणों वाले काल की
नदी अथाह, काली ।।"§पृ-28, इ·पु·§

मानव का यह देह तुच्छ है, जब मानव को इसका बोध हो जाता है तो यम आत्मजयी में नचिकेता से कहते हैं ---

"असमय तेरे राग - बोध में
समा गयी है महाकाल की विकट रिक्तता"§पृ-90,आत्मजयी§

इसलिए अब नचिकेता सुख सुविधाओं से संतुष्ट नहीं होगा उसे मूल रहस्य, नया विश्वास चाहिए।

मानव काल को अर्पित होकर फिर लौटकर नहीं आ पाता। लेकिन नचिकेता काल को अर्पित होकर फिर लौटता है, इसे स्वप्न कहा जा सकता है। क्योंकि नचिकेता यह एहसास दिलाता है कि वह जाग्रत है--

"हो चुका काल को जो अर्पित/ जीवन में वापस आया
वह शोभित प्रसाद/ मैं -----
कोई अव्यय भविष्य/ मैं जाग्रत हूँ।"§पृ-105, आत्मजयी§

काल को कोई नहीं बाँध सकता । क्योंकि वह खुद अपने नागपाश में सबकोबांध लेती है। यही तो कनुप्रिया कहती है ---

"जिन रूखी अलकों में/मैं ने समय की गति बांधी थी--

हाय उन्हीं काले नागपाशों से
दिन प्रतिदिन/ क्षण- प्रतिक्षण बार-बार
डंसी हुई।" (पृ-63, कनुप्रिया)

जिस तरह कनुप्रिया काल की गति को बांधना चाहती है तो आत्मजयी का नचिकेता कहता है कि अगर कोई काल को ललकारे तो उसके साहस को इंगित करना होगा--

"जब - जब समर्थ जिज्ञासा से
काल की विदेह अतिशयता को
कोई ललकारे/ सीमा सन्दर्भहीन साहस को इंगित दो।"
(पृ-17, आत्मजयी)

इतिहास पुरुष मानव के सपनीली कल्पनाओं को बन्दी न बनते हुए दृढ चित्त रखने को कहते हैं तथा प्रज्ञा के किरण द्वार को खोले रखने को कहते हैं -- जिससे कि मानव --

"----- बेझप की आँखों से तीन काल
त्रिभुवन को तू निहार।" (पृ-35, इ॰पु॰)

इसके अनुरूप ही महाप्रस्थान में युधिष्ठिर सारा साम्राज्य, सम्पदा प्रियजन, परिजन, प्रजाजन, वैर-राग सबकुछ को छोड़ चले आते हैं --

"परिव्राजक बन/ काल-महाब्राह्मण को दे
संकल्प जलों सा/ छोड़ चले आये इस पथ पर।" (पृ-55, म॰प्र॰)

और इस पथ पर हिमालय की शीतल हवाएँ इतनी धारदार हो गयी हैं कि युधिष्ठिर कहते हैं कि ऐसा लगता है। ---

"अभेद्य नि:शब्द अन्धकार/कालरात्रि सा भर गया है।"
§पृ-126, ग·पृ·§

और यह काल रात्रि को हमारे मुख से पोंछती हुई हमें दीपित करती है तथा पशुओं की पीठों को चमकाती है। काल के रहते ही मानव कुछ कर सकता है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं ---

"माँ/ मेरी प्रज्ञा-अग्नि का यह स्तवन स्वीकारो"§पृ-38, म·पृ·§

महाप्रस्थान काव्य में काल को मानवीकृत किया गया है जिससे जाग्रत होती---

"विद्युत्पुरुष/ वह वैश्वानर/जो धर्मचक्र को वहन कर रहा।
धर्मवृषभ सा नन्दी बनकर।"§पृ-41, म·पृ·§

इसी तरह कनुप्रिया काव्य में भी प्रणय की अजेय शक्ति के कारण व्यक्ति को अपनी अनन्तता का अनुभव होता है। उसे विश्वास होता है कि प्रणय की यह यात्रा, पुरुष - नारी की प्रणय यात्रा अनन्त अनादि है। कनुप्रिया की राधा कहती है---

"मैं तो वह हूँ-जिसे दिग्वधू कहते हैं कालवधू
समय और दिशाओं की सीमाहीन पगडण्डियों पर
अनन्त काल से/ अनन्त दिशाओं में
तुम्हारे साथ - साथ चलती चली आ रही हूँ चलती चली--
जाऊँगी।"§पृ-37, कनुप्रिया§

तो दूसरी ओर गौतम ऋषि से अहल्या शापित होती है क्योंकि इस कुकृत्य में जितना दोष अहल्या का था उतना ही इन्द्र का भी

था फिर भी पुरुष की शासक शक्ति के कारण केवल नारी ही जैसे छली जाती है। अहल्या कहती है --

"वही पुरुष की शासक शक्ति/एकत्र कर रहे धूम-धाम
दिशा-दिशा/ काल - काल में।"(पृ-21, आत्मध्वनि)

फलस्वरूप वह काल से कह जाती है ---

"मैं साक्षी हूँ काल की असमय मृत्यु की
मैं स्वयं/ देश-काल - आकाश से वंचित हूँ।"(पृ-17,आत्मदान)

पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ गुज़र जा रही हैं। सदियों के मंडप में तस्वीरें अंकित हो रही हैं। दर्पण पर अतीत कुहरे के रूप में रह गया है अर्थात् कल्पांतर काव्य में यह बताया गया है कि समय का चक्र कैसे बीतता चला जा रहा है ---

"कितने करोड़ काल/ झरती गरम वाष्पों के
गोंद भरे रिसते हुए फंगस वनों के
*** *** ***
शिलावत गगन से टूट गिरते हिम-युगों के।"(पृ-23,कल्पांतर)

काल का यह चक्र सभी को अपने में लपेटकर समयहीन कर देता है प्रवाद पर्व के राम कहते हैं कि हमारा निजत्व ही हमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र और पितरों तक ले जाता है, जो प्रतिक्षण खास मन्त्रों से अभिषेक करवा रहा है।

"और महाकाल/ इन सबको व्याघ्रचर्म की तरह लपेटे
निरन्तर समयहीन होता जा रहा है।"(पृ-24,प्र॰पर्व)

ऐसा प्रतीत होता है जैसे काल के सम्मुख कुछ भी शाश्वत नहीं है। आत्मजयी के अतीत - बोध में नचिकेता को भी यही प्रतीत होता है।

"लेकिन जो होने के अलावा
और कुछ नहीं थे------- उनकी भी मृत्यु है।
जिन्हें क्षणों की तरह जोड़-जोड़कर
अथाह समय बीता है। " ‖पृ-66, आत्मजयी‖

इतिहास पुरुष मानव को मानव के रूप में देखना चाहते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि वह मानव को देश और काल में बद्ध होकर गुलाम के रूप में देखना नहीं चाहता क्योंकि वे मानव को सारा जगत का सर्वस्व मानते हैं और मानव को अपना ही अंग मानते हैं। क्योंकि वे सृष्टि निर्माता हैं। वे कहते हैं ---

"तू केवाल जीवन नहीं, पशु या पतंग नहीं
सिर्फ क्षुधा-काम नहीं
यहाँ अभी घेर रहा सीमित जो देश काल
उसका गुलाम नहीं -" ‖पृ-21, इ॰पु॰‖

पूर्वकाल में ऋषियों को काल गुरु माना जाता था और यह माना जाता था कि ऋषि के पदार्पण मात्र से राज्य की कैसी विपत्ति भी टल सकती है और उनके मुख से निकले प्रत्येक शब्द का महत्व होता था। जब गुरु कहते हैं कि अमरों का हम पर कोप है इसी कारण ---

"काल सदृश पल - पल अकाल आता बढ़ा/त्रस्त भू पर।"
‖पृ-51, इ॰पु‖

इसलिए ऋष्य श्रृंग का अगर शुभ प्रवेश हो तो यह विपत्ति टल सकती है।

प्रवाद पर्व के राम को ऐसा प्रतीत होता है कि सुख एक ही प्रकार का होता है। और दुख बहुरूपी होता है और शायद दुःख ही प्रभु है। शबरी जो इन पदार्थ भावों से अमर थी वे भी सुखी थी। लेकिन राम जो सबकुछ अपने अगर धारण करना चाहते है वे क्यों नहीं सुखी है ---

> परन्तु हम तो/ देश और काल की
> समस्त प्रभुता/ सम्पन्नता और सम्पदा
> अपने अंग पर धारण करना चाहते हैं।" (पृ-61,प्र॰पर्व)

जिस प्रकार से राम हर व्यक्ति में ईश्वर की उपस्थिति को मानते हैं। उसी प्रकार से महाप्रस्थान के युधिष्ठर भी वे हर व्यक्ति में विराजे देवता के जागृत होने के लिए इंतजार कर सकते हैं अर्थात् कितना ही बुरा व्यक्ति क्यों न हो उसके अच्छाई में परिवर्तित होने तक वे इंतजार कर सकते हैं। वे भीम से कहते हैं ---

> "मुझे मनुष्य में विराज देवता में/सदा विश्वास रहा है।
> इस देवता के जाग्रत होने की प्रतीक्षा में
> मैं अनन्त काल तक/प्रतीक्षा कर सकता हूँ भीम।" (पृ-93,म॰प्र)

अगर उन्हें विश्वास हो जाता कि सौ वर्ष के बाद भी कौरव उन्हें उनका अधिकार दे देंगे तो वे कभी युद्ध के लिए सहमत न होते और न ही युद्ध में विजय के पश्चात् उन्हें महाप्रस्थान करना होता, जिस महा-प्रस्थान में युधिष्ठर को छोड़ सब एक - एक कर हिम में गल जाते हैं। और काल को प्राप्त होते हैं और युधिष्ठर को ऐसा प्रतीत होता है,

जैसे कोई उन्हें कह रहा हो कि अब वह भी इस देह को त्याग दे क्योंकि इस देह को भी हिम -यातना होती है--

> "झर जाने दो/ इस शेष देह - भाव को भी
> पृथ्वी जब देह का बोध त्याग देती है।
> तब शिव के कालजयी ललाट सी
> शुभ्र हिमालय हो जाती है।"§पृ-142, म·प्र·§

युधिष्ठिर निर्वेद पर पहुँच जाते हैं। जहाँ"सब"कुछ शांत हो गया है किसी प्रकार का कोलाहल सुनाई नहीं देता है। वे अब इतिहास हीन कुल गोत्रहीन, स्वत्व नहीं बल्कि प्रज्ञा है, उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई उनसे कह रहा हो --

> "इस राशिवाही कालपुरुष की लीला को
> स्वीकार करो युधिष्ठिर/स्वीकार करो "§पृ-141,म·प्र·§

इसी प्रकार से आत्मजयी में नचिकेता को ऐसा अनुभव होता है कि जैसे काल विपरीत मन्त्र पढ़ रहा हो कि जैसे पृथ्वी अपना मुँह खोल मुर्दों को उगल रही है और जिन्दों को निगल रही है।

> "लगता था मानो कहीं काल/विपरीत मंत्र पढ़ता जिससे।"
> §पृ-80, आत्मजयी§

ऐसे ही काल का एक और रूप कल्पांतर काव्य में देखते हैं जहाँ जनमोहन कहते हैं कि इस घृणित युद्ध के अंधकार से एक ऐसा विकराल काल जन्मा है जो नव निर्मित जीवन को निगल रहा है --

"अन्धी सत्ता से जन्मा/ है विकराल काल
जीवन का नव निर्माण/निगलने आया है।" ﴾पृ-101, कल्पांतर﴿

जहाँ एक ओर काल ही मानव संहार कर रहा है तो दूसरी ओर खुद नचिकेता बिना किसी लोभ के काल को समर्पित हो जाता है। आत्मजयी में यम कहते हैं।----

"तूने अपनी स्वेच्छा से/निर्लोभ/काल को सौंपा है।"
﴾पृ-77, आत्मजयी﴿

निष्कर्ष:--

काल के विभिन्न रूपों को देखने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि मानव को अतीत से सम्बन्ध विच्छेद नहीं करना चाहिए। क्योंकि वही हमारा बीता हुआ समय है हमें उसीसे प्रेरणा पाकर अपना भविष्य बनाना है। क्योंकि काल चिरकाल से गतिमान है। एवं चिरकाल तक गतिमान रहेगा। इस काव्य से काल की महिमा को और अधिक स्पष्ट हो जाती है --"मैं शायद फिर से जी सकूँ।"

4·5· <u>मृत्यु</u> :---

जीवन और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा प्राचीन काल से ही दार्शनिकों, चिन्तकों, बुद्धि जीवियों के चिन्तन का विषय रहे हैं। क्योंकि मनुष्य जीवन और मृत्यु के बीच ही होने तथा "न होने" की स्थिति में रहता है। जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी अवश्यं-भावी है। कोई भी वस्तु शाश्वत अथवा सदा के लिए नहीं होती, अत:

जो जीवित है वह एक दिन मृत्यु को भी प्राप्त होगा, यह निश्चित है अटल है।

अस्तित्ववाद का बल इस बात पर है कि व्यक्ति के समूचे जीवन का ढाँचा इस बात से निर्धारित होता है कि वह केंद्रिय सवाल का सामना कैसे करता है वह सवाल जिसका महत्व बाकी तमाम सवालों की तुलना में सर्वोपरि है। ऐसे माहौल में जब हर औसत व्यक्ति औसतपूर्वक प्रगति और समृद्धि की योजनाओं का ताना - बाना बुनने में लगा रहता है। अस्तित्ववादी चिंतक भौतिक मोहमाया की तह में छिपे गहरे खतरे की तरफ संकेत करता है।

अस्तित्ववाद जीवन के प्रति केवल निराशपूर्ण या ट्रैजिक दृष्टि-कोण नहीं है। यह उससे कहीं अधिक है। यह एक ऐसा विचार है, जो अधिक अर्थवान जीवन जीने की प्रेरक शक्ति बन सकता है।

मनुष्य अन्तत: अकेला है और इस एकाकीपन से उसे कोई नहीं उबार सकता। हममें से हर एक को अपनी सलीब खुद ढोनी है। यही अस्तित्ववादी चिन्तन की मुख्य चिन्ता है। यह बोध नया नहीं है। भारतीय दार्शनिक मृत्यु को मानते हुए भी, इसे जीवन की संभावना नहीं मानते। मृत्यु को नकारते हुए वे कर्म का महत्व ही प्रतिपादित करते हैं।

पाश्चात्य चिन्तन पद्धति के अनुसार मनुष्य एक ही बार मरता है और मृत्यु अस्तित्ववादियों के लिए एक चुनौती है, एक भय है, जो जिन्दगी का अन्त कर देती है। मृत्यु का यही भय, अनिश्चितता मनुष्य को समाज में अपना "स्व" खोने से रोकता है।

मृत्यु का बोध व्यक्ति को अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक बनाता है। मृत्यु के प्रकाश में वह अपने ही सामने आ खड़ा होता है, जहाँ सब कुछ उसके समक्ष स्पष्ट हो जाता है। यही क्षण मृत्यु के साक्षात्कार का क्षण होता है और यह बोध व्यक्ति को जीवन की दिनचर्या में भूलने से रोकता है और मृत्यु का यह भय मनुष्य को अपने अस्तित्व की ओर लौटा लाने में सहायक होता है।"[15]

किन्तु मृत्यु से यह साक्षात्कार अस्तित्व को समाप्त नहीं कर देता क्योंकि मृत्यु कुल्हाड़ी नहीं है जो जीवन रूपी वृक्ष को काट दे परन्तु वह फल है जो जीवन रूपी पेड़ पर फलता है।[16] अतः मृत्यु व्यक्ति को सार्थक बनाने में सहायक होती है। इसीलिए अस्तित्ववादी "मृत्युवरण" की चर्चा करते हैं क्योंकि यह जीवन को समग्रता, सार्थकता प्रदान करती है। मृत्यु के साथ अस्तित्ववादियों के लगाव का एक और कारण है कि मृत्यु के साक्षात्कार के क्षणों में मनुष्य की तीव्र चरम अनुभूतियाँ प्रकट होती हैं। मृत्यु के भय को समझकर वह प्रामाणिक अस्तित्व को जीने का प्रयत्न करता है। यह स्थिति उसके अन्दर एक नयी शक्ति। नयी गरिमा और सहनशीलता का संचरण करती है। इसीलिए अस्तित्ववादी चिंतन मृत्यु से साक्षात्कार उसके वरण पर बल देते हैं।

और यही साक्षात्कार आत्मजयी के नचिकेता को होता है। जहाँ मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् में हम उसे पाते हैं ---

"तू यही समझकर ही
तुमको फिर युग तक वापस आना है।" {पृ-108, आत्मजयी}

इस जीवनगत सत्य की सिद्धि प्राप्त कर नचिकेता को यह अनुभव होता है कि यह जीवन अपूर्ण है, निस्सार है और काल के बंधनों में मृत्यु को प्राप्त होने वाला है। अत: उसमें पूर्णता, सार्थकता एवं अमरता, मृत्यु के बोध में दृढ़ साधना करके विवेक एवं विश्वासों से ही भरा जा सकता है।

"विश्वासों से/ या किसी विचित्र तर्क से ही
जीने को कोई अर्थ दिया जा सकता है।
जो शायद केवल मृत्यु तले
संदिग्ध क्षणों के बीच जिया जा सकता है।"
{पृ-89, आत्मजयी}

कितनी विचित्र बात है कि मृत्यु का त्रास, मनुष्य को अस्तित्व की गरिमा से जोड़ देता है। नचिकेता ""मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्" होकर कुछ क्षणों के लिए जीवन की निरन्तरता का अनुभव करता है। जिसका प्रसार एक ओर अतीत तक है तो दूसरी ओर वर्तमान तक। यही वह स्थिति है जब मनुष्य मरण भीति से मुक्ति पाकर अस्तित्व की विराटता का अनुभव करता है। जागृति का बोध प्राप्त करता है।

नचिकेता सोचता है कि यदि "मृत्यु" न हो तो नए जीवन की उपलब्धि असम्भव है। मृत्यु ही जीवनदायी प्रक्रिया है। जीवन की सार्थकता इस सतत मृत्युबोध के चक्र से उत्पन्न भय से मुक्त होने में है। भयमुक्त होकर कर्म निष्ठा से ही जीवन के शाश्वत मूल्यों की खोज की जा सकती है।

नचिकेता मृत्यु को निराशा का प्रतीक नहीं अपितु जीवन को नया अर्थ देनेवाली जीवन चेतना भी मानता है। पानी में डूबने पर स्वप्न-दृश्य में उसे ऐसा दिखता है ---

"लपलपाती एक छाया/जो कदाचित आत्मा थी।"
(पृ-62, आत्मजयी)

इधर नचिकेता जीवन और मृत्यु की संधि पर है: तो उधर महा-प्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं कि चारों ओर हिम ही हिम है। ये हिमानी घाटियाँ पाताल तक चली गई है। जहाँ जीवन और मृत्यु के बीच केवल एक पग का फासला है, एक सीमा के बाद---

"क्या अर्थ रह जाता है/ इस एक पग का?(पृ-126, म॰प्र॰)

अर्जुन जिन्हें अपने गाण्डीव पर अपने पुरुषार्थ पर नाज़ था जब उन्हें भी मृत्यु घेर लेती है तो युधिष्ठिर कहते हैं महाप्रस्थान में कि पाण्डवता के मेरुदण्ड पुरुषार्थ से अमर न उठ पाया अत: अनाम घाटी में चला गया वे कहते हैं---

"ऐकान्तिक मृत्यु की तो कल्पना की थी
किन्तु/ वह ऐसी अप्रत्याशित
अनुत्सवी होगी नहीं जानता था।"(पृ-128, म॰प्र॰)

मृत्यु हमारी सहचरी होती है हमारे साथ ही रहती है। जो दीखती तो नहीं लेकिन आगे, पीछे, दायें, बायें चलती ही रहती है और जिसकी छाया पड़ते ही ---

"हर चीज़ तुरंत कुम्हला जाती।"(पृ-76, आत्मजयी)

आत्मजयी में यम खुद मृत्यु के रहस्य को नचिकेता के सम्मुख रखते हैं ---

"वह तो जीवन ही से पैदा/कोई जीवन-नाशक विकार?
प्रत्येक पुराने पर विराम।" (पृ-81, आत्मजयी)

लेकिन मानव ऐसी शाश्वत सर्वव्यापक मृत्यु को सम्मुख पाकर संज्ञाहीन हो जाता है। यही है अंधायुग के संजय की--

"मृत्यु को इतने निकट पाना/मेरे लिए यह/
बिल्कुल ही नया अनुभव था।" (पृ-33. अंधायुग)

ऐसा प्रतीत होता है था जैसे वह घेरे पर घेरे डालते हुए एक जाल बुन रहा है, जिसके दायरे उसको कसते जा रहे हैं ---

"घेरा/ और बड़ा घेरा/ घेरे पर घेरा।
---- --- ---
अग्नि - भुजाओं के शिकंजे में
वृत्त पर वृत्त पड़ते।" (पृ-57, आत्मजयी)

मृत्यु की यह भयानकता यह संत्रास स्वयं मृत्यु से उत्पन्न होता है अथवा यह मनुष्य के ही मन का खेल है। मृत्यु के सम्मुख होकर नचिकेता को लगता है कि कहीं मनुष्य के मन का भय ही बढ़कर मृत्यु के रूप में उसी को खाने तो नहीं दौड़ता ---

"ऐसा तो नहीं कहीं यह सब/कोई विषाक्त मानसिक रोग
कोई कीड़ा जो मुझ में था/बढ़ कई गुना
अब विषम परिस्थितियों में बाहर निकला हो।" (पृ-78, आत्मजयी)

नचिकेता मृत्यु का सपना देखता है, जिसमें उसे मरने से भी गूढ़तर मर्म की जानकारी होती है। वह उसका मृत्युजंय जीवन है, जो उसे वापस प्राप्त होता है, उसका आश्चर्य इन शब्दों में प्रकट होता है---

"क्या मैं सचमुच ही जीवित हूँ? / क्या जीवित ही
मैं ने जीवन को खोने का अनुभव जाना।" (पृ-104, आत्मजयी)

नचिकेता ने जो देखा। शायद वह किसी दूसरे के लिए समझ के बाहर का विषय है क्योंकि मृत्यु के उपरान्त क्या होता है। यह जानने वाला फिर लौट कर नहीं आता। इसलिए नचिकेता कहता है ---

"वह अनुभव जिसे मैं जी चुका/एक जीवन था
वह जीवन जिसे मैं मर चुका/एक रोमांचकारी अनुभव था।"
(पृ+110, आत्मजयी)

नचिकेता के इस प्रतीति के बाद यम कहते हैं कि नचिकेता का दैहिक - दैनिक स्तर पर जीवन जीते रहना असम्भव है। वे कहते हैं ---

"तुमको मर्त्य नहीं/ अमर्त्य का तोष चाहिए।" (पृ-90, आत्मजयी)

और मृत्यु केवल स्थूल की अर्थात् शरीर की समाप्ति है आत्मा का नहीं। आत्मजयी काव्य में आत्मा की स्वायतता "प्रसंग" में बताया गया है ---

"एक समाप्ति/ सारे अस्तित्व की इति नहीं।
स्थूल की क्षति/ सार की क्षति नहीं।" (पृ-96, आत्मजयी)

अरविंद कहते हैं कि मृत्यु का अस्तित्व इसलिए है कि देहधारी सत्ता अभी इतनी विकसित नहीं हुई कि वह परिवर्तन की आवश्यकता

के बिना ही उसी शरीर में बदती जाए और इसलिए भी कि शरीर स्वयं पर्याप्त सचेतन नहीं हुआ है। यदि मन, प्राण और शरीर स्वयं अधिक सचेतन और नमनीय होते तो मृत्यु आवश्यक न होती।[17]

ईश्वर खुद इस सच्चाई को रखे कि जीवन है तो मृत्यु भी है तो साधारण मानव इस पर प्रश्न चिह्न कैसे लगा सकता है। अंधायुग में गांधारी के शाप पर कृष्ण कहते हैं ---

"मैं ही युग- युगान्तर तक/ जीवन हूं मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूं माँ।" (पृ-102, अंधायुग)

जीवन पर्यन्त व्यक्ति एक ही कार्य करता रहे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्यु पश्चात् भी वह वही रहेगा। अंधायुग काव्य में प्रहरी जीवनपर्यन्त पहरा देतेहैंउन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि शायद---

"मरने के बाद भी / हम के गलियारे में
चलते रहेंगे सदा/ दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ।" (पृ-29, अंधायुग)

उक्त पंक्तियों में कितनी मर्मांतक पीड़ा छिपी है।

इतना ही नहीं, इससे भी बड़े दुख की बात यह है कि मृत्यु अब बटन द्वारा संचालित होती है। कल्पांतर काव्य में ---

"कितना दुख है/ साधन मशीन बन गयी मरण।" (पृ-102, कल्पांतर)

विज्ञान ने ऐसी शक्तियों का निर्माण कर लिया है जिनके सामने मानव निर्बल पड़ता जा रहा है। उसकी इच्छा अनिच्छा का कोई महत्व नहीं। वह चाहे न चाहे अणु बम उन्हें भेद कर रख देंगे। कामकन्या कहती है ---

"यह नहीं नहीं का कोरस/फौरन बंद करो
इन आवाज़ों से/ मृत्यु - किरण क्या रुक सकती है?"
\[पृ-106, कल्पांतर\]

ऐसे क्रूर विज्ञान के विरोध में खड़ी होती है धराविद्युता क्योंकि मानव को विज्ञान के हाथों कठपुतली नहीं बनती, उसे निर्बल नहीं, सबल बनना है। धराविद्युता कहती है ---

"ऐसा न हो कि/ वह अन्तरिक्ष से उलट कहीं
गिर जाये न तुम पर/ तेरी अंधी दुनिया पर।" \[पृ-108, कल्पांतर\]

यह जीवन का खेल नहीं तो और क्या कि मानव मृत्यु के मुख से बचते हुए फिर मृत्यु के चंगुल में फंसाता है। इतिहास पुरुष काव्य में नूरजहाँ दुश्मन की गिरफ्त से बच कर अपने स्थान पर पहुँचती है यह सुनने के लिए कि उसके मालिक और सम्राट ने ---

"मेरी मौत के हुक्म नामे पर/
खुद अपने सक्षम हाथ से दस्तखत किये हैं।" \[पृ-81 इ.पु.\]

तो दूसरी ओर कल्पांतर काव्य में कृषिकुमार एक ऐसा तंत्र बना रहे थे, जो सूक्ष्म दृष्टि में भी जन्म -मरण के अंतिम पट खोल कर रखेगी और इसलिए वे भीतरी दुनिया के बदलने की आशा कर रहे थे - वे कहते हैं ---

"सिद्ध हुई थी जो विभूति
--- --- ---
जन्म-मरण के/अंतिम वर्जित पट खोलेगी।" \[पृ-99, कल्पांतर\]

जन्म – मरण के भेद को बड़े ही सुन्दर शब्दों में रखती है आत्मदान की अहल्या ----

"कौन-सी नस कब चटखे/और एक तारा बजना बंद हो जाए
कब तक कोई साथ चले/ कब छूट जाए/ कुछ ठीक नहीं।"
{पृ-31, आत्मदान}

आत्मदान की अहल्या मृत्युबोध को इस प्रकार से समझाती है तो महाप्रस्थान के युधिष्ठिर उसे सहयात्री कहते हैं --

"सम्भावित मृत्यु/कैसे दबे पैरों से सहयात्रा कर रही है।"
{पृ-28, महाप्रस्थान}

तो आत्मजयी में नचिकेता कहता है कि जीवन केवल सुख की साधना नहीं है। उसको पशु-सा केवल तन से बांधना नहीं है---

"जो केवल तन से जिया/मूर्ख वह
तन के मरते मरता है।"{पृ-85, आत्मजयी}

इसलिए मानव को सुन्दरता के पीछे नहीं भागना क्योंकि हर एक वस्तु को नष्ट होना है- इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष कहते हैं---

"क्या कुछ है वरणयोग्य/ सुन्दर... असुन्दर क्या
मन के विकल्प सभी।----/ अन्त व्यर्थ है सो भी
गहन मरण कांक्षा से सम्प्रेरित बुद्धि-हृदय।"{पृ-21, इ॰पु॰"

इसलिए इतिहास पुरुष जो सृष्टि के संचालक हैं कहते हैं मानव से कि उनसे प्रेरणा लेते हुए मानव को ही मृत्यु तिमिर को हटाना है --

"भव्य ध्येय-यत्नों की नौका में बैठ तुझे
मृत्यु - तिमिर को तरना।"(पृ-41, इ.पु.)

क्योंकि विज्ञान ने ऐसा तूफान खड़ा कर दिया है कल्पांतर काव्य में--

"मरता जाता है भविष्य/आँखों के सम्मुख"(पृ-97, कल्पांतर)

क्योंकि यह शैतान के रूप में आगे बढ़ रहा है जो अपने उपकरणों से ज्योति को बुझा रहा है और अंधकार को बढ़ा रहा है। कल्पांतर काव्य में ---

"युद्ध, अशांति, मृत्यु अस्त्रों से/पृथ्वी पर कर रहा प्रसार।"
(पृ-40, कल्पांतर)

ऐसे भयंकर उपकरणों के सामने मनुष्य क्या और उसका मत क्या? स्वर्ण दैत्य कहते हैं ---

"जनमत जैसी क्षुद्र वायवी चीजों की है।
क्या बिसात?"(पृ-60, कल्पांतर)

और इस तरह से मृत्यु का संहारक रूप व्यक्ति को आक्रांत करता है। वह किसी भी क्षण प्रहार करती है और जीवों का नाश करती है। लेकिन नाश केवल मृत्यु नहीं करती। जीवन में ऐसी विद्रुपताएँ आ जाती हैं, जो स्वयं जीवन के विनाश के लिए उत्तरदायी हैं। मृत्यु तो जीर्ण - शीर्ण गलित विकृत को विराम देती है और नए सृजन के लिए अवसर देती है ---

"मैं महाकाल-संहार रूप/मैं महासमर
युग-युग से चलते युद्धों का "(पृ-80, आत्मजयी)

यही तो कल्पांतर काव्य में बताया गया है कि यह एक जीवन - चक्र है जहाँ हर संस्कृति मिटती और एक नयी संस्कृति जन्म लेती है। कल्पांतर काव्य में ---

"मृत्यु के फंगस वनों पर/उठी हर युग में ऋचाएँ।"
(पृ-17, कल्पांतर)

और एक अदृश्य पर्दे के रूप में न जाने कैसे अपना भविष्य अपनी आँखों के सामने से गुजरता चला जाता है---

"मरता जाता है भविष्य/ आँखों के सम्मुख
मृत्यु न यह अपने तक सीमित।" (पृ-97, कल्पांतर)

मृत्यु के चिंतन से जीवन के प्रति निराशा ही पैदा हो, ऐसा आवश्यक नहीं है - कोई नितान्त मौलिक दृष्टिकोण भी जन्म पा सकता है। मृत्यु का गहन आत्मीय साक्षात्कार नचिकेता को जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण प्रदान करता है। "मृत्यु" के शाप में वह जीवन की सार्थकता का वरदान पाता है। जीवन की नश्वरता में भी वह एक सार्थक संकेत ढूँढ लेता है। वह जीवन को कुछ इस तरह से जीना चाहता है। जिसका स्पर्श मृत्यु न कर पाए। कुछ ऐसे मूल्य छोड़ना चाहता है जिन्हें मृत्यु विनष्ट न कर सके। केवल शरीर के भोगों को दोहराने में पूर्णता नहीं मिलती। सार्थक जीवन की खोज में नचिकेता अस्तित्व की चेतना से संलग्न होता है। मृत्यु के बिंदु से जीवन की ओर लौटने पर वह अपने होने को बहुत गहराई से महसूस करता है---

"क्योंकि व्यक्ति मरता है/और अपनी मृत्यु में वह बिल्कुल अकेला है।
विवश/ असान्त्वनीय ।।" (पृ-25, आत्मजयी)

डॉ॰हरिचरण शर्मा के अनुसार अस्तित्ववादी दर्शन की प्रारंभिक स्थिति मनुष्य की अवशता और निस्सहायता की है। मानव - जीवन का विषम क्षण मृत्यु है। जीवन और मृत्यु के संदर्भ में दोनों ही व्यक्ति की सीमा से बाहर के प्रश्न है। इन प्रश्नों के बीच में झूलता हुआ मनुष्य व्यक्तित्व के अस्तित्व की खोखली शून्य और अवश स्थिति से आहत है।॥8॥ उसकी अनुभूति का क्रम इस प्रकार दौड़ता है---

"खोखला दर्द/ गहरा विराग
बस होने भर का थका ज्ञान।"

जीवन की सारी चमक दमक में मृत्यु की भयावनी छाया पीछा करती रहती है। भौतिकता में नश्वरता छिपी है और मानव भौतिकता में छिपी मृत्यु को नहीं देखता वह मृत्यु की घात में किसी भी क्षण आ जाता है। इसलिए नचिकेता को पिता के ऐश्वर्य में छिपी मृत्यु किसी भी क्षण उन्हें विगलित करने का भय लगता है ---

"एक साँप उस मुकुट में छिपा है
दोनों को अपने से दूर फेंक दो।"॥पृ-20, आत्मजयी॥

आधुनिक युग में ईश्वर विषयक आस्था के समाप्त हो जाने के कारण व्यक्ति के जीवन में मृत्यु की भयानकता और तीव्र हो गई। ईश्वर धर्म, पुनर्जन्म के विश्वास के नष्ट हो जाने से जीव की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लग गया और मनुष्य का अस्तित्व उस बलि पशु के सहज हो गया जो मृत्यु की प्रतीक्षा में जीवन बिताता है---

"वधस्थल के निकट/हम सब पशु समर्पित हैं।
किसी भी क्षण।" ॥पृ-57, आत्मजयी॥

हर व्यक्ति का संबंध मृत्यु से होता है, चाहे कितना ही ऐश्वर्य सम्पन्न हो, उसमें चाहे कितना ही दिव्यत्व हो-- मृत्यु के निकट वह सब मलिन पड़ जाता है। इस मृत्यु - बोध के कारण नचिकेता को अपने पिता का सारा भौतिक ऐश्वर्य निस्सार लगता है -- वह अपने पिता से कहता है कि सूर्य की किरणें इस तरह से उसके मुकुट और सिंहासन पर पड़ रही हैं कि वह दिव्य दिख रहे पर

".... यह सारी शोभा/ सूर्यास्त होते ही बिलख उठेगी।"
(पृ-17, आत्मजयी)

मृत्युबोध की सत्यता को शंकर भूलते हैं। यही एक कंठ विषपायी" काव्य में विष्णु कहते हैं कि तत्वज्ञान वेत्ता उस महाबोधि शंकर की आत्मा क्यों रोती है। क्यों वे यह भूल गए, कि कारण, निमित्त और परिस्थिति नहीं बल्कि ---

"सिर्फ मृत्यु सत्य होती है।"(पृ-63, एक कंठ विषपायी)

जिसे देव वरुण कहते हैं- एक कंठ विषपायी में कुबेर से कि क्या मोह और ज्ञान इतना अंधा कर देता है कि ---

"मृत्यु को भी हम/ सत्य नहीं कहते हैं।"(पृ-63, एक कंठ वि.)

और यही मोह राजा दशरथ की मृत्यु का कारण बनता है। कैकेयी ने उनसे दो वचन माँगे थे। वे कहते हैं वचन देकर मैं ने मृत्यु क्रय की थी। संशय की रात में वे राम से कहते हैं --

"राम!/ मेरा मोह/ मेरा मृत्यु था।"(पृ-57, संशय की रात)

एक जगह मोह के कारण मृत्यु तो दूसरी ओर प्रेमवश रक्षा करते रहना। अंधायुग में अश्वत्थामा ने शंकर कहते हैं कि वे कृष्ण प्रेमवश अब तक पांडवों को विजय दिलाते रहे पर जैसे ही पांडवों ने अधर्म से वध करना प्रारंभ किया तो हो चुका पांडवों के पुण्यों का अब क्षय। वे कहते हैं ---

"द्वार उन्होंने स्वतः मृत्यु के खोले।" [पृ-80, अंधायुग]

अधर्म के रास्ते पर चलने के कारण गांधारी कृष्ण को शाप देती है। शाप की अवधि पूरी होने पर प्रेत योनि से मुक्त होने हेतु व्याध ... से कृष्ण उन पर बाण खींचने को कहते हैं। व्याध दुःखी होते हैं। क्योंकि उनका बाण कृष्ण की मृत्यु का कारण बनता है---

"बाण है वह मेरे ही धनुष का
जो मृत्यु बना कृष्ण की।" [पृ-128, अंधायुग]

और इस तरह से कृष्ण एक पेड़ के नीचे पैरों को पसार कर मृग के रूप में मृग - वदन बना व्याध के हाथों अवसान होते हैं। अश्वत्थामा इसे प्रत्यक्ष देखते हैं वे कहते हैं ---

"केवल मैं साक्षी हूँ/ मैंने ताडों के झुरमुट से छिप कर देखी है।
उसकी मृत्यु।।" [पृ-129, अंधायुग]

कृष्ण अधर्म पर चलने पर जिस प्रकार से गांधारी द्वारा शापित होते हैं उसी प्रकार से आत्मदान काव्य में गौतम ऋषि से शापित होती है अहल्या और एक मूक शिला बन जाती है तथा बदलती हुई ऋतुओं के श्रृंगार को देखते हुए कहती है ---

"वे नए, नए श्रृंगार कर आयीं
और मुझे मृत पाया है।" (पृ-14, आत्मदान)

और जड़ होने के बाद उसमें चेतनता की क्या आशा की जा सकती है। चारों ओर आठों पहर अब सन्नाटे के सिवा उसके लिए क्या रह गया है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसा क्या रह गया है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे -

"भीतर - बाहर अब केवल/मृत्यु ही बरस ही है।"
(पृ-117, आत्मदान)

नही अहल्या को अब मृत्यु का भय है और न ही शम्बूक को क्योंकि राम बिना अवसर दिये, बिना बात को समझे, शंबूक का वध कर देते हैं। शम्बूक कहते हैं ---

"अब नहीं है मृत्यु - भय/सच बोलता हूँ राम।" (पृ-83, शंबूक)

मृत्यु मानव जीवन का सबसे बड़ा निश्चित पर समय में अनिश्चित भय है। जिसकी वजह से संपूर्ण संसार अनर्थक लगने लगता है। इस मृत्यु भय का अतिक्रमण मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता ही कर सकती है। मनुष्य अपने से परे सिर्फ अपने सृजन में जीता है। "मृत्यु - चिंतन" से उभरने का एक ही उपाय है - सृजनात्मक संभावनाओं में आस्था।

अर्थात् जब मानव यह समझ जाता है कि हर वस्तु क्षणिक है तो उसे यह मृत्यु भय नहीं होता क्योंकि उसे इसका बोध हो जाता है कि जिसका सृजन हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है।

यही तो एक कंठ विषपायी काव्य में शंकर के सन्दर्भ में ब्रह्मा भी कहते हैं इन्द्र से कि यह कैसी विडंबना है। उनके द्वारा बनाए गए नियम ही उनको आज डस रहे हैं। सती की मृत्यु को वह क्यों नहीं समझ पा रहे ---

"क्यों मेरे सहयोगी शिव शंकर/
मृत्यु की क्षणिकता से पीड़ित है?" (पृ-55, एक कंठ विषपायी)

मरना और जीना भाग्य का खेल हो सकता है। मृत्यु कब किसको अपने आगोश में ले ले यह कोई नहीं जानता। लेकिन जब स्वास्थ्य बालक अचानक मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसे कोई भी सहजता से नहीं स्वीकार सकते। शम्बूक काव्य में विप्र बालक की मृत्यु को भाग्य का खेल नहीं मानते --

"मरना और जीना/ भाग्य के अधीन
व्यर्थ की बकवास है सब।" (पृ-7, शम्बूक)

और ऐसी अचानक मृत्यु का कारण किसी और से जोड़ा जाए। जिसका इससे कोई संबंध नहीं तो वह कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है। शम्बूक काव्य में विप्र बालक की मृत्यु का संबंध शम्बूक की तपस्या से जोड़ा जाता है। क्योंकि इन्द्र को डर है कि कहीं शम्बूक इस तपस्या के फलस्वरूप उनकी कुर्सी न छीन ले। और जब नारद यह बताते हैं वसिष्ठ से तो वसिष्ठ कहते हैं ---

"विप्र सुत की मृत्यु से/ इसका कहाँ सम्बन्ध
देवगण रहते सदा/ क्या स्वार्थ में ही अन्ध।" (पृ-11 शंबूक)

फलस्वरूप राम प्रजा के रोष पर शम्बूक का वध कर देते हैं। लेकिन शम्बूक की आँखों को देख ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे कुछ कह रही हों--

"कटा" सिर लोहू रहा है थूक
मृत्यु में अमरत्व का स्वर घोल।।" (पृ-31, शम्बूक)

यह सब देख ऐसा लगता है जैसे कि जीवन एक नाटक है जहाँ मनुष्य अपने सम्बन्धों को, अपने व्यक्तित्व को छोड़ता हुआ दूर चला जाता है। युधिष्ठिर कहते हैं -- अर्जुन से ---

"मुझे मृत्यु के इस विराट नाटक की/पूर्ण प्रतीति है अर्जुन।"
(पृ-129, म॰प्र॰)

इतिहास पुरुष काव्य की क्लिओपेट्रा के भी यही विचार है। वह वीर एण्टनी के सम्बन्ध में कहती है जो--

"जीवन-भर उद्दीप्त दीप की लौ - सी बलती/
अन्त हसक से मृत्यु -बवण्डर गले जा लगी।" (पृ-69, इ॰पु॰)

और यही स्थिति महाप्रस्थान में पांडवों की है जो जिन्दगी भर वीर पुरुषों का जीवन तो बिताते हैं, लेकिन मृत्यु एक क्षण में अपने में लपेट लेती है शस्त्र और पौरुष होते हुए भी वे एक दूसरे की सहायता करने में असमर्थ रहते हैं। वे सब जब हिम पर आरूढ होते हैं तो ऐसा लगता है ---

"विशलाक्ष हिम नेत्रों में/महामृत्यु की गैरिक करुणा वाली।"
(पृ-46, म॰प्र॰)

मृत्यु महाकाल है काल के बन्धनों में पड़कर व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है। मनुष्य सदा वर्तमान में जीता है। भविष्य की दृष्टि उसे वर्तमान की प्रक्रिया से मुक्त करके कालातीत बनाती। क्योंकि भविष्य के अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। वाजश्रवा अपने वर्तमान में ही मग्न थे। इसीलिये नचिकेता के विचार में वे विनाश को प्राप्त होनेवाले थे। क्योंकि उनमें भविष्य की दृष्टि नहीं थी।

"तुम्हारा वर्तमान जिस दिशा में जुड़ता है।
वहाँ कहीं एक भयानक शत्रु है जो तुम्हें मारकर
तुम्हारे संचयों को मार्ग में ही लूट लेता है।।" (पृ-18, आत्मजयी)

और विज्ञान अपने भयंकर उपकरणों द्वारा मानव के संचित ज्ञान को तथा मानव के अस्तित्व का सर्वनाश कर रहा है। कल्पांतर काव्य में सूर्यादित्य के शब्दों में --

"इसके पहले वह हम पर छुपकर करे वार
हम मृत्यु किरण से कर देंगे उनका विनाश
अंतिम विनाश।" (पृ-58, कल्पांतर)

और आखिर में निर्वेद पर खड़े युधिष्ठिर कहते हैं भीम से महाप्रस्थान में कि युद्ध को उन्होंने कर्तव्य के रूप में माना और अनासक्ति से युद्ध किया इसलिए वह उन्हें सालती नहीं, आच्छादित नहीं करती क्योंकि यही निर्वेद की भूमि होती है जहाँ दोनों पक्षों में उनकी जीत भी हुई और हार भी हुई--

"दुर्योधन बनकर/ मैं ने ही मृत्यु वरण की
और युधिष्ठिर बनकर/आज मैं ही इस विजय का पश्चाताप- करते हुए
इस हिम में गल रहा हूँ।" (पृ-100· म·प्र)

निष्कर्ष:--

मृत्यु चिन्तन से नैराश्य की प्राप्ति हो ऐसी बात नहीं। मृत्यु चिन्तन से मृत्यु पर विजय पाने या मृत्यु द्वारा नष्ट न किए जा सकने वाले जीवन तत्व को प्राप्त कर लेने का आशावादी दृष्टिकोण भी व्यक्ति में विकसित हो सकता है। उस समय उसे जिस जीवन की उपलब्धि होती है। वह नैराश्य से मुक्त आस्था मूलक व्यापक जीवन-मूल्यों से सम्पन्न होता है।

4.6. क्षण :---

नयी कविता का तीसरा महत्वपूर्ण पक्ष है लौकिक जीवन का सम्पूर्ण आयामों से उपभोग अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षण की अनुभूति को सत्य मानकर उसका भोग करना।

डॉ.रामदरश मिश्र के अनुसार क्षण के महत्व का अर्थ यह नहीं है कि जीवन को क्षण-भंगुर या क्षणिक मानकर उससे पलायन किया जाए वरन् "क्षणों को सत्य मान लेने का अर्थ होता है। जीवन की एक - एक अनुभूति को एक - एक व्यथा को , एक - एक सुख को सत्य मानकर जीवन को सघन रूप में स्वीकार करना। वस्तुत: जीवन विभिन्न क्षणों की संगठित इकाई का नाम है।{19}

नीरज ठाकुर के अनुसार एक - एक क्षण से मिलकर ही सम्पूर्ण जीवन का निर्माण होता है। जीवन की सम्पूर्णता को समझने के लिए आवश्यक है कि इन क्षणों को खंड - खंड करके देखा जाये। इस जीवन के एक - एक क्षण को महत्व प्रदान किया जाये।क्षणों की अनुभूति से श्रेष्ठ अनुभूति कोई नहीं होती।{20}

अवधनारायण त्रिपाठी का क्षण से आशय, समय की उस सूक्ष्म इकाई से नहीं जो कि इकाई है बल्कि भावना, वेदना, संवेदना की उस उत्कृष्ट किन्तु क्षण-भंगुर स्थिति से है। जिसका परम लघुत्व हमारे लिए किसी व्यापक जीवन्त संवेदन या अनुभूति को उद्‌भासित करने की क्षमता रखता हो। दूसरे शब्दों में इसको काल की इकाई न कहकर सर्जक अनुभूति का मूल्यवान क्षण माना जा सकता है। जो क्षण अपनी उर्वरता के नाते सार्थक है और लघुता में भी पूर्ण है।(21)

धर्मवीर भारती के अनुसार वे ही अर्थवान क्षण हैं। आत्मोपलब्धि के क्षण है। आत्मोपलब्धि के क्योंकि उन्हीं में हम अपने को पाते हैं- अर्थात् अर्थहीन शून्यता या अयथार्थ मूलक अनस्तित्व से मुक्त कर अपने को सार्थक पाते हैं।"(22)

लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार क्षण का बोध आधुनिक मानव के लिए एक महत्वपूर्ण तत्व बनकर आता है। आज क्षण में जीने और क्षण को स्वीकार करने में ही उसका जीवन है जैसे साँस- साँस की गति में हम प्राण की अभिव्यक्ति पाते हैं। वैसे ही क्षण - क्षण के दायित्व में हम जीवन की बाहुल्यता का स्वरूप भी पाते हैं।(23)

ऐसे ही पृथक क्षण का अपना अस्तित्व होता है। ऐसा क्षण सार्थक और शाश्वत भी बन जाता है। क्योंकि हम उस विशेष क्षण में जीवन के किसी व्यापक सत्य को आत्मसात करने में समर्थ हो जाते हैं। वह क्षण प्रवहमान होते हुए भी संवेदनात्मक सत्य का स्पर्श, पाकर शाश्वत, अखंड अविस्मरणीय एवं अक्षुण्ण बना रहता है।

और मानव जीवन अत्यन्त सीमित होता है। अत: प्रत्येक क्षण का लाभ उठाकर उसे यथासंभव अस्तित्व की सार्थकता के लिए ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि जो क्षण एक बार हाथ से निकल जाता है वह पुन: लौटकर नहीं आता।

प्रकृति भी क्षण-क्षण में अपना रूप बदलती है, बादल क्षण- क्षण में अपना आकार बदलते है और "नया रूप स्थापित करते हैं आत्मदान में---

"ये बादलों के क्षण - क्षण/ बदलते आकार ।" (पृ-1, आत्मदान)

इतिहास पुरूष काव्य में जीवन की क्षण - भंगुरता को दृष्टिगत किया है जहाँ सुबह को खिला हुआ फूल सांझ तलाक मुरझा जाता है।

"क्षण - पल का यह जीवन

--- --- ---

सुबह खिली, फूल की पंखुडियों - सी सांझ तलक
लग जाती धुंए खाने।" (पृ-33, इ.पु.)

इसी प्रकार से महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठर ईश्वर की लीला को इन शब्दों द्वारा दर्शाते हैं ---

"आक्षण, प्रतिपल दिग्मण्डल में
यह कैसी अनाश्रयी की चिन्मयता है
जो विपरीत गुणात्मकता में/क्षण-क्षण नर अभिव्यक्त हो रही
लुप्त हो रही। " (पृ-42, म.प्र.)

मानव के जीवन की क्षण भंगुरता को बड़े ही सुन्दर शब्दों में कुंवर -नारायण अपनी आत्मजयी काव्य में प्रस्तुत करते हैं ---

"तुझसे प्रमाणित यह जीवन/तेरे न होने पर भी होगा।"
(पृ-16, आत्मजयी)

मानव रहे न हरे संसार की हर वस्तु उसी रूप में रहती है। शंकर कहते हैं एक कंठ विषपायी काव्य में ---

"मैं वन के हर उस कोने में विरूंगा तेरे साथ जहाँ
जीवन के/सर्वोत्तम क्षण मैं ने भोगे।" (पृ-82, एक कंठ वि.)

डॉ॰देवेश ठाकुर के अनुसार जीवन की धारा में कुछ क्षण होते हैं, जो विशिष्ट होते हैं। इन्हीं विशिष्ट क्षणों से जीवन विशिष्ट बनता है। जीवन में इन्ही क्षणों की महत्ता होती है जो जीवन को विशिष्ट बनाते हैं। क्षण को स्वीकार कर लेना क्षण की महत्ता को स्वीकार कर लेना अपने आप में पूर्णता प्राप्त कर लेना है। रेखा के अनुसार "जो क्षण में जीता है, क्षण को स्वीकार कर लेता है वह बूढ़ा होता ही नहीं।"क्योंकि जीवन के उस विशिष्ट क्षण की स्मृति शेष जीवन को श्रेयस से आपूर्ण कर देती है। क्षणों में जीवन को मापना और उन क्षणों के सुखों को अंगीकार करना ही जीवन को सही सृजनात्मक दृष्टि से देखना है।(24)

काल का प्रवाह जो क्षणों का योग मात्र है। अपनी सम्पूर्णता में विशिष्ट नहीं, विशिष्टता है तो उन क्षणों की जो जीवन को सुख से भर देते हैं। क्षण - क्षण जीने से वर्तमान बनता है और उसी को वास्तविक सार्थकता है। इस प्रकार क्षण का साक्षात्कार उपलब्धि है। यह उपलब्धि सर्वदा वर्तमान में होती है। "क्षण" में जीनेवाले के लिए भविष्य का कोई महत्व ही नहीं है। उसके लिए भविष्य होता ही नहीं। रेखा कहती है --"मैं ने भविष्य को मानना ही छोड़ दिया है। भविष्य हुई नहीं, एक निरन्तर विकासमान वर्तमान ही सब कुछ है आपने कभी पानी के फव्वारे पर टिकी हुई गेंद देखी है। बस जीवन वैसा ही है, क्षणों की धारा पर उछलता हुआ-जब तक धारा है तबतक बिल्कुल सुरक्षित, सुस्थापित।

परिचय का क्षण, फुलफिलमैंट का क्षण। ये ही वे क्षण हैं जो विशिष्ट हैं और जो जीवन में सार्थकता भरते हैं। रेखा को इस बात का आभास

है कि उसका अपना एक व्यक्तित्व है और साथ ही उसकी जीवन को देखने की अपनी एक विशेष दृष्टि भी।

रेखा का जैसा प्यार है कनुप्रिया की राधा के लिए भी प्यार का क्षण बहुत महत्व रखता है। वह प्यार में इतनी बेसुध हो जाती है कि उसकी अँगुलियाँ अनमनी, भटकती हुई अनजाने में उसका नाम लिख जाती है।

"जो मैं ने प्यार के महनतम क्षणों में खुद रक्खा था।"
(पृ-66, कनुप्रिया)

तभी तो कनुप्रिया की प्रियाहीन राधा तन्मयता से भोगे हुए क्षणों की अनुभूति से प्रत्फुल्ल हो पुकार उठी है --

"मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे
तो सार्थक फिर क्या है कनु।" (पृ-48, कनुप्रिया)

लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं। जब हमें यह लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है। महत्व उसका नहीं है। महत्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है - चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्वर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा, मूल्यांकन हुआ है, जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है। इस तरह समाप्त बाह्य अतीत, वर्तमान और भविष्य सिमटकर उस क्षण में पूंजीभूत हो गया है और हम हम नहीं रहे---

"और मेरे नयन अब नयन नहीं है/प्रतीक्षा के क्षण हैं/----
---- जिस्म/ अब जिस्म नहीं है/सिर्फ एक पुकार है।"
(पृ-56, कनुप्रिया)

प्रणय पाश में व्यक्ति दिक्काल को ललकारता है। इसलिए प्रणय व्यक्ति को दिक्काल से श्रेष्ठ, अमर बना देता है। इतिहास की गतिविधियाँ दिक्काल को बाँधने में असमर्थ होती हैं। परन्तु प्रणय दिक्काल को ललकारता पराजित करता है, इसलिए प्रणय के अल्प क्षण भी युग के विस्तार से सशक्त है--

"कौन था वह/ जिसके चरम साक्षात्कार का एक गहरा क्षण
सारे इतिहास से बड़ा था, सशक्त था।" ﴾पृ-62, कनुप्रिया﴿

और कनुप्रिया के मन में एक मधुर भय, अनजाना संशय, निर्व्याख्या वेदना, उदासी जैसी मनोभावनायें जाग्रत होती हैं। जो राधा को ---

"बार-बार चरम सुख के/ क्षणों में अभिभूत कर लेती है।"
﴾पृ-23, कनुप्रिया﴿

कनुप्रिया यह नहीं समझ पाती कि वह जो हर क्षण को महत्व देती थी कैसे उसके हाथ से ये चरम साक्षात्कार के क्षण छूट जा रहे हैं ---

"यह कैसे बताऊँ तुम्हें/कि चरम साक्षात्कार के ये अनूठे क्षण भी
जो कभी - कभी मेरे हाथ से छूट जाते हैं।" ﴾पृ-27, कनुप्रिया﴿

अहल्या भी कुछ इसी प्रकार से इन्द्र के साथ जब तृप्ति पाती है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह पल में अपनापन खो रही है और सारी अभिलाषायें जो कोहरे बनकर रह गयी थीं वे धीरे - धीरे हट रही हैं ---

"पल-पल -पल/ मैं खो रही थी अपनापन।" ﴾पृ-36, कनुप्रिया﴿

और भीतरी शक्ति के आगे बाहरी बंधन नहीं टिकते। अहल्या की स्थिति भी ऐसी है। उसके लिए भी सांसारिक बंधन क्षण में टूट जाते हैं ---

"भीतर के शक्ति - स्रोत के आगे/बाहरी बंधन
सभी निरस्त छिन्न होते/ पल भर में।।"(पृ-41, आत्मदान)

और अहल्या को इसका पश्चाताप नहीं है क्योंकि वह अपने आप को चकोर मानती है, जिसकी प्यास इन्द्र बुझाते हैं ---

"तृप्त हूँ मैं/ संक्रिया/ यंत्र-मुक्ता
इस चरण क्षण में।"(पृ-11, आत्मदान)

जगदीश गुप्त क्षण की अनुभूति पर बल इसलिए देता है कि वह अपने आपको सामयिक जीवन के प्रति प्रतिक्षण उत्तरदायी समझता है उससे विरत होकर शाश्वत की गोद में विश्राम करने की कल्पना करना उसके स्वभाव के प्रतिकूल है। जीवन क्रम की स्वाभाविक अखण्डता उसे क्षण की अनुभूति में उन तत्वों की यथेष्ट उपलब्धि करवा देती है। जो वास्तव में नित्य है।(25) इसलिए कनुप्रिया पूछती है ---

"इस क्षण की प्रतीक्षा में तुम/कब से मुझमें छिपे सो रहे थे।"
(पृ-14, कनुप्रिया)

और यह चरम अनुभूति का क्षण सामाजिक मानदंडों को भी भूल जाता है, आत्मदान की अहल्या के लिए आदर्श, अनुशासन, प्रियजन पति, प्रिय वचन और निज संतानें भी ---

"ओझिल हो जाती उस क्षण में?"(पृ-34, आत्मदान)

उसे एक नया बोध होता है वह उस क्षण को महत्व देती है जिसके कारण नई सम्भावनाएँ जन्म लेती हैं ---

> "नई सम्भावनाओं के कण/मिट्टी को पकड़ते बीज क्षण
> प्राप्तियों के पर्याय हैं। "§पृ-7, आत्मदान§

अहल्या उस क्षण को आत्मा की चरम उपलब्धि मानती है---

> "आत्मा की चरम उपलब्धि के क्षण।"§पृ-10, आत्मदान§

लेकिन समाज में रहते हुए हर मानव को सामाजिक मानदंडों का भी ध्यान रखना होता है। आत्मदान की अहल्या को चरम उपलब्धि तो हो जाती है। लेकिन दूसरी ओर उसे अपने पति गौतम बम आरी ऋषि के कारण श्राप भी मिलता है। अब वह शिला बन जाती है। उसकी मन:स्थिति इन शब्दों में प्रकट होती है —

> "एक ओर गहरी खाई
> दूसरी ओर भुरभुरा कर गिरती कंकरीली दीवार
> पल-पल खिसकती/इस दीवार के सहारे चलती मैं
> ऊँचाई से खाई को मांपती / सिहरती।।"§पृ-36,आत्मदान§

इसलिए अब वह बीते हुए क्षणों को स्मरण नहीं करना चाहती। चूँकि वह इन्द्र द्वारा छली गई थी--

> "मैं किसी तरह भी याद नहीं करूँगी/अनुकूल क्षणों---।"
> §पृ-25, आत्मदान§

कनुप्रिया की भी स्थिति कुछ ऐसी ही है वह बुझी हुई राख से बीते हुए क्षण को, उन गुजरे हुए क्षणों को याद कर दु:खी होती है, जो कल तक एक जादू थी, सूरज था, वेग था आज वह जूड़े से गिरे हुए बेले सा म्लान है। वह कहती है --

"बुझी हुई राख/ टूटे हुए गीत, डूबे हुए चांद
रीते हुए पात्र/ बीते हुए क्षण सा-मेरा यह जिस्म।"

(पृ-61, कनुप्रिया)

तो महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं कि जब नदी पर्वतों को छूकर घाटियों में गिरती है तो कुछ ऐसा लगता है कि वे भी अपनी सांसारिकताओं को छोड़ कर आगे बढ़ रही है - युधिष्ठिर कहते हैं ---

"हर क्षण/ घाटी या कि नदी में/गिर सकनेवाली वे
पर्वत थामे चली आ रही
---- --- ---
जैसे सांसारिकताएँ थी ये भी।" (पृ-34, म॰प्र॰)

हर मानव न जाने क्यों उस क्षण को महत्त्व देता है। जब वह किसी कार्य को प्रारंभ करता है अगर वह उसमें सफल होता है तो वह क्षण उसके लिए सौभाग्य का और विफल होता है तो दुर्भाग्य का। इतिहास पुरुष काव्य में क्लिओपेट्रा पत्र लिखती है। सीता को कि जिस क्षण सीता ब्याह कर आयी थी। वह उसके लिए दुर्भाग्य ही सिद्ध हुआ---

"पल-पल शंका, संकट औ, दुर्भाग्य प्रतिक्षण
ब्याह, राज्य की मृगमरीचिका, वह निर्वासन।।" (पृ-64॰इ॰पु॰)

लेकिन कार्य की सफलता और असफलता को ध्यान में रखते हुए क्या मानव कार्य करना छोड़ दे। इतिहास पुरुष कहते हैं कि मानव को हौसला, विश्वास और हिम्मत से कार्य करना है न कि उस कार्य की सफलता के लिए देवों को याद करना है। वे मानव को इसमें समय बरबाद न करने को कहते हैं ---

"अपने को तुच्छ समझ/देवों को याद न कर
उद्यम - उमंग भूल दीन याचनाओं में
दिन-पल बरबाद न कर ।"(पृ-41, इ॰पु॰)

इसी संदर्भ में संशय की रात में जटायु कहते हैं प्रत्येक क्षण का मूल्य है, हर क्षण कोई न कोई संकेत लेकर आता है। उसका समग्रत: स्वीकार और भोग आवश्यक है। प्रत्येक दो क्षणों के बीच अनंत समय का अंतराल बिखरा है। अत: यदि प्रत्येक क्षण की पृथकता को समझें तो परिताप का कोई कारण नहीं है। वे कहते हैं राम से --

"यदि तुम क्षणों की इस पृथकता को/देख सके होते तो
राघव!/ परितापित कभी नहीं होते।"(पृ-65, संशय की रात)

क्षण की महत्ता को इसलिए भी स्वीकार करना चाहिए कि वह हर समय विद्यमान रहता है, किन्तु एक अंतर के साथ। संशय की रात में जटायु कहते हैं---

"वह तो क्षण था/ गुण था/ जो कि हैं रहेगा भी।"
(पृ-66, संशय की रात)

जो क्षण बीत गया है वह फिर उसी रूप में हमें नहीं मिलता है। इसीलिए संशय की रात में जटायु कहते हैं ---

"यह मत भूलो/ हम वह क्षण है।
जो बीत चुके पुन: नहीं बीतेंगे।"॥पृ-67,संशय की रात॥

क्षण की सत्ता निरपेक्ष नहीं सापेक्ष है। क्षण का अस्तित्व ही सापेक्षता का प्रमाण है। जो क्षण वर्तमान की संज्ञा पाता है। वह क्षण तत्क्षण अतीत हो जाता है।

क्षण में क्या कुछ हो जाता है कोई नहीं जानता। एक क्षण में व्यक्ति कहीं रहता है और दूसरे क्षण में वह कहीं और पहुँच जाता है। शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं राम से ---

"एक क्षण सोचो/ कहाँ पर थे/ कहाँ तुम आ गये।"॥पृ-31,शंबूक॥

शायद शम्बूक के श्रीराम की ही तरह एक कंठ विषपायी की सती भी विवश होंगी तभी तो उन्होंने शंकर का वरण किया - वीरिणी कहती है दक्ष से ---

"अपनी कन्या ने भी / किसी विवश क्षण में
शंकर को वरण किया था।"॥पृ-12, एक कंठ विषपायी॥

लेकिन मानव क्रोध में कुछ भी सुनने का प्रयत्न नहीं करता। जैसे ऊपर दक्ष वैसे ही एक कंठ विषपायी में इन्द्र भी जो अपनी ही बात को सत्य मानते हैं। सर्वहत के प्रश्न पर कि युद्ध के निर्णय से पहले उसने क्या सोचा! इन्द्र कहते हैं --

"मैं प्रतिहिंसा से पागल था शायद
शायद कुछ भी सोच नहीं पाया था।उस क्षण।"
॥पृ-113,एक कंठ विषपायी॥

जिस तरह से इन्द्र प्रतिहिंसा में पागल थे उसी तरह से शम्बूक काव्य में शम्बूक और एकलव्य में भी प्रतिक्षण अपमान की आग बढ़ रही थी - शम्बूक कहते हैं।---

"तुम्हारी संतप्त आत्मा में/ आग है
प्रतिक्षण धधकते अपमान की।"(पृ-18, शम्बूक)

द्रौपदी को आश्चर्य होता है जब भरी सभा में उनका अपमान किया जाता है। तब ब्राह्मण पुत्रों में क्षण भर के लिए भी क्षत्रिय तेज़ नहीं जागता। वह कहती है महाप्रस्थान में ---

"पर क्षण भर को भी/ कभी न आया
ब्राह्मण धर्मराज को लेश क्रोध?।"(पृ-67, म.प्र.)

लेकिन गांधारी के हृदय में उठते हैं क्रोध के मेरुदण्ड। समय पर अगर विवेक का उपयोग और मर्यादा का ध्यान न दिया जाए तो यह दोनों किस काम के। गांधारी के बेटों को अठ्ठारह दिनों के युद्ध में अनीति और अधर्म से मारा जाता है तो वह कहती है ---

"निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा।"(पृ-23, अंधायुग)

वे कठोर शब्द, वे अपमानित शब्द अब भी आत्मजयी के नचिकेता के कानों में गूँजते रहे हैं। नचिकेता के कोमल अन्तस् पर छाप सी झुलस जाती है। जब वाजश्रवा कहते हैं"मृत्यवे त्वा ददामि।"।

"शब्दमात्र/ शाप की शक्ति से कहे गये।
शब्दमात्र/ विषाद के चरम क्षणों में सहे गये।"(पृ-28, आत्मजयी)

इसी प्रकार से गांधारी भी कृष्ण को अंधायुग काव्य में शाप देती है। अन्धायुग जो उस दिन अवतरित हुआ था वह बार - बार दोहराता है ---

"हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है।" ॥पृ-32, अँधायुग॥

और कृष्ण के अनुसार यह मृत्यु नहीं केवल रूपांतरण है। अंधायुग में वृद्ध से कृष्ण कहते हैं ---

"बोले अवसान के क्षणों में प्रभु/मरण नहीं है ओ व्याध
मात्र रूपांतरण है यह।" ॥पृ-129, अंधायुग॥

और इस नये अर्थ में हर छोटे से छोटा व्यक्ति, विकृत, अद्र्धबबर, आत्मघाती, अनास्थामय अपने जीवन की सार्थकता पा सकेगा। वृद्ध कहते हैं अंधायुग में निश्चय ही वे हैं भविष्य, किन्तु हाथ में तुम्हारे हैं--

"जिस क्षण चाहो उनको नष्ट करो
जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो, जीवन लो।" ॥पृ-130, अंधायुग॥

लेकिन चाहने पर भी मन पर एक बार अंकित या उत्कीर्णित की गई स्मृतियाँ कुछ भी बीतती नहीं है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से ---

"स्मृतियाँ/ फिर प्रतिक्षण इनकी आवृत्तियाँ
कुछ भी तो बीत नहीं पाता है पार्थ/ व्यक्ति के मन से
॥पृ-59, म.प्र.॥

व्यक्ति पर जब पिछली गुजरी घटनाओं का प्रभाव इतना पड़ता है कि वह अतीत में ही रहना चाहता है। नए को आत्मसात करना नहीं चाहता। एक कंठ विषपायी काव्य में सर्वहत भी दक्ष के साम्राज्य में हुए सर्वनाश का प्रतिरूप है जब वह खाने के लिए कुछ न मिलने पर पीने के लिए रक्त मांगता है तो ब्रह्मा कहते हैं ---

"तुम अब भी उस क्षण में जीते हो।
जो कि एक काला - सा धब्बा हो
जीवन के/ उजले विहान पर।" (पृ-114, एक कंठ विषपायी)

ब्रह्मा कुपित हैं सर्वहत से तो उदास हैं शंकर के दुख पर। यह सहज ही है कि किसी के दुख को देखकर दूसरा व्यक्ति भी दुखी है। ब्रह्मा की उदासी को देख कर इन्द्र कहते हैं -- एक कंठ विषपायी में---

"किन्तु मुझे लगा/ आप इस क्षण में अनायास
स्वयं उसी मानवीय पीड़ा से हैं उदास।" (पृ-61, एक कंठ वि॰)

धनपति कुबेर भी शंकर की पीड़ा को देख दुखी होते हैं, जिस पर शंकर बड़े ही व्यंग्यात्मक ढंग से कहते हैं कि धन के दृष्टि नहीं होती, भावना शून्य हो जाते हैं। धनवान लोग, अपनत्व खत्म हो जाता है और --

"आचरण बदलते जाते हैं उनके क्षण-क्षण।" (पृ-78, एक कंठ वि॰)

कुबेर वहाँ से निकल जाना श्रेयस्कर समझते हैं, जिस मोह निशा में शंकर है कुछ उसी प्रकार की मोह निशा में अंधायुग के संजय हैं। वे संजय जो दिव्य दृष्टि से सब देखेंगे, अंधे राजा से सब सत्य कहेंगे , जो ब्रह्मास्त्रों के भय से मुक्त रहेंगे आज वे भी मोह निशा में घिर कर भटक रहे हैं---

"दायित्व गहन, भाषा अपूर्ण, श्रोता अन्धे
पर सत्य वही देगा उनको संकट क्षण में।"﴾पृ-31, अंधायुग﴿

अब इस संकट के क्षण में ही मानव को अपने विवेक का उपयोग कर सही निर्णय लेते हुए पृथ्वी के अस्तित्व की रक्षा करनी है। इसलिए कृषिकुमार कहते हैं। कल्पांतर काव्य में कि सामूहिक हत्या के जितने भी हथियार तैयार किए गए हैं। उन सब को हम नष्ट करेंगे क्योंकि --

"यह पृथ्वी की सामूहिक हत्या का/अंतिम क्षण आ पहुँचा
अब हमीं रोक सकते इसको। "﴾पृ-108, कल्पांतर﴿

जब किसी का भी अंतिम क्षण आ पहुँचता है तो वह क्षण कितना भयभीत कराता है। आत्मजयी काव्य में नचिकेता की यही स्थिति है जब वह अपने आप को जल में डुबो लेता है और जल बढ़ता जाता है। उस क्षण उसकी स्थिति का वर्णन इन शब्दों में देखा जा सकता है ---

"अस्तित्व मरण के अधरों से/कुछ बचा हुआ कुछ लगा हुआ।
वह चरम बोध का स्वावलम्बी अद्भुत क्षण।"﴾पृ-38, आत्मजयी﴿

आत्मदान की अहल्या को भी गौतम ऋषि श्राप के बाद फिर से स्वीकारते हैं तो उसके लिए यह क्षण अद्भुत क्षण होता है। वह कहती है---

"आज वह क्षण आया/ जब तुम
शिखर से स्वयं उतरे हो नीचे।"﴾पृ-47, आत्मदान﴿

द्रौपदी भी महाप्रस्थान काव्य में अर्जुन से कहती है कि वह हिम की जकड़ता से उसे मुक्त करे, जो बड़ी ही निर्ममता से कवच के रूप में उसे जकड़ कर रखी है ---

"मुझे इस -प्रतिक्षण सिकुड़ती/ कवच की---"﴾पृ-84, म॰प्र﴿

क्षण - क्षण में क्या बीत जाता है। क्या घट जाता है । कोई नहीं जानता जो द्रौपदी अब तक सामने खड़ी थी वह क्षण भर में हिम में घस जाती है। अर्जुन ने जिनके साथ कितने ही एकान्तिक क्षण बिताए, वह भी अपनी प्रिया की पुकार पर उनकी रक्षा न कर सके। युधिष्ठिर कहते हैं ---

"अभी तुमने देखा कि/ सांसारिक सम्पदा की मूर्ति
और तुम्हारे एकान्तिक क्षणों की
प्रिया/ तुम्हें पुकारती रही।"﴾पृ-104, म॰प्र॰﴿

इसके बाद हिम पथ पर अर्जुन भी गल जाते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं मानव को क्षण को रोक कर रखना होता है। क्योंकि गुजरा हुआ क्षण लौट कर नहीं आता है। महाप्रस्थान में ---

"यह क्या हुआ तुम्हें अर्जुन?/तुम अपना पैर नहीं साध सके?
प्रत्येक क्षण/ यात्रा को/ अपने पैरों से दाबे रखना पड़ता है
पार्थ?"

﴾पृ-128, महाप्रस्थान﴿

स्वाहा पर्व तक केवल श्वान ही युधिष्ठिर का साथ देते हैं। अंतिम क्षण तक श्वान उनके साथ सहयात्री की भूमिका निभाते हैं । आखिरकार श्वान ही सृष्टि था। चूँकि महान से महान योद्धा थी, जिस पथ को पार नहीं कर पाये वह श्वान ने पार किया। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर श्वान के साथ स्वर्ग के द्वार पर पहुँच कर कहते हैं -- श्वान से --

"आओ/ तुम्हीं इस अन्तिम क्षण के सहयात्री हो
तुम्ही सृष्टि थे बन्धु।"(पृ-144 म॰प्र॰)

और जब क्षण थमने लगता है तो किसी अनिष्ट के घटने की आशंका जागती है। आत्मदान की अहल्या की स्थिति भी यही है ---

"ये पलों से भागते युग/ क्यों थमने लगे हैं।"(पृ-12, आत्मदान)

गौतम ऋषि के श्राप पर अहल्या शिला बन जाती है। वह कहती है कि पति होते हुए भी वे उसे बांध नहीं सके। उसने ही उसकी मांग रंगी है, माथे पर बिंदुली बनकर अनुपम रुप दिया वह कहती है। अब भी वह उसके ही पति हैं। लेकिन वह --

"मैं तुम से निरपेक्ष रुका क्षण हूं।"(पृ-23, आत्मदान)

अहल्या की ही तरह नचिकेता को भी उसके पिता क्रोध में श्राप देते है और फिर उसे अपनाते हैं। नचिकेता के लिए यह क्षण विषाद का होते हुए भी एक अमूल्य अनुभव प्रतीत होता है।

"तुम्हें ही नहीं अपने को ही बहुत दिनों बाद
किसी परित्यक्त क्षण से
पुन: एक अमूल्य अनुभव में परिणत हुआ।"(पृ-43,आत्मजयी)

नचिकेता में वह दृढता भी इसलिए कितने ही प्रलोभनों के बावजूद भी वह डगमाया नहीं, बस खड़े रहा अपने आदर्शों पर

"यह प्रतिक्षण मांग/ मैं पुरुषत्व
मोहित कामवश/ ललचाता है एक मुद्रा से।"(पृ-44,आत्मजयी)

व्यक्ति अपने अतीत के मधुर क्षणों को याद करना चाहता है। आत्मजयी के नचिकेता भी भविष्यबोध में यही कहते हैं ---

"क्षण - भर ममत्व की स्मृतियों में
विश्राम मुझे कर लेने दो (पृ-73, आत्मजयी)

तो नूरजहाँ भी अफगान के साथ बिताए हुए क्षणों को इस सूने क्षण में याद करती है - इतिहास पुरुष काव्य में ---

"रूपसी के सूने क्षण/अनायास नयी इत्र,गंधों,शिल्प-बंधों का
करते निर्माण, चलन।"(पृ-75, इतिहास पुरुष)

राम का मन भी इसी तरह से उड़ान भरता है जब वह सीता को वनवास भेजते हैं। सीता के रथ की श्वेत पताका जैसे - जैसे दूर होती जा रही है। राम का मन कहता है---

"प्रत्येक क्षण/ दूरियों के जल में डूब जाने के लिए
तुम्हारे ही आदेश पर है।"(पृ-107, प्र॰पर्व)

निष्कर्ष:---

क्षण काल की वह लघु इकाई है जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान का संगम होता है। इसीलिए वह लघु होकर भी विराट है। मुक्त क्षण की अभिव्यक्ति में ही मानव लोकोत्तर आनंद पाता है। इस अस्तित्व-वादी चिंतन में मानव जीवन के प्रत्येक क्षण को अतुलनीय महत्व प्रदान किया गया है। मनुष्य - जीवन में प्रत्येक क्षण का निजी महत्व होता है। क्योंकि क्षण - क्षण में लिया गया निर्णय ही मानव अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करता है।

4·7· अस्तित्व की सार्थकता :---

मृत्यु की निश्चित चुनौती के सम्मुख व्यक्ति को अपने सामर्थ्य की सीमाओं का बोध होता है। उसे लगता है कि सृष्टि का सर्वाधिक विशिष्ट प्राणी होते हुए भी वह कुछ कर सकने में स्वच्छन्द नहीं है। उसका जीवन सीमित है, इतने विशाल और व्यापक परिप्रेक्ष्य में काम करने के लिए उसका जीवन सीमित है और इन परिस्थितियों में उसे कम से कम समय में अपने अस्तित्व को एक निश्चित अर्थवत्ता प्रदान कर देनी है इस प्रकार से अस्तित्ववादी के लिए अपने जीवन्त और सक्रिय क्षणों का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। अपनी निराशा के क्षणों की शून्यता से बाहर उबर आने का उसका यह प्रयास "यही" इसी बोध के पश्चात् आरम्भ होता है। इस प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन में मनुष्य होने के वास्तविक अर्थ की खोज का प्रयास है। इस बात का प्रयास है कि समस्त उपलब्ध भौतिक ज्ञान के बीच मनुष्य अपने अस्तित्व की सार्थकता खोज सके।

और मानव अपने अस्तित्व को तभी सार्थक बना सकता है। जब वह कर्म करता हो। अपने को आचरण में ढालता हो। अंधायुग काव्य में कृष्ण यहीं समझाते है अर्जुन को ---

> "निष्क्रियता नहीं/ आचरण में ही
> मानव अस्तित्व की सार्थकता है।"{पृ-43, अंधायुग}

नचिकेता डूबते हुए किसी टूटे - फूटे मंदिर की मूर्ति का सहारा पाता है, किन्तु वह भी डूबने लगती है और उसका देवताओं के प्रति विश्वास भी खण्डित हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में व्याकुल होकर सुधहीन होकर मूर्ति के कंधों पर पैर रखकर वह खड़ा हो जाता है। यही

उसका विद्रोही मस्तिष्क है और यही आधुनिक संदर्भ में विकसित व्यक्ति मात्र की जागरूकता है। यहाँ तर्क ही तर्क है। विश्वास दह गया है और रह गयी है केवल अपने अस्तित्व को बनाए रखने की - अस्तित्व-वादी चिंता। नचिकेता के सामने अस्तित्व की सार्थकता का प्रश्न स्पष्टत: उपस्थित है ---

"अस्तित्व एक घातक तर्क भी हो सकता है।" (पृ-37, आत्मजयी)

अश्वत्थामा अपने पिता द्रोण की हत्या के प्रति प्रतिहिंसा में ही अपने अस्तित्व की सार्थकता मानता है। अंधायुग में उनके शब्द है।

"वर्तमान में जिसके/ मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा है।" (पृ-44, अंधायुग)

निष्कर्ष:---

शायद ही मानव कभी अपने लिए इतना समय निकालकर अपने अस्तित्व की सार्थकता के बारे में सोचता होगा। लेकिन उसके अस्तित्व-वादी जीवन के लिए यह महत्वपूर्ण है। इसीलिए मानव को इसका चिंतन करना है।

निष्कर्ष:----

इस अध्याय में मानव किस तरह से यथार्थ के धरातल पर से गुजरता हुआ, सत्य पर खड़े होकर काल की महत्ता को जानकर मृत्यु के सामने अपने जीवन को अच्छे ढंग से जीने तथा क्षण भंगुर जीवन को ध्यान में रखता हुआ, अस्तित्व की सार्थकता को विभिन्न काव्यों के उदाहरणों से देखने का प्रयास किया है।

आगे हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि मानवीय सम्बन्ध क्या है और अस्तित्ववादी चेतना उनमें कहाँ तक अपना प्रभाव डालती है। मानवीय सम्बन्ध के विभिन्न रूपों को उदाहरणों के साथ देखते हुए जीवन की सार्थकता को देखेंगे।

****

सन्दर्भ सूची

****

1· दुष्यन्त कुमार और उनका साहित्य -डॉ·हरिचरण शर्मा चिंतक शिवपुरी पृ- 114

2· मानवमूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती पृ-77·

3· समसामयिक हिन्दी कविता - विविध परिदृश्य -डॉ·गोविन्द राजनीश पृ- 34

4· यथार्थ यथास्थिति नहीं - रघुवीर सहाय पृ- 137

5· नयी कविता की नाट्य मुखी भूमिका - डॉ·हुकुमचन्द राजपाल,पृ-86·

6· साहित्य के विविध आयाम - धर्मवीर भारती पृ-39

7· आदर्श और यथार्थ - पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव पृ-75

8· दुष्यन्त कुमार - रचनाएँ और रचनाकार - ग·तु·अष्टेकर पृ-102, 103·

9· आधुनिक हिन्दी कविता - डॉ·विनय - अंधायुग - धर्मवीर भारती पृ-188·

10· विवेकानन्द ने कहा था - भारत में विवेकानन्द तथा विवेकानन्द साहित्य (तृतीय खण्ड) - गिरिराज शरण पृ-109·

11· पुनश्च - डॉ· हरिचरण शर्मा पृ-78·

12· हिन्दी के खण्डकाव्य - डॉ·शिवप्रसाद गोयल पृ-438·

13· हिन्दी के बहुचर्चित काव्य - नये संदर्भ - बलभीराज गोरे,पृ-78

14· अस्तित्ववाद - दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका -डॉ·लालचन्द गुप्त "मंगल" पृ- 89

15. The thought of death prevents me from losing myself in them (society) and enables me to choose finally between them indefinitely indeterminity of death is revealed by the feeling of dread which urges me to cut myself off from the functions and processed in wh ich I am brounght before myself in the final perspective of death - The challenge of Existentialism - John Wild - Pg- 120

16. The right attitude to death is to envisage it as involved in life, Death is not the are but cuts down the tree, it is the fruit that grows on it Existentialism from within E.L.Allen - Pg - 36

17• श्री अरविन्द के पत्र-चतुर्थ भाग -गिरिराज शरण पृ-115•
18• पुनश्च - डॉ• हरिचरण शर्मा पृ- 131
19• हिन्दी कविता - तीन दशक - डॉ रामदरश मिश्र पृ-99•
20• आधुनिक हिन्दी कविता-विकास के आयाम-नीरज ठाकुर पृ-104•
21• नयी कविता में वैयक्तिक चेतना -डॉ•अवधनारायण त्रिपाठी,पृ-110•
22•मानव मूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती पृ-34, 35•
23• नयी कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकांत वर्मा पृ-283•
24• नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया - डॉ•देवेश ठाकुर पृ-49-50•

****

पंचम अध्याय

मानवीय सम्बन्ध और अस्तित्ववादी चेतना

आज मानव आदर्शवादी नहीं है। वह अधिकाधिक यथार्थवादी होता जा रहा है। आज विज्ञान जैसी बड़ी भौतिक शक्तियों को संभालने की आवश्यकता इससे पूर्व कभी उत्पन्न नहीं हुई थी। वैज्ञानिकता ने मानव सम्बन्धों को परिवर्तित कर दिया तथा उसे नया रूप प्रदान किया है। आज मनुष्य का व्यक्तित्व विघटित हो गया है।

मानवीय सम्बन्धों के भी दो रूप हैं -- एक है मानव का सामाजिक सम्बन्ध और दूसरा है सृष्टि मात्र के सार्थ सम्बन्ध। मनुष्य परिवेश को बदलता हुआ अपने को भी बदलता है। परिवेश से उसका सम्बन्ध विकसित होता है। मनुष्य के उस परिवेश में प्रकृति और समाज दोनों आते हैं। नये परिवेश में नया मनुष्य नये सम्बन्धों को जीता है।

मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप समाज के परिवर्तन के साथ-साथ बदलता है। व्यक्ति के व्यक्तिगत सम्बन्ध भी उसके सामाजिक सन्दर्भ में ही अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। इसीलिए यह कहना ठीक नहीं है कि व्यक्ति के वैयक्तिक सम्बन्ध समाज निरपेक्ष होते हैं।

मनुष्य और उसके सम्बन्धों का स्वरूप सामाजिक सन्दर्भ में ही व्यक्त हो सकता है, व्यक्ति के केवल अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों में ही नहीं।

डॉ॰ लालचन्द गुप्त मंगल के अनुसार अस्तित्व सम्पन्न व्यक्ति वह है जो स्वयं से असीम सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध है और स्वयं में तथा

अपनी नियति में अनन्त रुचि रखता है। अस्तित्व सम्पन्न व्यक्ति एक प्रकार से ससीम में असीम का ही अवतार होता है। यह भाव ही अस्तित्ववान व्यक्ति को चेतना प्रदान करता है।﴾।﴿

कनुप्रिया और कनु के बीच एक ऐसा प्रगाढ़ सम्बन्ध है, जो इस जन्म का नहीं बल्कि जन्म - जन्मांतर का है। कनु चाहता है कि थोड़ी सी अवधि में वे दोनों समस्त यात्राएँ पूरी कर लें----

"और इसीलिए सम्बन्धों को इस घुमावदार पगडंडी पर
क्षण - क्षण पर तुम्हारे साथ
उसे इतने आकस्मिक मोड़ लेने पड़े हैं
कि मैं बिल्कुल भूल ही गयी हूँ कि/मैं अब कहाँ
और तुम मेरे कौन हो।"﴾पृ-70, कनुप्रिया ﴿

यही वीरिणी का अनुभव है, परिणय नारी की परिणति है, एक कंठ विषपायी में वह दक्ष से कहती है ---

"नर-नारी के सम्बन्धों में
इससे भी ज्यादा अनहोनी घटनाएँ
घटती रहती है।"﴾ पृ-17, एक कंठ विषपायी﴿

एक ऐसी अनहोनी घटना शम्बूक के साथ भी घटती है। शम्बूक काव्य में विप्रसुत की मृत्यु का सम्बन्ध शम्बूक की तपस्या से जोड़ा जाता है। क्योंकि इन्द्र को डर है कि कहीं शम्बूक की तपस्या से उनकी कुर्सी न छिन जाए। नारद कहते हैं वसिष्ठ से

"सोचिए सम्बन्ध तो/ बिल्कुल प्रकट है देव।"﴾पृ-4,शम्बूक﴿

और ऐसे ही अनहोनी सम्बन्धों को द्रौपदी नहीं समझ पाती कि क्या नाम दे। महाप्रस्थान काव्य में द्रौपदी को जब भरी सभा में चीरहरण किया जाता है और पांडव पुत्र कोई भी उनकी रक्षा करने की स्थिति में नहीं है तब कृष्ण अनुपस्थित होते हुए भी उपस्थित होकर उसकी रक्षा करते हैं। द्रौपदी कहती है --

"जिसे मैं कभी न कर पायी परिभाषित
उसे कौन - सा दे पायी सम्बन्ध।" (पृ-66, म.प्र.)

चारों ओर लोगों के रहने पर भी जैसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, जैसे भाव द्रौपदी के मन में उठते हैं वैसे ही भाव आत्मजयी के नचिकेता में भी देखे जा सकते हैं ---

"ऐसे लगता है कि मेरे चारों ओर
--- --- ----
लोग हैं सम्बन्ध नहीं ---- " (पृ-52, आत्मजयी)

जिस पर दक्ष पूछते हैं वीरिणी से कि

"क्या सम्बन्धों का निर्माण/ घृणा पर/ हठ पर
और अनिच्छा पर भी संभव हो सकता है।" (पृ-12, एक कंठ वि.)

जिस पर वीरिणी कहती है कि लौकिक सम्बन्धों में इच्छा और अनिच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं होता है। किसी विवश क्षण से जुड़ते जाते हैं हम, यों ही फिर---

"उससे सम्बन्ध आप ही हो जाते हैं।" (पृ-12, एक कंठ वि.)

राम यह नहीं समझ पाते कि क्यों उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध ऐतिहासिक बन रहे हैं। वे कहते हैं ---

"व्यक्तिगत मेरी समस्याएँ
क्यों ऐतिहासिक कारणों को जन्म दें
राम के कारण/ भरत जैसा सौम्य/ निर्वासित हो।"
(पृ-29, संशय की रात)

कभी - कभी अस्वीकृति भी अटूट बन्धन में बदल जाती है। कनुप्रिया की राधा अपने कनु को प्रणाम करना भी छोड़ देती है और दिन पर दिन बीतते चले जाते हैं। वह कहती है ---

"पर मुझे क्या मालूम था कि वह अस्वीकृति ही
अटूट बन्धन बन कर --" (पृ-16, कनुप्रिया)

लेकिन ये अटूट बन्धन बाहरी होते हैं। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर समझाते हैं द्रौपदी को कि सम्बन्ध केवल बाहरी होते हैं ---

"सुदूर में देखो -- / कहीं कोई लौटता हुआ मार्ग है?
सम्भवत: कोई पगडण्डी भी नहीं
सम्बन्ध, दिखायी देने का होता है कृष्ण "(पृ-79, म॰प्र॰)

द्रौपदी भी यही अनुभव करती है, जब वह देखती है कि हिमपथ पर उसकी सहायता हेतु कोई नहीं आता। वह युधिष्ठिर से कहती है कि उसका नारीत्व, मातृत्व सब व्यर्थ हो गया है और अब ---

"हिम का यह अभेद्य/ धारदार ठण्डापन
सह-यात्रा के सूत्र काट रहा है।" (पृ-86, म॰प्र॰)

जबतक मनुष्य जीवित है उसके सम्बन्ध बने रहते हैं। लेकिन मृत्यु पर्यन्त उसके बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहते। आत्माओं को सांसारिक मोह नहीं रहता। जटायु कहते हैं ---

"हम आत्माएँ हैं/सम्बन्धहीन,बोधहीन आत्माएँ।"
(पृ-69, संशय की रात)

5·1· पति - पत्नी सम्बन्ध :---

भारतीय समाज में पति पत्नी का सम्बन्ध एक अनोखा लेकिन बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। पत्नी को इन सम्बन्धों को निभाने के लिए क्या कुछ नहीं सहना पड़ता।

डॉ· शिवराज गोयल के अनुसार नारी लता को अपने प्रेम का आश्रय न देकर उदारतापूर्वक स्वच्छंद बना देने में पति का कोई दोष नहीं यदि असंमयमशीला होने देने के लिए वह दोषी है तो असंयमशीला होने देने में पति का भी दोष है और फिर यदि नारी भटक भी गई तो पति का उसे संभालने के स्थान पर त्याग देना कहाँ तक उचित है? वह समझती है कि असंयमशीला के कारण हुई मेरी दुर्गति में पति का भी भाग है।(2) मांझी होते हुए भी पत्नी रूपी नौका को मझदार में छोड़ देना क्या उचित है।

"अब जो/ मेरी दुर्गति है/ इसमें तुम भी साथी हो
धारा मध्य छोड़ मुझे नौका सी
तुम/ तट पर खड़े हुए मांझी हो।"(पृ-28, आत्मदान)

और आखिर में वह अपने पति राम से प्रश्न करती है प्रवाद पर्व में--

"हम या/ हमारे ये सम्बन्ध/कब अर्थ रखते थे।" (पृ-71,प.पर्व)

इतना होने पर भी पत्नी अपने पति का किसी दूसरे से अपमान को सह नहीं पाती। एक कंठ विषपायी काव्य में सती अपने पति की अनिच्छापूर्ण अनुमति से यज्ञ में आ तो जाती है पर पति अपमान को सहन नहीं कर पाती। वह कहती है कि यह उसका घर है। इसलिए उसके लिए कोई विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं, पर संकट के लिए--

"---- मेरे महादेव शंकर का स्थान/वहाँ
सर्वोपरि आसन के निकट रहे।" (पृ-31, एक कंठ विषपायी)

सती उपस्थित लोगों के सम्मुख दृढ़ सम्बन्ध का परिचय देना चाहती है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वह शरीर त्याग से देती है। वीरिणी इन सम्बन्धों के प्रति अपनी आस्था एवं निष्टा को व्यंजित करती है ---

"पत्नी का मान/ नाथ/ पतियों की एक सहज आकांक्षा होती है
(पृ-29, एक कंठ विषपायी)

निष्कर्ष:---

व्यक्ति के जीवन में सम्बन्ध बहुत अहम् स्थान रखते हैं। क्योंकि सम्बन्ध जोड़कर ही वह अपना परिवार, समाज बनाता है और उन सबकी उपस्थिति में अपना अस्तित्व कायम करता है।

5•2• प्रेम :---

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार बाह्य रूप की स्थूलता का अतिक्रमण करके ही हम एक अन्तरीम व्यक्तित्व की ओर ले जाते हैं। सहवास-सुख के महत्वपूर्ण क्षणों में हमें अपने प्राप्तव्य का वरदान मिल जाता है। नारी-नर को छूकर तृप्त नहीं होती और न नर-नारी को छूकर संतोष प्राप्त करता है। ऐसी कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती है और जब वे मिल जाते हैं। तब भी उनके भीतर ऐसी तृष्णा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है। नारी के भीतर एक और नारी होती है, जो अगोचर है। इस नारी का संधान पुरुष तब कर पाता है, जब शरीर की धारा उछालते - उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है। जब दैहिक चेतना से परे होकर प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्सपंद हो जाता है और पुरुष के भीतर भी एक पुरुष होता है जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग - संज्ञा के पार पहुँचना चाहती है।§3§

प्रथम विश्वयुद्ध की भयानकता ने मानव मूल्यों को भी खंडित कर दिया। फलस्वरूप नर - नारी की यौन - भावना पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा। युद्धोपरान्त "मृत्यु की दहशत और सम्भावनाओं ने जिंदगी की क्षण - भंगुरता की ओर संकेत किया। इस हादसे से डरे हुए व्यक्तियों ने कम समय में अपनी पूरी जिन्दगी का सुख-सहवास में बाँटने का प्रयास किया। फलत: नर-नारी द्वारा यौन समागम के लिए सामाजिक वर्जनाओं को अस्वीकार कर दिया गया। वे स्वच्छन्द और उच्छृंखल हो उठे। युद्धोत्तर आर्थिक लंगड़ापन ने व्यक्ति को बौना बना दिया, जिससे कि वे पारिवारिक मर्यादा को अक्षुण्ण नहीं रख सके।

डॉ॰सुषमा भटनागर के अनुसार अस्तित्ववादी दृष्टि से प्रेम एक विचित्र स्वतोव्याघातपूर्ण स्थिति से युक्त सम्बन्ध है। मनुष्य अस्तित्व की पहचान के लिए किसी दूसरे का चुनाव करता है। परन्तु एक बिन्दु पर पहुँचकर उसे अनुभव होता है कि दूसरा व्यक्ति अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करते हुए अपने अस्तित्व को नितान्त निजी ढंग से गढ़ रहा है और इस प्रकार उसका निजत्व निष्क्रिय रूप से पलातक हो रहा है।﴾4﴿

सार्त्र भी यही मानते हैं कि जितना अधिक मुझसे प्रेम किया जाता है उतना अधिक मैं अपने अस्तित्व को खोता हूँ।﴾5﴿

इसका दूसरा आयाम यह है कि अस्तित्व की पहचान बनाने की प्रक्रिया में मनुष्य दूसरे को आत्मसात करने का प्रयत्न करता है--"अपने को पाने की योजना दूसरे को आत्मसात कर लेने की होती है।﴾6﴿

स्पष्ट है कि दूसरा पूर्णत: आत्मसात नहीं हो सकता। क्योंकि उसका भी अपना निजत्व होता है। निजत्व के अभाव में अस्तित्व - प्रेम की इच्छा पूर्ति नहीं होती और निजत्व की उपस्थिति में निर्द्वन्द्व प्रेम सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता।

इसका तीसरा आयाम यह है कि प्रेम एक भ्रम पर आधारित है। सार्त्र के अनुसार प्रेम करने का अर्थ है। प्रेम किए जाने की इच्छा करना, अर्थात् यह अपेक्षा करना कि दूसरा यह इच्छा करें कि मैं उसे प्रेम करूँ - इस प्रकार यह एक आदर्श स्थिति हो जाती है। जिसमें मनुष्य दूसरे की चेतना को इस सीमा तक आत्मसात करना चाहता है कि वह सर्वथा उसके अनुरूप हो जाए जैसा कि प्राय: सम्भव नहीं हो पाता। काफ्का ने अपनी डायरी में इसी संघर्ष को अपनी सुपरिचित जटिल शैली में प्रस्तुत किया है ----

"तुम मुझे प्रेम नहीं कर सकती जितना कि तुम चाहती हो, दुर्भाग्य से तुम मेरे प्रति प्रेम से प्रेम करती हो, परन्तु मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम तुमसे प्रेमासक्त नहीं।﴾7﴿

अस्तित्ववाद प्रेम को मानवीय चेतना के अनिवार्य तत्व के रूप में उपस्थित करता है। वह शरीर को प्रेम का आधार मानता है। वस्तुत: शरीर ही वह उपकरण है, जिससे प्रेम की चेतना को एक आधार मिलता है।

स्वामी विवेकानन्द प्रेम के सम्बन्ध में कहते हैं कि प्रेम से अलौकिक शक्ति मिलती है। प्रेम से भक्ति उत्पन्न होती है। प्रेम ही ज्ञान देता है और प्रेम ही मुक्ति की ओर ले जाता है। यह निश्चय ही उपासना है। क्षणभंगुर मानवी शरीर में यही ईश्वर की उपासना है। यही एक वस्तु है जो समस्त दु:खों को दूर कर लेती है। प्रेम में किसी प्रकार का भय नहीं रहता। "प्रेम" ही जीवन है।﴾8﴿

यही तो किलोपट्रो भी अपने पत्र में सीता से कहती है कि प्रेम एक आंतरिक शक्ति है, जो रंग - रंग में नया उत्साह भर ---

"प्रेम आन्तरिक शक्ति - नये उत्साह रक्त से
रंग-रग को आन्दोलित करती।" ﴾पृ-66, इ·पु·﴿

कनुप्रिया राधा को भी कुछ ऐसा ही अनुभव होता है। साहचर्य -जनित प्रेम में सबसे पहले प्रेमानुभूति की कैशोर्य जिज्ञासा कृष्ण में जागती है। वह राधा का आह्वान करता है। राधा कहती है वह तो उसके जीवन से अविच्छिन्न और अभिन्न रूप से कब से जुड़ी है। परन्तु उसके आह्वान से ऐसा लगता है कि अब उसे अपने अस्तित्व का अनोखा भान कराने का समय आया है। आज तक वह ﴾राधा﴿ उसके ﴾कृष्ण﴿ के﴿ लिए

स्वयं को मिट्टी में मिलाकर भी उसके जीवित रहने की प्रेरणा जुटानी आयी है। परन्तु अब समय आया है कि वह अपने अस्तित्व को नया आयाम दे----

और अब समय आ गया कि
मैं तुम्हारी नस-नस में पंख पसार कर उड़ूँगा।"§पृ-12, कनुप्रिया§

कृष्ण से प्रेम संकेत पाकर राधा को एक अपुर्व अनुभूति होती है। उसे लगता है मानो उसके शरीर का रोम - रोम प्रेमी के अस्तित्व से भर गया है। उसको अपनी शरीर - वीणा की तार- तार से प्रिय संगीत झंकृत होता सा अनुभव होने लगता है ---

"यह जो अकस्मात/आज मेरे जिस्म के सितार के
एक - एक तार में तुम झंकार उठे हो।"§पृ-16, कनुप्रिया§

प्रेम के भावनात्मक राग का प्रसार प्रेम करने वाले के समूचे व्यक्तित्व और उसकी चेतना में आमूल परिवर्तन कर देता है। प्रिया के जीवन - क्रम और दूर रहने पर उसके अनिष्ट की आशंका प्रेमी - व्यक्ति के मानस-पटल पर अनगिनत संशयों और भयपूर्ण बिम्बों को निर्मित करती है। और इस प्रेमानुभव की मर्मान्तिक व्याकुल चेतना उनसे मानवीय व्यक्तित्व में अनवरत उद्वेलन को जन्म देती है। इसलिए कनु यह नहीं चाहता कि उसको कनुप्रिया चारों ओ व्याप्त हो बल्कि वह अपने लिए उसे सिमट लेना चाहता है---

"मुझे लगा कि इस निखिल पारावार में
शक्ति - सी, ज्योति सी, गति सी
फैली हुई मैं/ अकस्मात् सिमट आयी हूँ।"§पृ-839, कनुप्रिया§

प्रेम में आबद्ध प्रेमिका के लिए देश और काल का कोई महत्व नहीं रह जाता है। कृष्ण की अनुरक्ति में राधा के समक्ष सृष्टि नहीं रह गयी। प्रेम की बेसुध मनस्थिति में उसे प्रतीत होता है जैसे सम्पूर्ण सृष्टि लय हो गयी है--

"----- गहरे प्यार के बाद/
थककर तुम्हारी चन्दन बाहों में
अचेत बेसुध हो जाती हूँ
यह निखिल सृष्टि लय हो जाती है।"§

लेकिन क्लिओपेट्रा को यह सब प्राप्त नहीं हुआ या कहा जाए कि उसे प्रेम के इस ढंग में विश्वास नहीं तभी तो वह कहती है कि प्रेम उसके लिए केवल प्रणय की सेवा या चाह का समर्पण या फिर आकुलता ही नहीं और न ही --

"देह के तीखे - मीठे कुछ संवेदन
उष्मित चुम्बन, उन्मादन आश्लेष और फिर
विस्मृति के बेरूपरंग - क्षण।"§पृ-64,इ·पु§

बल्कि वह चाहती है कि प्रेमिका को प्रेमी के दिलोदिमाग पर छा जाना चाहिए और यही गूढ़ प्रेम होता है - सीता के नाम पत्र में वह कहती है ---

"प्रेमिक के मन-बुद्धि-हृदय पर गर्वित शासन
यही प्रेम सुख और चरम उसका चरितार्थन"§पृ-66·इ·पु§

कनुप्रिया के अधरों,पलकों,बाहों, चरणों, अंग-प्रत्यंग संक्षेप में सारी चम्पकवर्णी देह को कनु मात्र पगडंडियाँ मानते हैं, जो चरम साक्षात्कार

के क्षणों में रहती नहीं रीत - रीत जाती है। कनु के इस कथन का आधार शरीर और चेतना का सम्बन्ध है। कनुप्रिया उसे अधिक स्पष्ट करती हुई मुक्ति से जोड़कर कहती है--

"मुझे ऐसा लगा है/जैसे किसी ने सहसा इस जिस्म के बोझ से
मुझे मुक्त कर दिया है। "§पृ-30, कनुप्रिया§

कनुप्रिया के कनु सृष्टि के निर्माता है उनकी असंख्य सृष्टियों में कनुप्रिया अपना प्रगाढ़ प्यार ढूँढती है -- यह असंख्य सृष्टियों का कारण है कि इनकी पीड़ा अतृप्त है। इसलिए यह पुनरावृत्ति है।

"तुम्हारी असंख्य सृष्टियों का क्रम
महज़ हमारे गहरे प्यार/प्रगाढ़ विलास
और अतृप्त क्रीड़ा की अनन्त पुनरावृत्तियाँ।"§पृ-46, कनुप्रिया§

वास्तविक प्रेम बाह्य सौंदर्य नहीं देखता, उसके लिए आत्मिक सौंदर्य आवश्यक है यही इतिहासपुरुष काव्य में नूरजहाँ कहती है। शहंशाह जहाँगीर के संबंध में --

"प्रेम के अमृत आवेश को ठीक-ठीक नहीं जाना
सच यह कि तुमने प्यार मुझ से नहीं, मेरे रूप और यौवन की
शराब से प्यार किया।"§पृ-71, कनुप्रिया§

और जब प्रेम सफल नहीं हो पाता तो वह उसके लिए एक खूबसूरत ख्वाब बन जाता है। इतिहास पुरुष में नूरजहाँ कहती है ---

"शायद जिन्दगी एक अंधेरी, दिलचस्प भूल भूलैया है
और प्रेम एक खूबसूरत ख्वाब।"§पृ-82, इ•पु•§

निष्कर्ष:---

प्रेम एक ऐसा मूल्य है जो मानव में नयी गति लाता है, उसे अधिक उत्साही तत्पश्चात् अधिक चेतनता भरता हुआ अस्तित्व कायम करने का एक माध्यम बनता है।

5·3· चिन्ता :---

डॉ·श्यामसुन्दर मिश्र के अनुसार वर्तमान जीवन की विपरीतता और स्थितियों की विद्रूपता केवल आज की वेदना नहीं है, अपितु भविष्य की चिन्ता भी है। मानवीय अस्तित्व का प्रारूप संभावनात्मक होता है। वह कभी भी पूर्ण नहीं होता। वैयक्तिक अस्तित्व "वह क्या होता" के रूप में ही प्रकल्पित होता है। चिन्ता अस्तित्व के प्रारूप का वह गठन है जो वर्तमान और भविष्य के संभावनात्मक रूपों का स्वरूप अंकित करता है। चिन्ता विशिष्ट सन्दर्भ में व्यक्ति की सम्बन्ध चेतना का प्रकटीकरण है। मानवीय अस्तित्व सम्बन्ध चेतना के धरातल पर समाज को प्रभावित करता है, और समाज से भाव ग्रहण करता है। अस्तित्व को व्यक्त करनेवाली परियोजनाओं और कार्यक्रमों का सम्पादन दूसरों की उपस्थिति में विश्व के भीतर ही सम्भव है। व्यक्ति के चारों ओर बिखरा हुआ विश्व अंतत: उसके अस्तित्व का निर्माता है।(1)

व्यक्ति जबतक चिंता का निवारण नहीं कर लेता वह अशांत रहता है। सम्राट भूपति को जब यह ज्ञात होता है कि ऋषि श्रृंग के आने पर ही आया हुआ संकट टलेगा तब भी वे चिंतित रहते हैं कि ऋषि श्रृंग आयेंगे के नहीं और इस चिन्ता के सागर में डूबे हुए वे अपने अन्त:पुर चले तो जाते हैं लेकिन---

"उस रजनी में प्रजा हेतु दोनों न सो सके चिंतित।"
§पृ-52, इ•पु•§

लेकिन मानव एक विवेकवान प्राणी है और वह दीर्घ मनन और चिंता से कितने ही टेढ़े मेढ़े रास्तों को पार कर लेता है - क्लिओपेट्रा कहती है। इतिहास पुरुष काव्य में ----

"टेढ़े - सीधे जीवन के बहुपन्थ पार कर
दीर्घ मनन-चिन्ता से पाता यह विवेक नर"।§पृ-69,इ•पु•§

यही कारण है कि लक्ष्मण भी अपने भाई राम के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ नहीं देख पाते वे कहते हैं ---

"बहमलेख को भी मैं/बाणों की चुनौती हो देता
यदि/ राम के माथे पर बनता/चिंता की रेखा।"
§पृ-22, संशय की रात§

क्लिओपेट्रा भी इसी प्रकार से चिंतित होती है सीता के लिए। उसे सीता की स्थिति पर दुख होता है। क्योंकि कुछ भीतर के कुढ़न क्लेश तो कुछ आश्रित-जन की क्षुब्ध भावना। वह कहती है ---

"वरना क्या चिन्ता करती मैं उस बड़बोली
मूर्ख तापसी की जिसने दफनाये शव की
तिक्तगन्धिनी पेटी खोली।"§पृ-62, इ•पु•§

इसी प्रकार से नचिकेता की चिन्ता अमर जीवन की चिन्ता है। अमर जीवन से तात्पर्य इन अमर जीवन-मूल्यों से है, जो व्यक्ति का अतिक्रमण करके सार्वकालिक और सार्वजनिन बन जाते हैं। आत्मजयी काव्य में

अपने पिता के सम्बन्ध में वह कहता है जो चिन्ताओं से परे है, निश्चिन्त हैं।

"वे जिन्हें मेरी चिन्ता थी/अब निश्चिन्त हैं
शायद इसीलिए अब/मेरे प्रयत्नों की दिशाएँ अनंत हैं।
(पृ-50, आत्मजयी)

निष्कर्ष:---

चिन्तित मानव जीवन में कुछ भी हासिल नहीं कर सकता। उसे अपने विवेक से चिन्ता का निवारण करना है और तभी वह निश्चिन्त होकर समाज में अपना अस्तित्व कायम कर सकता है।

5.4. घृणा :---

जहाँ एक दूसरे की स्वतन्त्रता स्वेच्छया हस्तगत करने का या देने का भाव नहीं है। वहाँ दो अस्तित्वों के संघर्ष का रूप आता है। इसके नानाविध सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप होते हैं। संसार में मनुष्य अपने अस्तित्व को पूर्णत: "बचा" कर यानी दूसरे अस्तित्वों द्वारा अपने अस्तित्व को पदार्थ बनाये जाने की प्रक्रिया से बचाकर, नहीं रह सकता। सारे अस्तित्व पदार्थ बने एक के लिए वह निरंकुश शासक की तरह किसी प्रयोजन पदार्थ न बने यह स्थिति आत्म वंचना है और बहुत दूर तक नहीं चल सकती। ऐसे ही स्वभाव का व्यक्ति दूसरे के अस्तित्व या स्वातन्त्रता को वशीभूत न बना सकने के कारण उसका विनाश चाहता है। यह "घृणा" है। घृणा एक मलिन भाव है, क्योंकि इसकी प्रक्रिया में दूसरे की स्वतन्त्रता पर

आघात किया जाता है। और हम एक दूसरे की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

कोई व्यक्ति ईर्ष्या और द्वेष के कारण किसी से घृणा करने लगता है। यह एक वैयक्तिक प्रक्रिया है किन्तु इसके दो पक्ष हैं। जो घृणा करता है, उससे भी घृणा की जा सकती है। अर्थात् घृणा अपने आप में भी घृणा की वस्तु है। वह जिस वातावरण में रहता है उससे ताल - मेल नहीं बैठ पाता। उसकी आकांक्षाएँ अधूरी रह जाती है और पूरे परिवेश के प्रति उसके मन में घृणा का भाव पैदा हो जाता है।

अस्तित्ववादी दर्शन किसी भी स्थिति में स्थिरता का कोई बिन्दु स्वीकार ही नहीं करता। इसलिए उसकी दृष्टि में जीवन एक संकट है, जिससे उत्पन्न होनेवाली घृणा को व्यक्ति आत्मचेतना के विद्रोहात्मक स्वरूप से ठुकरा कर ही कोई मार्ग पा सकता है।

वह व्यक्ति जो सत्य पर खड़े रहते हुए भी सभी के लिए घृणा का पात्र बनता है तो यह उसका दुर्भाग्य नहीं तो और क्या होगा। युयुत्सु कौरव होते हुए भी कृष्ण और पांडवों का साथ देते हैं और सबके लिए घृणा का पात्र बनते हैं। युयुत्सु कहते हैं ऐसे कृष्ण कि जय हो जिसमें वे बाधक हैं----

"मातृवंचित हूँ। सबकी घृणा का पात्र हूँ।।"(पृ-61, अंधायुग)

और जिस व्यक्ति के प्रति हमें घृणा होती हैं उसके संबंध में हम कुछ सुनना ही नहीं चाहते। शंकर को भी एक कंठ विषपायी में उन सभी चीज़ों से, देवताओं से घृणा हो जाती है जो सती के मृत्यु के मूल कारण हैं-उनके प्रति बड़े ही घृणित स्वर में शंकर कहते हैं ---

"जो इस परिस्थिति का / नाथ है, नियन्ता है
मैं उसको क्षमा नहीं कर सकता ।" §पृ.87, एक कंठ वि.§

एक ओर शंकर को उन सभी से घृणा है जो सती की मृत्यु के कारक हैं तो दूसरी ओर सर्पहत जो राजा दक्ष के राज्य में हुए सर्वनाश के प्रतीक हैं । भूख के कारण जब उन्हें कुछ खाने को नहीं मिलता क्योंकि सब कुछ नष्ट हो गया होता है वे अपनी प्यास बुझाने के लिए रक्त माँगते हैं, जिसके कारण सभी उनसे नफरत करते हैं । वह पूछता है ----

" --- सभी मुझे देखकर घृणा से थूक देते हैं
मुझे मार डालने के लिए लपकते हैं / पर मेरा दोष क्या है ?
§ पृ. 114, एक कंठ विषपायी §

इसी तरह से शम्बूक काव्य में शम्बूक भी राम से घृणा करते हैं । क्योंकि एक राजा होते हुए राम ने भी किसी काल्पनिक बात को महत्व दिया, उसको सच माना, वे कहते हैं राम से कि राम के पक्ष में जो भी हो और कुछ करे अन्याय वे मौन रहेंगे । शासकों को सदा इसकी सुविधा रही है । लेकिन जिसके कारण प्रजा को बड़ी दुविधा रही है ---

"मारते हो और कहते हो इससे उद्धार
चलेगा कब तक तुम्हारा यह घृणित व्यापार ।" § पृ.53, शंबूक§

जिस व्यक्ति के प्रति घृणा होती है । दृष्टि भी उसी रूप में कार्य करती है । इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष कहते हैं ---

"घृणादग्ध आँखों से देखते परस्पर वे / शीतयुद्ध सेनानी ।"
§ पृ. 36, इतिहास पुरुष §

लेकिन मानव को इन भावनाओं को परे रखना है। क्योंकि यह विनाश की ओर ही ले जाती है। कल्पांतर काव्य में जन्मोहन कहता है मानव से कि वह अपने कल्प को परिवर्तित करे ---

"संदेह, घृणा की अंधी दौड़ों के कारण/होगी विनष्टा"
(पृ-100, कल्पांतर)

निष्कर्ष:--

घृणा से हमारा "स्व" गलत मार्ग पर हावी होता है। इसलिए इससे हमें दूर ही रहना होगा।

5.5. इच्छा:--

डॉ.अवधनारायण त्रिपाठी अपनी "नयी कविता में वैयक्तिक चेतना" में कहते हैं कि व्यक्ति का अस्तित्व व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। उसके अस्तित्व पर पूर्व कर्म - फल, धर्म या नियति का कोई अंकुश नहीं है। इसके अंतर्गत व्यक्ति स्वयं अपना भाग्य निर्माता है। वह जैसा चाहता है अपने को बनाता है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व भाग्य पर निर्भर नहीं है वह किसी भी परिणाम के लिए परिस्थितियों की दुहाई न देकर स्वयं अपनी दुहाई देता है।(10)

यही तो आत्मजयी काव्य में नचिकेता को यमबोध कराते हैं कि व्यक्ति को इच्छाओं से अनुशासित नहीं होना चाहिए। क्योंकि व्यक्ति देह का दास ही नहीं बल्कि स्वामी भी है ---

"मुक्त अनुशासक भी है इच्छाओं का
लक्ष्यहीन ऐन्द्रिय विचरण तो
साधन का उपयोग नहीं-उपभोग मात्र है।" §पृ-87, आत्मजयी§

इसलिए नचिकेता को अपने पिता वाजश्रवा पर क्रोध आता है। क्योंकि दुर्वासा के कारण उनकी इच्छाएं गलत दिशाएं अपनाती हैं। नचिकेता कहते हैं --

"तुम्हारे इरादों में हिंसा/खंग पर रक्त
तुम्हारे इच्छा करते ही हत्या होती है।" §पृ-21, आत्मजयी§

आत्मजयी के नचिकेता को अपने पिता के प्रलोभनों को देख कर ऐसा अनुभव होता है --

"रक्त में गूंज है इच्छाओं की, परन्तु
हर चेहरा कमियों से परिपूर्ण।" §पृ-47, आत्मजयी§

ऐसी इच्छाएं नागपाश की तरह मानव को जकड़ लेती है। अगर नारी हो, तो नारी के पहले पैर भटकते हैं। अहल्या आत्मदान काव्य में इच्छा का स्वरूप प्रतिपादित करती है।

"जो कसता है अपने नागपाश में पहल/फिर धीरे - धीरे
पैर भटकते हैं नारी के/इच्छाएं बढ़ती हैं वेग से/
बेलों जैसी ।" §पृ-34, आत्मदान§

अहल्या को ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि चारों ओर एक माया जाल फैलाया गया है। शायद यह किसी पुरुष की इच्छा शक्ति है, जो इस रूप में प्रवेश कर रही है। लेकिन फिर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं यह मन की छलनाएं तो नहीं है।

"यह इच्छाएँ भोग परक हैं, तन की
यह किसी पुरूष की शक्ति ही है
इच्छा के शर पर सवार।" -¥पृ-3, आत्मदान¥

और इन्द्र मिलन के समय जैसे इच्छाएँ बढ़ती ही जा रही थीं। और ऐसा लग रहा था जैसे सबकुछ थम गया हो। इसी विषय पर जोर देते हुए डॉ॰मथुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ प्रकर में कहते हैं। अहल्या स्वयं रात्रि है, रात्रि में बढ़ती हुई ठोकरों, कठोरताओं के मध्य भी जीवन का अंत नहीं होता। और वह अनुभव करती है कि वह दोहरी जिन्दगी जी रही है। उसके अन्दर की और बाहर की नियति में भिन्न दिशाओं में गतिशील है।"¥1।¥

"निर अस्तित्व हो दिशा/ दिशा में लीन हुई जाती थी।"
¥पृ-8, आत्मदान¥

कुछ ऐसा ही हाल था कनुप्रिया का भी जो कनु के सहवास में उसका हृदय उतना ही विकसित था जितना पिया के हृदय की विकसितता अपेक्षित होती है। किन्तु राधा का वही हृदय कनु के अभाव में इतना उदात्त एवं विश्वव्यापी हो जाता है कि वह अपने ही बिछड़े कनु के साक्षात रूप का दर्शन अपने ही हृदय के शुद्ध धरातल पर कर सकने में समर्थ हो जाती है। कनुप्रिया में वह कहती है कि कनु इच्छामय है। सृष्टि का आदि और अंत, सृजन और विनाश उसी की इच्छा है उसी का संकल्प है। अपने सम्बन्ध में वह कहती है कि वह इच्छामय की इच्छा का अर्थ है।

"तुम्हारे सम्पूर्ण सृष्टि का अर्थ है/मात्र तुम्हारी इच्छा
और तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा का अर्थ है
केवल मैं/ केवल मैं!! केवल मैं!!!" (पृ-

कनुप्रिया पूछती है कनु से कि यह सृजन विनाश यह सब उनकी इच्छा के कारण ही है तो यह इच्छा का क्या अर्थ है ---

"तो ज़रा यह तो बताओ मेरे इच्छामय।
कि तुम्हारी इस इच्छा का/इस संकल्प का
अर्थ कौन है?" (पृ-44, कनुप्रिया)

अरविंद के अनुसार मानव को अपनी इच्छा में मत मत होओ, अपने कार्य को अहंकार द्वारा चालित मत होने दो। व्यक्तिगत अधिकार के लिए लोलुपता मत रहने दो व्यक्तिगत पसन्द के प्रति आसक्ति मत रखो (12)

इसलिए संशय की रात के राम वैयक्तिक इच्छा के स्थान पर सामूहिक इच्छा को महत्व देते हैं। हनुमान अभियान की आज्ञा मांगते हैं तो राम कहते हैं ---

"परिषद की इच्छा"। (पृ-93, संशय की रात)

शासनकर्ता की आज्ञा के अनुसार उनकी इच्छा के अनुसार ही कार्य किया जाता है। एक कंठ विषपायी काव्य में राजा दक्ष से अनुचर कहते है। सारे आमंत्रित ऋषि, देव और राजप्रमुख, समुचित सत्कार तथा सुविधा के साथ यज्ञ मंडल में पहुंचा दिए गए हैं। वह कहता है ---

"प्रभु की इच्छानुसार/यथायोग्य।" (पृ-23, एक कंठ विषपायी)

राज्य व्यवस्थाएँ ऐसी ही होती हैं। जहाँ शासक आज्ञा देता है और अनुचर को उन आज्ञाओं का, उनकी इच्छाओं का पालन करना होता है। सर्वहत जो राजा दक्ष के राज्य में राजा दक्ष का अनुचर है वह घटित घटनाओं के संदर्भ में कहता कि यह सब एक नाटक है, जिसे देखने या जिसमें भाग लेने का उनको कोई अधिकार नहीं। वह तो केवल--

"निर्देशक की इच्छाओं का अनुचर था
मात्र भृत्य।" §पृ-48, एक कंठ विषपायी§

जब मनुष्य स्वतंत्र नहीं होता तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि काश वह पक्षी होता तो फुर्र से उड़ जाता है या काश वह मछली होता तो यह जल का भार कुछ हल्का होता और न ही भयानक बेड़ियों सा यह प्रतीत होता। नचिकेता की यही स्थिति है। अचेतावस्था में जब चारों ओर का जल बढ़ता ही जा रहा है तब --

"यह बलवती इच्छा/ कि मछली हुआ होता।"§पृ-63,आत्मजयी§

निष्कर्ष:—

संसार में जो कार्य - कलाप देखते हैं मानव-समाज में जो गति है, चारों ओर जो कुछ घट रहा है वह सब केवल मन का ही खेल है— मनुष्य की इच्छा शक्ति का प्रकाश मात्र है।

5·6· प्रश्न :--

अस्तित्ववादी व्यक्ति लकीरों के फकीर नहीं बनते। उसका अपना अस्तित्व होता है। वे झुंड में या फिर सिर झुकाकर कार्य करते नहीं चले

जाते। वे प्रश्न करते हैं और जब तक वे सन्तुष्ट नहीं होते वे वह कार्य नहीं करते।

नचिकेता अपने पिता के कृत्यों को सहन नहीं करता। वह अपने पिता से लगातार प्रश्न करता है और उसके पिता उसे विद्रोही के रूप में देखते हैं। वह कहता है---

"तुम्हारी दृष्टि में मैं विद्रोही हूँ
क्योंकि मेरे सवाल तुम्हारी मान्यताओं काउल्लंघन करते हैं।"
(पृ-23, आत्मजयी)

यह कैसी विडंबना है कि आज का मनुष्य क्या, कैसे एवं कहाँ जैसे प्रश्नमूलक शब्दों में आबद्ध है। इसकी पुष्टि नचिकेता करते हैं आत्मजयी में ---

"जीवन क्या है/मृत्यु क्यों
मुक्ति कैसे/ ईश्वर कहाँ?"(पृ-118, आत्मजयी)

डॉ•हरिचरण शर्मा के अनुसार "नचिकेता" के मानस में उठनेवाले प्रश्न आधुनिक व्यक्ति की मानसिक भूमि पर उठनेवाले बौद्धिक प्रश्नों से मेल खाते हैं।(14)

जन्म से ही उपेक्षित अस्वीकृत नचिकेता जब मानव अस्तित्व के मौलिक प्रश्नों को उठाता है, तब वह कठोर, आत्मसंघर्ष की भूमिका पर होता है। कहना यह है कि नचिकेता जिसका न अतीत है। न भविष्य यथार्थ जिसके लिए एक "घर" है। वह सरल प्रलोभनों का निषेध करता हुआ सार्थक जीवन दृष्टि की ओर देखता है, जीवन को कोई अर्थ देना चाहता है।

नचिकेता के मन में जैसे मौलिक प्रश्न उठते हैं। उसी प्रकार से अहल्या के मन में भी गौतम ऋषि की तपस्या को देखकर लगातार प्रश्न उठ रहे हैं। उसे लगता है कि हवा भी उसी से टकराती हुई उसीसे प्रश्न कर रही है कि यह कब तक ---

"एक ही प्रश्न गूँजता बार-बार
तप! तप!! तप!!!/आखिर कब तक--?" ॥पृ-5,आत्मदान॥

जिस प्रकार से अहल्या प्रश्न करती है अपने आप से उसी प्रकार से महाप्रस्थान के युधिष्ठिर कहते हैं भीम से जब एक - एक कर सब स्वाहा हो जाते हैं। और वे दोनों ही बच जाते हैं कि जब यात्रा प्रारंभ की है तो पूरी करनी ही है चाहे चलकर उसमें टूट कर इसलिए अब वे प्रश्न न करने को कहते हैं --

"किसी भी प्रकार के प्रश्न/ मत करो
बिना किसी समाधान के
यदि अपने से ही जिज्ञासा कर सकते हो/ तो करो।"
॥पृ-129,महाप्रस्थान॥

और इन्हीं प्रश्नों के समुंदर में राम को छोड़ चले जाते हैं लक्ष्मण। राम भाद्रपदी वृष्टि से कहते हैं उन्हें इतना भीग जाने दो कि आत्मा भी भीग जाये जहाँ केवल प्रश्न ही प्रश्न हैं ---

"उस आत्मा तक/ जो खंडित है/जहाँ केवल/
क्या हो/क्या न हो के प्रश्न ही प्रश्न हैं।" ॥पृ-33,संशय की रात

इसे देख ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि एक सीमा के बाद प्रश्नों का उत्तर नहीं। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से ---

"सम्भवता एक सीमा के बाद/प्रश्न का उत्तर भी
प्रति प्रश्न ही होता होगा।"(पृ-102, म॰पृ॰)

क्योंकि उनका कोई उत्तर नहीं होता और उसके लिए प्रश्न करने का कोई अर्थ नहीं होता। संशय की रात काव्य में राम के पिता छाया के रूप में प्रस्तुत होकर कहते हैं कि सृष्टि से प्रश्न करने का कोई अर्थ नहीं क्योंकि वह तो गुण - धर्म है ---

"इन सबसे प्रश्न करो/ उस उत्तर के लिए
जो कहीं नहीं था//जो कहीं नहीं है/ जो कहीं नहीं होगा।
(पृ-68, संशय की रात)

अत: वे अपने विवेक से प्रश्न न करने को कहते हैं ---

"उत्तर नहीं प्रश्नों के/ केवल प्रलोभन हैं
अपना विवेक सौंप देने के लिए/ केवल प्रलोभन हैं।"
(पृ-105, संशय की रात)

इतना होने के बाद भी राम को प्रश्नों ने घेर रखा है वे लक्ष्मण से कहते हैं इस उपकार के बदले कृतज्ञ हूँ। किन्तु अपनी दृष्टि में ही मैं अपात्री लग रहा हूँ --

"इतने प्रश्न/शंका और कुशंकाएँ
मुझे घेरे हुए हैं।" (पृ-29, संशय की रात)

जिसे देख लक्ष्मण चिढ़ जाते हैं। वे कहते हैं ---

"क्या इस प्रश्न के/हम ही अंतिम निर्णायक हैं?
क्या हम ही अन्तिम मानवता है।"(पृ-80, संशय की रात)

आखिरकार राम सामूहिक निर्णय के सम्मुख अपना वैयक्तिक निर्णय दे तो देते हैं । लेकिन उनका प्रश्नांकित मन अब भी कहता है कि आने वाले कल के लिए कोई साक्षी रह जाएगा यह बताने के लिए कि इतिहास पक्षाघाती वाले ने कभी विगत में भी प्रश्न किया था ---.

"किसी ने/ कभी विगत में भी
प्रश्न किये थे।"/ शंकाएँ की थीं।"(पृ-102, संशय की रात)

जिस प्रकार से संशय की रात के राम भाद्रपदी वृष्टि से प्रश्न करते हैं। उसी प्रकार से प्रवाद पर्व के राम भी दिशाओं से प्रश्न करते हैं। दिशा चाहे वह यम की हो या इन्द्र की। जिसे प्राप्त करने के लिए अनंतकाल से सप्तर्षि यात्रा-तपस्या में लीन है ---

"दिशाएँ/ उत्तर की प्रतीक्षा में/स्वयं प्रश्न बनीं
आकाश और ब्रह्माण्ड थामे खड़ी - खड़ी
वृद्ध हो रही है।"(पृ-22, प्रवाद पर्व)

तो अहल्या को इन्द्र मिलन के पश्चात् किसी भविष्य आशंका से उसके मन में प्रश्न ही प्रश्न उठ रहे हैं ---

"प्रश्न ही प्रश्न ही प्रश्न/उठाए आते
बिच्छुओं से/ विषैले देश/ लहराते।"(पृ-13, आत्मदान)

यही स्थिति नचिकेता की है जिसे भी प्रश्न घेरे हुए हैं। जिनका वह भविष्य था आज वह नहीं बस एक ही प्रश्न है जो अंधेरे सन्नाटे में बाहर और अभ्यन्तर में चिल्लाता है। कोई नहीं? कोई नहीं---

"आज नहीं। आज सिर्फ/ एक हठी प्रश्न मात्र
व्यथा अंध चिल्लाता/वादी प्रतिवादी सन्नाटों के
आरपार - अभ्यतन्तर "कोई नहीं? कोई नहीं?"
(पृ-68, आत्मजयी) -

नचिकेता की तरह ही आत्मदान की अहल्या भी प्रश्नों को चुनौती के रूप में लेकर बने - बनाये मार्गों - बंधनों को तोड़ती हुई राम से कहती है कि वही उसके आत्मदान के साक्षी हैं और यही उसका अवितरत तप था ---

"यह मेरे युग का प्रश्न था ज्वलंत
मैं ने चुनौती की तरह लिया
बने - बनाये मार्गों/ बंधनों को तोड़
आत्म - साक्ष्य स्वीकार किया।"(पृ-45, आत्मदान)

तो कनुप्रिया प्रेम की अगाढ़ता में यह भूल जाती है कि वह कौन है और कनु कौन है कनु को फूल पाश में वह जकड़ना चाहती है और अपने आप को नयी व्याख्याएँ देना चाहती है। क्योंकि वह चारों और से पूछे गए प्रश्नों से घबरा जाती है --

"और इस निराधार भूमि पर
चारों ओर से पूछे जाते हुए प्रश्नों की बौछार से
घबरा कर मैं ने बार - बार।"(पृ-50, कनुप्रिया)

इधर कनुप्रिया प्रश्नों से घबरा जाती है तो उधर शम्बूक काव्य में राम एक दण्डनायक भूप के समान शम्बूक से कहते हैं कि प्रश्न करने के लिए भी अर्हता होनी चाहिए। शम्बूक कहते हैं ---

"प्रश्न करते ही/मुझे अधिकार-वंचित कर दिया
कहते हुए/ यह चाहिए वह चाहिए।"(पृ-40, शम्बूक)

और इसी प्रकार से सर्वहत प्रश्न करते हैं इन्द्र से कि युद्ध के लिए इन्द्र ने पहले सोच विचार किया है या फिर केवल अपनी कुर्सी को ध्यान में रखते हुए युद्ध चाहा है। सर्वहत के ये प्रश्न उन्हें नश्वर की तरह चुभाते हुए चले जाते हैं। इन्द्र कहते हैं ---

"चला गया वह/ मुझ में जलते हुए प्रश्न की आग डाल कर
मेरे चिंतन के सोए जल को खंगालकर।"(पृ-122, एक कंठ वि०)

कभी - कभी प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि यह मानव को सोचने पर मजबूर करते हैं। एक कंठ विषपायी में सर्वहत द्वारा इन्द्र से प्रश्न कर चले जाने के बाद जब इन्द्र क्रोधित हो जाते हैं तो विष्णु कहते हैं ---

"लेकिन उसका प्रश्न/ तुम्हारे लिए बोध है।"
(पृ-123, एक कंठ विषपायी)

जिस प्रकार से अर्जुन के प्रश्नों का समाधान कृष्ण करते हैं। उसी प्रकार से इतिहास पुरुष कहते हैं मानव से कि उसके हर प्रश्न का उत्तर वे देंगे।

"तेरे अधीर बुद्धिमन के विवर्तनों में
मेरे विकल्प अड़े।"(पृ-27, इतिहास पुरुष)

तो सती के शव को सम्मुख रख कर शंकर कहते हैं एक कंठ विषपायी में---

"जिस भाषा में/ मिला मुझे यह प्रश्न भयंकर
मुझे उसी भाषा में/ देना होगा उत्तर।"॥पृ-72,एक कंठ वि

विज्ञान जो पृथ्वी के अस्तित्व को मिटाने का दंभ भरा था। जन मोहन कहते हैं ---

"उसके व्यापक प्रश्नों को हल कर न सके तुम"॥पृ-111,कल्पांत

ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि पर लोग विशिष्ट प्रयोजनों के लिए आते हैं और प्रयोजन के बाद प्रश्न के लिए हम खुद ही नहीं रहते, महाप्रस्थान में युधिष्ठिर यही कहते हैं ---

"तब हम प्रश्न करने के लिए/शेष कहाँ है।"॥पृ-30,म॰प्र॥

निष्कर्ष:---

अस्तित्ववादी मानव ही प्रश्न करने का साहस करता है। क्योंकि वह जिज्ञासु होता है और उसकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है।

5·7· स्व/स्वाभिमान/ विवेक :---

डॉ॰मथुरेश नन्दन के अनुसार दूसरों की इच्छा पर स्वयं को छोड़ना स्व की सच्ची पहचान नहीं है। ऐसा करना तो स्वयं को जड़ मूल्यों में बांधना है।

डॉ॰संतोष कुमार तिवारी के अनुसार स्व के प्रति दाम्भिक भाव होने पर व्यक्ति कभी उदात्त नहीं हो सकता है। जितना ही स्व से साक्षात होगा व्यक्ति उतना ही विनयी होता जाएगा।॥15॥

व्यक्ति जब अपने आप को निरूपित करता है। वही "स्व" की पहचान होती है। आत्मदान की अहल्या भी अपने जीवन के अगले चरण में अपने "स्व" को निरूपित करती है ---

"स्व की निरुद्वेग/पहचान की घड़ियाँ।" §पृ-10,आत्मदान§

वह इन्द्र मिलन के पश्चात् आत्मान्वेषण करती है। यह जानने के लिए कि कहीं उसका वह कर्म पाप कर्म तो नहीं था। आठों पहर उसे ऐसा प्रतीत होता है कहीं यह मन के अतल से फूटी समूची देह की अनुगूँज थी। वह कहती है ---

"ऋतु - चक्र की साक्षी मैं/यह "स्व" की पहचान थीं।"
§पृ-33, आत्मदान§

और जिसके लिए साक्षी है राम उसने प्रकृति पर जय पायी है --

"इस धरती पर जिन - कल्याणक अपने "स्व" पर
गर्वमयी "। §पृ-47, आत्मदान§

महाप्रस्थान में जब युधिष्ठिर निर्वेद पर पहुँचते हैं तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि उनकी अंतरात्मा उनसे कह रही हो कि अपने स्वत्व को जाग्रत करो।

"अपने स्वत्व के सुवर्ण भेजपात्र को/ जाग्रत करो,।।"
§पृ-140,म•प्र•§

व्यक्ति के विचार उसके अपने होने चाहिए। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से अपने विचारों को किसी दूसरे का दास या स्वयं का भी

दास मत होने दो नहीं तो यह स्वयं तुम्हें झुलसा देगी --

"अर्जुन! अपने वैचारिक स्वत्व को
किसी का भी दास मत होने दो
स्वयं का भी।"(पृ+13, म॰पृ॰)

इसका कारण यह है कि प्रवाद पर्व के राम कहते हैं ---

"हमारा निजत्व ही/आक्षण/हमारे श्वास मन्त्रों से
अभिषेक करता रहा है।"(पृ-24, प्रवाद पर्व)

और जब किसी के स्वत्व को तिरस्कार कर दिया जाए तब। प्रवाद पर्व में महादेवी सीता के नारीत्व का अपमान किया जाता है और उनके स्वत्व का तिरस्कार भी। लक्ष्मण कहते हैं कि उनके नारीत्व और स्वत्व को न्यायोचित ठहराने के लिए न तो कोई विधि सम्मत तर्क है और न ही बचाव की भाषा और अमानुषी कृत्य के कारण समस्त नारी जाति के चरित्र और सवाल पर कभी न मिट सकने वाला एक ऐतिहासिक प्रश्न चिह्न लग गया है ---

"उनके नारीत्व का अपमान भी/उसके स्वत्व के तिस्कार।"
(पृ-81,प्र॰पर्व)

जिसे सुन राम कहते हैं कि जब मानव के हाथ में जन्म और अवसान नहीं तो स्वत्व और व्यक्तित्व के ये प्रश्न कितने थोथे लगते हैं। संशय की रात में वे विभीषण से कहते हैं ---

"जब हमारा नियन्त्रण/अपने जन्म और अवसान पर ही नहीं
तब/स्वत्व और व्यक्तित्व के ये प्रश्न
या कि हास्यास्पद नहीं है।"(पृ-71, संशय की रात)

और हो सकता है कि युद्ध के बाद हम सब अपने स्वत्व को पाले लेकिन उसकी सुरक्षा और शान्ति कैसे प्राप्त होगी --

"सम्भव है।/इस युद्ध में/
हम सभी अपने स्वत्व को पा जाएँ।"§पृ-82,संशय की रात§

स्वत्व को पाना ही काफी नहीं होता उसको बनाए रखना भी आवश्यक होता है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर के साथ केवल श्वान बच जाते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं "महा प्रस्थान" में कि भाषाहीनता के बावजूद भी श्वान अपने स्वत्व को उदात्त भाषा में रखता है। यही नहीं बल्कि वनस्पति, पशु-पक्षी, पहाड़ यह सभी उसी भाषा में व्यवहार करते हैं। जबकि मनुष्य की भाषा केवल उसे ही अभिव्यक्ति करती है ---

"अपने स्वत्व को बनाए रखना /सृष्टि के पास
यह कैसी उदात्त भाषा है।"§पृ-133, म॰प्र॰§

हर व्यक्ति को अपना स्वत्व बनाए रखना है। महाप्रस्थान में युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से कि न्याय प्राप्ति के लिए अर्जुन को अपमानित होना पड़ा, संघर्ष करना पड़ा और यह बात - बार उन्हें कचोटता होगा कि यह कैसी विवशता है कि जहाँ स्वत्व का हवन किया जा रहा है। पर युधिष्ठिर कहते हैं कि कभी उन साधारण जनों के बारे में सोचो ---

"जो सदा अपमानित हो रहे हैं/जिनके स्वत्व का अपहरण ही
हमारे ये दीप्तित साम्राज्य हैं। "§पृ-107, म॰प्र॰§

ऐसी ही स्थिति विदुर की भी थी महाप्रस्थान में ----

"धारे रहे स्वत्व में/आजीवन संकल्प/धर्म का।"§पृ-44,म.पृ.§

और युधिष्ठिर युद्ध खंडित हो अन्तर का वह सत्य अश्वमेध औ राजसूय यज्ञों से भी जब शोध न पाये तब ---

"---- पुन: दाँव पर लगा/ स्वत्व
वक्कल पहने निकल पड़े/वैश्वानर पथ पर।§पृ-45,म.पृ.§

जब व्यक्ति किसी ऐसी स्थिति में घिरता है कि उस स्थिति को किस प्रकार से संबंधित व्यक्ति के सामने प्रस्तुत करे तो वह भूमिका बनाने का प्रयास करता है क्योंकि बाहर जाने से पूर्व व्यक्ति को भीतर की यात्रा सम्पन्न करनी होती है। महादेवी सीता कहती है राम से कि यह घटना की भूमिका है क्योंकि ---

"जितना दूर जाना होता है/उतना ही स्वत्व में पैठना-
होता है।"§पृ-64,पृ.पर्व§

अहल्या के पति तपस्वी हैं। वह कहती है जबतक वे बांधे रहे वह बंधी रही और जब वह स्व मति से तर्काश्रय पाकर भटकी तो उन्होंने न ही रोका और न ही संभाला बल्कि त्याग दिया ---

"जब भटकी/ तर्काश्रय पाकर स्वमति का
तुमने त्याग दिया।"§पृ-28, आत्मदान§

अहल्या इन्द्र मिलन के कार्य को स्वअर्थी कार्य मानती है। उसने यह कभी नहीं समझा कि इसके परिणाम दूरगामी हो सकते हैं - आत्मदान में --

"एक व्यक्ति के "स्व" अर्थों ये कार्य
नहीं जिनके साक्षी कोई आस-पास।"ऍपृ-35,आत्मदानऍ

और इस कारण से अगर व्यक्ति अपने स्वत्व पर अग्नि रख लेता है तब वह पार्थिव हो जाता है और अपने भीतर का यह स्वाहाभाव ही स्वर्गारोहण है। यही युधिष्ठिर बताते हैं अर्जुन को --

"जब व्यक्ति/ अपने स्वत्व में स्वीकार लेता है पार्थ।
तब वह पार्थिव हो जाता है।"ऍपृ-125, म•पृ•ऍ

लेकिन शम्बूक के राम जब से राजस् से सम्बद्ध होते हैं। उनका स्वत्व निष्क्रिय हो जाता है। और उनका तमस् ऊपर उठने लगा है ---

"सत्व निष्क्रिय हो गया/ जब राम
राजस् से हुए सम्बद्ध/ तमस् ऊपर लगा उठने।"ऍपृ-13,शंबूकऍ

और जब राज्य व्यवस्था अधिक शक्ति सम्पन्न हो तो वहाँ पर व्यक्ति स्वत्वहीन हो जाता है -- युधिष्ठिर कहते हैं अर्जुन से ---

"राज्य के/ अकूत शक्ति सम्पन्न होने का अर्थ ही है
व्यक्ति का स्वत्वहीन होना।"ऍपृ-112, म•पृ•ऍ

व्यक्ति को निःसत्व नहीं होना चाहिए। अश्वत्थामा मानते हैं कि द्रौपदी ने उनकी मणि ली है। इसलिए वे महाप्रस्थान में द्रौपदी से कहते हैं"---

"तुमने मेरी मणि लेकर/मुझे निःस्वत्व किया।"ऍपृ-91,म•पृऍ

इसलिए इतिहास पुरुष कहते हैं कि अपने स्व को तुच्छ न मान क्योंकि तेरे कण - कण में मेरा प्रकाश है ---

"मत निज को तुच्छ मान
चित्तद्रव्य के तेरे कण - कण में झिमक रहा
मेरा विद्युत - विलास।"(पृ-25, इ·पु·)

स्वाभिमान :---

शम्बूक का वध करने जब राम चल पड़ते हैं तो शम्बूक कहतेहैंकि इस अज्ञानता के कारण क्या वे उन्हें भगवान कहें। वे मानते हैं कि राम में केवल अभिमान है। स्वाभिमान नहीं और इसलिए---

"स्वाभिमान व्यक्ति ही इन्सान।"(पृ-64, शम्बूक)

विवेक :---

शशि सहगल के अनुसार मानव मूल्यों की श्रृंखला में अगली महत्वपूर्ण कड़ी मानव - विवेक है। विवेक अन्तरात्मा के सहायक तत्वों से संभवत: सबसे प्रमुख सबसे विश्वसनीय है। मानवीय आत्मा का गौरव यह है कि मनुष्य को स्वतन्त्र सचेत दायित्व मुक्त माना जाए जो अपनी नियति अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है। इसलिए उसके विवेक और मनोबल को सर्वोपरि और अपराजेय माना जाय।"(16)

यही शम्बूक काव्य में शम्बूक भी कहते हैं कि चाहे कितनी भी उलझनों में व्यक्ति फंसा हो वही विवेकी होता है, जो उन उलझनों में से भी अपना पथ बना ले---

"है विवेकी वही/जो जग के विषम व्यवहार में भी
पथ बना ले।"(पृ-47, शम्बूक)

व्यक्ति का विवेक सदा जाग्रत रहना चाहिए। शम्बूक कहते हैं, जिससे की व्यक्ति मन को इससे बड़ी टेक और कोई नहीं रहेगी।

"है यही उपयुक्त/जाग्रत रहे/सदा विवेक।" (पृ-13, शम्बूक)

लेकिन होता यह कि हमारा मन जो विवेक का स्वामी होता है वहाँ पर बर्बर पशु वास करता है। यही गांधारी कहती है। अंधायुग में ---

"हम सबके मन में कहीं एक अन्ध गह्वर है
बर्बर पशु, अन्धा पशु वास करता है
स्वामी जो हमारे विवेक का।" (पृ-23, अंधायुग)

और मनुष्य स्वर्ग की लालच में अक्सर उस विवेक को त्यांजलि दे देता है। आत्मजयी काव्य में नचिकेता कहता है ---

"मनुष्य स्वर्ग के लालच में/अक्सर उस विवेक तक की बलि दे देता
जिस पर निर्भर करता/जीवन का वरदान लगना।"
(पृ-26, आत्मजयी)

और ऐसा विवेक शून्य मानव जो अपने बल पर गर्व कर रहा हो उसे अवश्य ही ठोकर लगती है कल्पांतर काव्य में ---

"अब भी वह दुनिया/ बलवालों की दुनिया है
विवेक शून्य बल की।
अंध शक्ति ठोकर मारती है अभी न्याय की।" (पृ-24, कल्पांतर)

शंकर की पीड़ा को देख ब्रह्म भी पीड़ित होते हैं, जिसपर इंद्र कहते हैं

कि ऐसे संदर्भ में हम सब एक ही धरातल पर हैं और हम अपने शब्द और अपना प्रस्ताव वापस ले लेते हैं। क्योंकि चिंतन की दिशा या समाधान के लिए ---

" थोडी तटस्थ और वस्तुपरक दृष्टि की
अपेक्षा करता है विवेक।"(पृ-62, एक कंठ विषपायी)

निष्कर्ष:---

स्वत्वहीन मानव श्वान के समान होता है। अत: मानव को अपने स्वत्व को महत्व देते हुए अपने विवेक के आधार पर उसे कार्य करना है।

5•8• असहमति / असंतोष : नारी का असंतोष :---

आज नाना प्रकार के मानसिक तनावों के बीच मनुष्य जीवित है। अपने परिवेश से वह संतुष्ट नहीं है और न परिस्थितियों से समझौता ही कर पाता है। ऐसी स्थिति में वह व्याकुल और बेचैन हो जाता है। यह व्याकुलता ही उसके असंतोष और आक्रोश की पृष्ठभूमि तैयार करती है।

नचिकेता वाजश्रवा के यज्ञ-विधान पर अपनी असहमति व्यक्त करता है। नचिकेता की असहमति और वाजश्रवा के क्रोध का, नई और पुरानी पीढ़ी का प्रतीक माना गया है। तभी नचिकेता पिता से सहमत न हो नये भाव - बोध से आज के मानव का प्रतिनिधित्व करता हुआ कहता है---

"नया जीवन - बोध संतुष्ट नहीं होता
ऐसे जवाबों से जिनका संबंध/आज से नहीं अतीत से है
तर्क से नहीं रीति से है।"(पृ-13, आत्मजयी)

नचिकेता कहता है अपने पिता वाजश्रवा से कि वे असहमति का अवसर दे। सहिष्णुता को आचरण दे जिससे कि बुद्धि सिर ऊँचा रख सके। तथा स्वार्थ से हटाकर अविनय स्थापित न करने को कहते हैं नहीं तो उपेक्षा से मानव की साहसिकता खिन्न हो जाये ---

"असहमति को अवसर दो।" ‡पृ-23, आत्मजयी‡

रावण एक ऐसे इतिहास पुरुष थे कि उनके विरुद्ध किसी अनाम साधारण जन की तर्जनी, असहमति में अपने ही एक बन्धु का हाथ उठता है। ऐसा लगता है कि जैसे धरती को फोड़कर कोई पुरालेख निकल आया हो जिसे देख कर शक्ति पीली पड़ जाए प्रवादपर्व में राम कहते हैं ---

"तब इस प्रचण्डता के विरुद्ध
एक अनाम साधारणजन की तर्जनी सा
असहमति में ---।" ‡पृ-47, प्रवाद पर्व‡

राम असहमति की परिभाषा देते हैं। प्रवाद पर्व में की असहमति, निरंकुशता, अराजकता या राजद्रोह नहीं होता निश्चय ही ---

"असहमति भी एक मत है/अभिव्यक्ति धारणा है।"
‡पृ-102, प्रवाद पर्व‡

नारी का आक्रोश :---

"आक्रोश" एक ऐसी भावना है जो व्यक्ति को चैन से रहने नहीं देती। यह भावना व्यक्ति के मन में तब उभरती है जब व्यक्ति सहते -

सहते एक सीमा पार कर जाता है और फिर उसके हृदय की ज्वाला एक प्रखर रूप लेती है।

नारी का यह आक्रोश तब भयंकर युद्ध का रूप ले लेता है। जब उसके अकेलेपन का मज़ाक उडाया जाता है। महाप्रस्थान में जब द्रौपदी को भरी सभा में दुश्शासन द्वारा चीरहरण किया जाता है। उसकी रक्षा हेतु कोई नहीं आता तो उसके आक्रोश के कारण जो युद्ध होता है उस युद्ध में कौरव और पांडव सब भस्म हो जाते हैं ---

"मन की इस आक्रोश क्षुधा से/जिसमें भस्म हो गये
कौरव - पांडव।" ﴾पृ-68, महाप्रस्थान﴿

यह नियति नहीं तो और क्या है, जिस द्रौपदी के पांच पति हों, आज वही द्रौपदी अकेली हिमपथ पर चली जा रही है। और उसी समय अश्वत्थामा उनसे उनकी अपनी मणि मांगते हैं। द्रौपदी को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह एकाकीपन एक कोढ़ हो, निम्न अंश में द्रौपदी का आक्रोश छिपा है।

"आसक्त एकाकीपन ही/ शाप है अश्वत्थामा।"﴾पृ-81, म•प्र﴿

कैसी विडंबना है कि पुरुष करे घृणित कार्य फिर भी स्वतंत्र विचरण करे। विश्व में लेकिन स्त्री करे वही कार्य तो उसे बहिष्कृत किया जाता समाज में। आत्मदान की अहल्या भी यही कहती है कि इन्द्र शापित होते हुए भी पूज्य रहे, दिशा-दिशा में विचरण करते रहे और अहल्या एक शिला के रूप में परित्यक्त होकर सभी से दूर निर्वासित और अकेली रह जाती है। अहल्या इन शब्दों में अपना आक्रोश व्यक्त करती है ---

"मैं इस मरघट में/निर्वासित/एकाकी।"§पृ-18,आत्मदान§

तो दूसरी ओर गौतम ऋषि सिद्धि पाने हेतु उन्हें मंझधार में छोड़ चले जाते हैं। अहल्या कहती है कि जबतक वह निर्द्वन्द्व थी तब तक वे साथ रहे और --

"जब घिरी भँवर में/तुम त्याग मुझे चल दिये अकेले
सिद्धि पाने की चाह में।"§पृ-46, आत्मदान§

पुरुष सत्तापरक राज्य में हर कार्य एकांगी ही होता है। क्योंकि उनकी दृष्टि में स्त्री का कोई अस्तित्व नहीं। अहल्या कहती है आत्म-दान में ---

"ये, देवों की मर्यादाएँ एकांगी/ये,देवों की इच्छाएँ एकांगी
ये,देवों की रचनाएँ एकांगी/पुरुष शासित यह जग है एकांगी
पुरुषों का हर न्याय/ कार्य/उपचार/मात्र एकांगी।"
§पृ-22, आत्मदान§

अहल्या पुरुष जाति को ही निपट कपटी मानती है चूँकि वे मतलब निकलते ही साथ छोड़कर चले जाते हैं। वे नारी को वैदिक कर्म विहीन करते हैं, अपने अनुरूप धर्मशास्त्र की व्यवस्थाएँ बदलते हैं, स्त्रियाँ इन्द्रिय शून्य हो जाती है, शास्त्र - ज्ञान से रहित, असत्य की मूर्ति कह अर्थात् ये सभी विशेषणों का प्रयोग किया जाता है स्त्री के लिए---

"ये सभी विशेषण अभियोग सदृश/दिये पुरुषों ने।"§पृ-21,आत्मदान§

और जब स्त्री को मात्र एक सेतु के रूप में प्रयोग कर पुरुष चला जाय तो क्या कहा जा सकता है। कनुप्रिया दुःखी होती है और आक्रोश को

छिपाते हुए कनु से कहती है कि लीलाभूमि और युद्धक्षेत्र के अलंघ्य अन्तराल में---

"क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिये।"(पृ-64, कनुप्रिया)

डॉ॰सुषमा भटनागर के अनुसार पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी की ओर से यह चुनौती भरा प्रश्न अस्तित्व चेतना का सही मायनों में आधुनिक आयाम है। कृष्ण के चले जाने के बाद कनुप्रिया की मुख्य दुश्चिन्ता(anguish) यही अस्तित्व - बोध है। उसका दु:ख सामान्य विप्रलम्भ वियोग नहीं है।(17) वह अस्तित्व टूटने के एहसास से दग्ध है ---

"तुम्हारे महान बनाने में
क्या मेरा कुछ टूट कर बिखर गया है कनु।"(पृ-20,कनुप्रिया)

नूरजहाँ पुरुषों के व्यक्तित्व पर गहरी चोट करती है इतिहास पुरुष में कि रात में वे पुरुष विनम्र प्रेमिक बन जाते हैं और दिन में बन जाते हैं शहन्शाह नये - नये तेवर और तौर के साथ खूब पार्ट करते हैं वह कहती है इतिहास पुरुष काव्य में ---

"मेरे व्यक्तित्व का वह सदाबहार उपवन साम्राज्य
जहाँ स्मितियों को उषा,और हंसियों की चांदनी है।"
(पृ-77,इतिहास पुरुष)

संशय जो विवेक एवं ज्ञान का जन्मदाता ,पिता है, जिसके कारण व्यक्ति का संतुलित मन असंतुलित हो रहा है- विश्वास के अविश्वास में परिणत होते जाने पर सन्देहास्पद दृष्टि धीरे - धीरे विकसित होती

जाती है - व्यक्ति अपने संशय अथवा अविश्वास का समाहार परीक्षा के रूप में लेना चाहता है - अविश्वास की ग्रंथि के कारण वह असफल ही रहता है। अविश्वास, संशय एवं उसके परिणामस्वरूप परीक्षा दूरी का द्योतक है। अत: जिसके बाद पुरुष के लिए नारी अप्राप्य हो जाती है। इसलिए द्रौपदी कहती है ---

"पार्थ! प्रत्येक ऐसी परीक्षा
पत्नी के लिए अविश्वास ही है।"(पृ-85,म.प्र.)

सीता के रहते हुए भी राम उनकी प्रतिमा को रखकर यज्ञ करते हैं। क्लिओपेट्रा पत्र लिखती है सीता अनुभव करते हुए कहती है ---

"रोम प्रजा के मन्दिर में सीज़र के बायें
हुई क्लिओ की प्रतिमा स्थापित,संघर्षों के
नये नाद से भरी दिशाएँ। "(पृ-65, इ.पु.)

इस पुरुष नियामक राज्य में जहाँ पुरुष ही व्यवस्थाएँ निर्मित करते हैं। अहल्या कहती है वही दोषी भी और वही न्यायकारी भी। वही रक्षक भी ,तो वही व्यभिचारी भी। वह पूछती है वहाँ क्या न्याय, क्या व्यवस्था, कैसी रचना है ---

"गौण हुई नारी हर युग में।"(पृ-20,आत्मदान)

निष्कर्ष:---

आज की नारी चली आ रही परम्पराओं के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करती है। क्योंकि वह भी अस्तित्ववादी नारी है और उसे अस्तित्व का बोध है।

5·7· <u>अस्तित्वबोध</u> :---

एक प्रकार से समस्त समस्याएँ एक ही केन्द्र - बिन्दु पर एकत्र हो जाती हैं। वह है मानव अथवा जीवन के अस्तित्वबोध की महत्ता। अस्तित्वबोध की चर्चा केवल आधुनिक युग की बात नहीं है। इसे प्रत्येक युग में देखा जा सकता है। क्योंकि जब से व्यक्ति ने अपनी सत्ता। अस्तित्व का बोध किया होगा, तभी से उसमें वैचारिक प्रतिभा का उदय हुआ होगा। अत: मानव के बौद्धिक विकास के साथ ही अस्तित्व बोध के प्रति भी वह जागरूक बनता गया। अत: कहा जा सकता है कि अस्तित्वबोध उसी चेतना सम्पन्न क्रियाशील अनिश्चित अंश का परिचायक है जिसमें मानव लक्ष्य रूप में विद्यमान है।

डॉ·लालचन्द गुप्त मंगल भी इस बात पर जोर देते हैं कि हर व्यक्ति आत्मानुभव से अपने अस्तित्व का बोध कराता है।⁅।8⁆

नचिकेता मृत्यु भीति से विमुक्त होकर ही अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक हो पाता है। आत्मजयी में वह कहता है --

"जीवन में वापस आया/वह शोधित प्रसाद/मैं।"

⁅पृ-105, आत्मजयी⁆

इसलिए नचिकेता अपने पिता वाजश्रवा से कहता है कि अगर उसके अनुसरण से भिन्न भी अगर कोई सत्ता है तो उसे आक्रान्त न करे ---

"--- अवसर दो/कि वह पनप सके प्रसन्न।"⁅पृ-27,आत्मजयी⁆

क्योंकि नचिकेता हिन्दु आत्मबोध से गुजरनेवाला प्राणी नहीं है। वरन् अस्तित्ववादी आत्मबोध की यंत्रणाओं से गुजरने वाला मनुष्य है।

वह एक ऐसा जिज्ञासु है जो भीड़ के प्रपंच में पूर्णत: जकड़ा हुआ है। वस्तुत: यहाँ वह आज के मनुष्य के कुंठित, क्षणवादी, नास्तिक, द्विधाग्रस्त ऊहापोह के कारण व्याकुल स्थिति को उद्घाटित करता हुआ कहता है ---

"जीवन में यह कैसा कुटिल द्वैध
ये कैसे विधान निर्भय जीना अवैध।"﴾पृ-31, आत्मजयी﴿

और ऐसी स्थिति में अपने अस्तित्व हेतु वह कुछ भी कर सकता है। जहाँ एक पशु दूसरे को खा जाये। यह भी सम्भव है कि एक मनुष्य-----

"अस्तित्व एक घातक तर्क भी हो सकता है।"﴾पृ-21,आत्मजयी﴿

इसे देख मानव को हताश नहीं होना चाहिए। इतिहास पुरुष कहते हैं। मानव का जीवन बुद्बुद प्राय है कौन कब उठा। मिटा, गिरा यह कोई नहीं कह सकता। इसलिए मानव को आशावादी बनना है।

"भय संशय, नास्तिभाव/ ऊब, अकेलेपन से
नर का अस्तित्व घिरा।"﴾पृ-21, इ.पु.﴿

जहाँ मानव का अस्तित्व इन सब से घिरा होता है। वहाँ पर मानव के अस्तित्व को गिराने का प्रयास भी किया जाता है। प्रवाद पर्व में राम कहते हैं कि क्या साधारणजन का कोई अस्तित्व नहीं होता। क्या अधिकार केवल राज्य या राज्यपुरुषों या फिर इतिहास पुरुषों के लिए होता है। वे कहते हैं सम्भव है राजभटों के दस्ते या जयघोषों में उठे हाथों की उठी भीड़ इस अनाम साधारण जन की तर्जनी को घेर लें और उसे ---

"अस्तित्व के कंगूरों से ही/धकेल दे।"(पृ-30, प्र•पर्व)

शम्बूक काव्य में एक शूद्र अपने अस्तित्व को इन शब्दों में प्रस्तुत करता है---

"शूद्र हूँ मैं/ मानव समाज में
मेरा अस्तित्व बहुत अल्प है।"(पृ-83,शम्बूक)

और ऐसे व्यक्ति समाज में उठना भी चाहें तो उन्हें गिरा दिया जाता है। यही शम्बूक काव्य में शम्बूक कहते हैं कि जब भी वे अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु अपना संतुलन खोते थे। उन पर सामूहिक रीति से ऋषि लोग मिलकर पाद प्रहार करते।---

"अपने अस्तित्व की रक्षा में।"(पृ-87, शम्बूक)

और ऐसे व्यक्ति प्रतिशोध लेना चाहें भी तो वे प्रतिशोध ले नहीं पाते। अंधायुग के अश्वत्थामा की स्थिति भी ऐसी ही है, उसे ऐसा महसूस होता है कि वह आत्मघात कर लेतो अच्छा है। क्योंकि वह अपने पिता द्रोणाचार्य की हत्या का प्रतिशोध नहीं ले पाता, अत: कम से कम इस नपुंसक अस्तित्व से तो उसे छुटकारा मिलेगा।"(पृ-37,अंधायुग)

यहाँ तो अश्वत्थामा सोचता है कि वह आत्मघात कर ले लेकिन शम्बूक काव्य में शम्बूक का ही वध कर दिया जाता है। शम्बूक निम्न शब्दों में कहते हैं कि क्या यही उसका अस्तित्व है--

"मैं हूँ/अब/ मिट्टी का एक/मुर्दा घड़ा।"(पृ-81,शम्बूक)

ऐसे साधारण से साधारण व्यक्तियों का क्या अस्तित्व होगा और वे जगत में क्या अस्तित्व छोड़ जाएँगे। शम्बूक भी यही कहते हैं --

"छोड जाऊँगा जगत पर/कौन सी मैं छाप।"॥पृ-22,शंबूक॥

कितनी विचित्र बात है कि मानव को ही अपना अस्तित्व बनाने का मौका नहीं दिया जाता जबकि काल भी अपना पदचिह्न छोड़ चला जाता है---

"अतीत/वर्तमान/भविष्य/----
अपने चिह्न स्थापित करती है।"॥पृ-37,आत्मदान॥

लेकिन यह सब कब तक चलेगा। शम्बूक की ही तरह अहल्या कहती है। आत्मदान काव्य में कि कबतक हिमालय की तीखी ढलानों पर गंगा रुकी रहेगी कबतक सागर में धधकती ज्वाला आकार नहीं लेगी, और--

"कब तक कोई धरती नहीं फलेगी
अर्थ बीज धारण कर?"॥पृ-14,आत्मदान॥

और आखिरकार वह समय आ ही जाता है जब नारी के अस्तित्व को भी मान दिया जाता है। अहल्या अपने आपको धन्य मानती है। क्योंकि जिन्होंने उसे शपित किया था आज वही उसे अपना लेते हैं ---

"मैं हुई कृत-कृत्य/ कि मैं ने पुन: प्रतिष्ठापायी।"
॥पृ-43, आत्मदान॥

यही स्थिति इतिहास पुरुष काव्य के नूरजहाँ की भी है वह कहती है. वह अब सिर्फ भोग्या, सिर्फ भोक्त्री नहीं, बल्कि अब वह जिन्दगी की साक्षी और दर्शिका भी बन गयी---

"मैं अब सिर्फ वह जो पहले थी/नहीं रही।"॥पृ-76,इ•पु•॥

तो शम्बूक काव्य में राम वध करके चले जाते हैं। शम्बूक का और शम्बूक के चारों ओर एक जंगल उग आया है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उनके रोंए - रोए से शाखायें उपज रही हैं---

"जहाँ जो कभी नहीं उपजा/
वहीं वह आज उग रहा है।"॥पृ-83,शम्बूक॥

विज्ञान ने पिछड़े भूखे लोगों की निर्धन दुनिया पर जहाँ गहरा कर्ज़ धुंध फैलाया था। मानवता पर आज उस शान्ति भूमि पर---

"सूरज उदय हो गया है।"॥पृ-67, कल्पांतर॥

अर्थात् मनुष्य को जब अपने अस्तित्व का बोध हो जाता है तो वह चाहे कितना ही साधारण व्यक्ति क्यों न हो किसी चक्रवर्ती के विरूद्ध भी आवाज़ उठा सकता है। यही प्रवाद पर्व के राम कहते हैं--

"एक चक्रवर्ती के विरूद्ध/ साधारणता ने
युद्ध का आवाहन किया था।"॥पृ-49, प्र•पर्व॥

नचिकेता भी इच्छा करता है कि हर एक का अस्तित्व होना चाहिए। वह कहता है असंवेद्य विवरण को शीर्षक दे, भीड़-रहित पूजा को फूल दें, तोरण मण्डप विहीन मंदिर को दीपक दें, वह कहता है आत्मजयी में ---

"जबतक मैं न लौटूँ/उपासित रहे वह सब
जिस ओर मेरे संकेत।"॥पृ-16, आत्मजयी॥

कभी - कभी किसी की प्रस्तुती में ही अस्तित्व का बोध होता है। कनुप्रिया प्रश्न करती है छायादार पावन अशोक वृक्ष से ----

"तुम यह क्यों कहते हो कि/तुम मेरी ही प्रतीक्षा में
कितने ही जन्मों से पुष्पहीन खड़े थे।"(पृ-12,कनुप्रिया)

धर्मराज साधु थे, जो चरण सेवा के कांक्षी थे। भीम वीर थे,पर अपनी पत्नी की रागात्मकता को छू न सके, नकुल और सहदेव कृपा के पात्र थे किन्तु पार्थ, द्रौपदी कहती है महाप्रस्थान में---

"हाँ पार्थ न होते/ तो अपूर्ण ही रह जाती / मैं।"(पृ-68,म·प्र)

निष्कर्ष:--

प्रत्येक मानव के लिए उसका अस्तित्व बहुत महत्व रखता है। यह बोध ही उसे यह अहसास दिलाता है कि उसे कुछ बन ना है। समाज में अपना एक अच्छा स्थान कायम करवाता है।

5·10· नैतिकता :---

डॉ·सुषमा भटनागर के अनुसार नैतिकता सापेक्ष वस्तु है। वह शाश्वत हो ही नहीं सकती।"(19)

आत्मजयी के नचिकेता आज के पहरेदारों पर कटाक्ष करते हैं , जो एक तरफ से जागते रहो कहते हैं और दूसरी तरफ से चोरों के साथ व्यापार करते हैं --

"--- नैतिक आदेशों के
पालतू मुहावरे सोते - जागते कानों में साथ हो
एक अलग व्यापार ईमान के चोर दरवाज़ों से।"
(पृ-25, आत्मजयी)

धर्मवीर भारती के अनुसार यदि कोई नैतिक बनने का प्रयत्न करता है तो उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है और तब विवश होकर न चाहते हुए भी उसे अनैतिकता और बर्बरता का वरण करना पड़ता है। अपने अस्तित्व को बचाने के लिए सत्य, नैतिकता अथवा ईमानदारी के विपक्ष में ही खड़ा हो जाता है। इस प्रकार आधुनिक संवेदना, मनुष्यता एवं बर्बरता में विभक्त हो गयी है।(20)

यही कारण था भीम भी अनैतिक ढंग से दुर्योधन पर वार करते हैं। जो सदा पाण्डवता की वज्र सरीखी देह रहे हैं। वे नैतिक मूल्यों की परवाह किए बिना उनकी जंघा पर प्रहार करते हैं --

"वह दुर्योधन की जंघा पर करना प्रहार
केवल ललाट पर लगा रहा
उस घोर अनैतिकता का/लांछन।" (पृ-46, अ.यु.)

निष्कर्ष:--

व्यक्ति के लिए नैतिक मूल्य अहम् होते हैं। क्योंकि यही आत्म-बोध कराते हैं।

5·11· चेतना :---

वर्तमान क्षण की अज्ञात क्रियाओं को चेतना कहकर पुकारा जाता है। चेतना व्यक्ति सापेक्ष्य, सूक्ष्म, स्वतन्त्र एवं गतिशील वस्तु है।

मनोहर वर्मा के अनुसार चेतना विश्व अस्तित्व बोध की एक परिमापक इकाई है।॥21॥

महावीर दाधीच अस्तित्ववादी चेतना को एक साधना या पद्धति के रूप में मानते हैं। उसकी दृष्टि में चेतना मानव अस्तित्व के सहज रूप स्वरूप के उद्घाटन में सहायक है। उनका उद्देश्य अस्तित्व की धारणा बनाना नहीं, अस्तित्व के सजीव अनुभव को प्रभावपूर्ण ढंग से पकड़ना है।॥ 22 ॥

जुंग के अनुसार अवचेतन के चेतन में अभिव्यक्त होने पर उसकी अंध शक्तियों का विश्लेषण किये जाने पर, जीवन में विकास सम्भव है। हमारा आत्म अस्तित्व बना रहे। हमारा जीवन विकासमान हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आपको अभिव्यक्त करते रहें, हमारा आत्म - चेतन व्यक्त होता रहे अन्यथा उसके अभाव में उसका विस्फोट अत्यन्त भयंकर हो सकता है।॥23॥

चेतना, वस्तु नहीं है अर्थात् यह अनस्तित्व है। यह वह है जो नहीं है और यह नहीं है जो है। अपने सहज रूप में यह अहं रहित और सामान्य होती है, किन्तु चिंतन की गति में आते ही यह अंतर से युक्त हो जाती है और इसमें प्रश्न, नकार तथा विनाश की गतियाँ होती हैं। नकार के माध्यम से चेतना अपने निजी और आत्मीय संसार

का सृजन करती है। अपने आपको पूर्ण करने के क्रम में वह प्रदत्त का अतिक्रमण और निषेध करती है। इससे व्यक्तिनिष्ठ मूल्य जन्म लेते हैं। ये मूल्य व्यक्ति की सम्भावनाओं से सापेक्षत: सम्बन्धित रहते हैं।

इतिहास पुरुष कहते हैं कि चेतनशील व्यक्ति में वह प्रकाश होता है जो जड़ वस्तु में नहीं होता। चेतनशील मानव के कारण चारों ओर का वातावरण भी प्रकाशवान हो उठता है --

"शुभ - सुन्दर चेतना के
कण तेरे दृष्टि और चेहरे की भंगियों में
जुगनू ज्यों झिलमिलायें।"(पृ-45, इ॰पु॰)

इसलिए तो क्लिओपेट्रा भी इतिहास पुरुष काव्य में कहती है कि पाप-पुण्य गुरुएं हैं पर उनसे भी गुरुतर है। यह जीवन और उसका एहसास, वह कहती है कि शांति बड़ी है। किन्तु शांति से भी महान है।

"क्षुब्ध मनुज चेतना - जहाँ बिम्बित भुवनों की
सारी हलचल सभी शान है।"(पृ-52, इ॰पु॰)

और इसी कारण से पश्चिम के भूततन्त्र, नर-समाज शास्त्र के व्याख्याता मन ही मन जोहते हैं मानव की चेतना को ---

"भीतर के भाव-चाव, शिव-सुन्दर चेतना को
जोहते सभय शंकित ।"(पृ-21, इ॰पु॰)

मानव की चेतना को ही नहीं कल्पांतर काव्य में पृथ्वी की अस्तित्ववादी चेतना की विराटता को सामने रखते हैं गाथाकार--

"सृष्टि चेतना विराट्।" (पृ-22, कल्पांतर)

और यह चेतना पृथ्वी के कण - कण में जड़ से चेतना तक छायी है--

"जड़ से चेतन तक/ जीवन रथ को लाया है।" (पृ-22, कल्पांतर)

चेतना के रहते ही परिवर्तन की आशा की जा सकती है और परिवर्तन के बिना वह जड़ - वस्तु के समरूप हो जाती है। इतिहास पुरुष कहते हैं जिंदगी में वे किस तरह से बढ़ते गए ---

"सत - रज तम तीनों के रूप गन्ध - रंग लिये
त्रिभुवन का लाड़ला/संसृति की चेतना-हिलोरों पर थिरक खेल
में बढ़ता चला।" (पृ-3, इइतिहास पुरुष)

डॉ॰विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के अनुसार आज मानवीय चेतना एक ऐसे बिन्दु पर आ गयी है जहाँ से अनेक पथ प्रशस्त होते हैं और प्रत्येक पथ कुछ दूर जाकर धूमिल अंधकार में विलीन हो जाता है। वैज्ञानिक बोध ने संपूर्ण मस्तिष्क को प्रश्न चिह्नों से भर दिया है और इस वैज्ञानिकता में बौद्धिकता भयंकर रूप से दिग्भ्रमित हो गयी है। एक सर्वग्रासी सन्देह और अनिश्चय की चेतना सर्वत्र छाती जा रही है(25)

फिर भी आज मनुष्य की इकहरी चेतना परिधि में समावेश हो रहा है। निखिल का ---

"आज मनुष्य की इकहरी चेतना परिधि' में
समावेश हो रहा निखिल का/एकांतिकी भावनाओं पर
सर्व समन्वित जन संस्कृति का।" (पृ-112, कल्पांतर)

इसीलिए तो नचिकेता को यम जिन्हें फिर से जीवन दे देते है, उसे उसका बोध कराते हैं कि यम उसी में स्थित है। इसलिए परिस्थितियों

का अच्छा ज्ञान रखते हुए कण - कण में चेतना का प्रसार करे-- अर्थात् संसार को चेतनाशील बनाये। यम के शब्दों में ---

"मैं तुझमें निहित/ परिस्थितियों का सही ज्ञान
तू सृपनाशील/ चेतना का कण - कण में प्रसार।"
(पृ-98, आत्मजयी)

उसी प्रकार से इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष भी अपनी विराटता और व्यापकता के संबंध में कहते हैं कि वे चेतना की किरणों को उलझा रहे हैं, जिससे कि उनके ज्ञान की सूक्ष्म किरणें मानव के रोम-रोम को प्रभावित कर सकें---

"बेगिनती,चेतन की स्वप्न बोध किरनों के
तार उलझ फँस रहे।"(पृ-5, इ•पु•)

इतिहास पुरुष प्रयास तो करता है लेकिन उसे मानव पर दया आती है कि हर एक सम्भावना का सेतू मानव ही क्यों बनता है --

"जड़ - चेतन की हरेक अवघट सम्भावना का
तू प्रयोगरत प्यारा/त्रिभुवन का नयनतारा।"(पृ-24,इ•पु•)

यही कारण है कि संशय के रात के राम युद्ध की विभीषिकाओं से बचकर मानवीय चेतना को अक्षुण्ण बनाए रखने की है--

"मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बन्धु
मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है।/उसको ही।"
(पृ-21,संशय की रात)

राम का मन संशयित है। उनकी चेतना उनका बोध, उनकी आस्था को ही नहीं उनकी आत्मा को भी विचलित कर देती है। वे लक्ष्मण से कहते हैं ---

"पर/ यह चेतना/ यह बोध/ आस्था में
आत्मा में ही विभाजन कर सके।" ‡पृ-31, संशय की रात‡

जहाँ चेतना मनुष्य में उत्साह भरती है वहाँ राम की स्थिति कुछ विपरीत है यहाँ पर चेतना अग्नि के रूप में उन्हें दाह रही है --

"यह चेतना/ यह बोध/ अमोही प्रज्ञात्मता की/
अग्नि यह/ कौन से अभिषेक जल से शान्त हो।"
‡पृ-30, संशय की रात‡

इसलिए वे भाद्रपद वृष्टि से कहते हैं। कि उन्हें भीग जाने दे जिससे की उनकी आत्मा को शांति प्राप्त हो---

"यह बोध यह चेतना/ अनुखन दाहती है।" ‡पृ-31, संशय की रात‡

राम कितने बेबस है वे चाहते कुछ और हैं लेकिन उन्हें कुछ और करना पड़ता है। अत: इतिहास पुरुष मानव से प्रश्न करते हैं कि शैल सिन्धुओं वाली मृदु चेतना के समक्ष मानव की मृदु चेतना कहाँ तक टिक सकती है ---

"कितना तू है बेबस/रेशम के तार-जैसी तेरी मृदु चेतना।।
‡पृ-28, इ॰पु‡

ऐसी ही स्थिति नचिकेता की है। आत्मजयी काव्य में जो अचेतावस्था में है उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्हें जल डुबाने का प्रयास

कर रहा है और उसकी चेतना लुप्त हो रही है --

"कि मेरी चेतना मानो किसी अन्धी गली में
नींद डूबी एक बरहिंट सरीखा चिह्न था।"§पृ-44,आत्मजयी§

कि जैसे किसी दूषित मन्त्र ने उसकी चेतना को बाँध लिया हो। आत्मजयी में ---

"एक बुझती रोशनी का पाश/मानो चेतना को-मछलियों सा
किसी दूषित मन्त्र से बाँधे हुए।"§पृ-62, आत्मजयी§

ऐसे में ही वह यम के पास पहुँचता है। उसकी जिज्ञासा , उसकी कुशाग्रबुद्धि और उसके आचरण पर यम प्रसन्न होते हैं। नचिकेता उस दुनिया को खोले पर शायद जीते जी उसे देख न पाये। वह कहते हैं

"कोरे तत्वों से घेरी चेतना/अनाम कृती की।"§पृ-92,आत्मजयी§

जैसे ही उसमें चेतनता लौटती है वह अपने आप से प्रश्न करता है। "मैं क्या हूँ?" यही प्रश्न उसे तड़पाता है। वह अपने आपको संसार पर आरोपित मानता है और अपनी चेतना से विकीर्ण --

"संसार पर आरोपित मैं एक झिलमिलाता बिम्ब
अपनी ही चेतना से विकीर्ण।"§पृ-26,आत्मजयी§

शम्बूक काव्य में राम शम्बूक का वध कर देते हैं उसका करुण चीत्कार उसकी चेतना को पार कर जाता है--

"उस तरह/ उसका करुण चीत्कार
पैठ जाता चेतना के पार।"§पृ-5, शम्बूक§

शीश तो अलग किया जा सकता है। लेकिन क्या मानव की निष्ठा को मानव की चेतना से अलग किया जा सकता है--

"करो निष्ठा को/न मेरी चेतना से भिन्न।"(पृ-77, शंबूक)

लेकिन मृत शरीर में चेतनता लाना असंभव होता है यह जानते हुए भी शिवशंकर इसकी आशा करते हैं ---

"प्राण प्रिया/ तुमको यदि संध्या तक
मिली नहीं चेतनता/यदि तुमसे यह बिछोह, चिर होगा,
तो मैं सच कहता हूँ।/महाकाल का तांडव फिर होगा।"
(पृ-88, एक कंठ विषपायी)

यही स्थिति गांधारी की है। चूँकि महायुद्ध में एक - एक कर उसके सभी बेटे मृत्यु को पा जाते हैं। वह चेतना शून्य हो जाती है। उसकी आँखों में ---

"आँसू भी नहीं है/ न शोक है/न क्रोध है
जड़वत पत्थर सी वे बैठी है।/सीढ़ी पर।"(पृ-52, अंधायुग)

और पांडव युद्ध जीतने के बाद भी अठ्ठारह दिनों में हुए विनाश को देखकर सबकुछ छोड़छाड़कर हिम पथ पर आरूढ तो होते हैं। लेकिन उनके अवचेतन पर अब भी वे स्मृतियाँ हैं महाप्रस्थान में ---

"किन्तु इस अवचेतन में से/कुछ भी तो बीत न पाया।"(
(पृ-55, म.प्र.)

और हिम उनकी चेतना को बेधे जा रही है। महाप्रस्थान में --

"ठिठुर कर गले जा रहे अंग/आसन्न देह
विक्षुब्ध चेतना के क्षत-विक्षत पर्दे।" (पृ-54, म.प्र.)

जड़-जड़ वस्तुएँ ही होती हैं उनमें चेतना नहीं लाई जा सकती और जड़ वस्तुओं से मानव अमरता नहीं प्राप्त कर सकता है। युधिष्ठिर कहते हैं। अर्जुन से दुर्ग, प्रासाद, स्मृति, भवन, चारण - प्रशस्तियाँ, झूठे इतिहास वाले शिलालेख - व्यक्ति को अमरता नहीं देते -- युधिष्ठिर बताते हैं अर्जुन को----

"जड़ - जड़ का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है।
चेतन का नहीं।" (पृ-106, महाप्रस्थान)

निष्कर्ष:--

अस्तित्ववाद का मूल तत्व है चेतना। अस्तित्ववादचेतनशील मानव की ही चर्चा करता है। जड़ वस्तु की नहीं। चेतनशील व्यक्ति ही अपना अस्तित्व बना सकता है और अमरता प्राप्त कर सकता है।

5.12. जीवन की सार्थकता:--

जब व्यक्ति का जीवन यांत्रिकृत हो जाता है तभी जीवन की सार्थकता का प्रश्न उठता है।

डॉ.विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के अनुसार सद्सत सुन्दर-असुन्दर के द्वन्द्वों के भीतर क्रान्त दृष्टि कवि को मानव जीवन की सार्थकता नहीं दिखाई देती। उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि युगजीवन के इस धूल धुन्ध के पार देखने की भी क्षमता रखती है। कवि के व्यापक दृष्टिकोण को वाणी देते हुए इतिहास पुरुष कहता है। (25)

"तेरी सब व्याधियों का
ओ मानव! एकमात्र मैं ही निदान।" (पृ-12, इ.पु.)

इस बहुमुण्ड विभक्त क्षणग्रस्त खण्ड जीवन की सार्थकता तथा सत्यता हमें। इतिहास की पृष्ठभूमि के अखण्ड काल-प्रवाह से संयुक्त करने ही से उपलब्ध होती है।

देवराज की "अजय की डायरी, मूल्यबोध के एक नये आयाम को उद्घाटित करता है। नायक अजय निम्नस्तरीय देह सुखों को गर्हित करार नहीं देता, पर वह मानता और महसूस करता है कि जीवन की सार्थकता निरंतर जीवन और चेतना के उच्चतर रूपों की ओर बढ़ने में है। यही क्रिएटिव प्रोसेस, सर्जनात्मक जीवन-प्रक्रिया है। (26)

नचिकेता भी अपने जीवन को दाँव पर लगाकर जो सार्थक दृष्टि उपलब्ध करता है उसे अपने पास नहीं रखता जीवन को लौटा देता है- जीवन का खोजी है उससे भी अधिक सम्यक् जीवन को --

"सम्पूर्ण बोध/हो चुका काल को जो अर्पित
जीवन में वापस आया/वह शोधित प्रसाद।" (पृ-16, आत्मजयी)

असल में नचिकेता द्वारा उपलब्ध "तत्व" जीवन को सही संदर्भों में जीने की सलाह है --

"मैं तुझ में निहित/परिस्थितियों का सही ज्ञान ।"
(पृ-18, आत्मजयी)

कुंवर नारायण सचमुच नचिकेता को जीवन के प्रति इतना आशंकित दिखलाकर भी भारतीय आत्मबोध को पूर्णत: त्याग नहीं

सके हैं। इसीलिए जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति भी वे करते हैं तथा पशुवत् जीवन से इसे पृथक घोषित करते हैं ---

"जीवन केवल सुख की साधना नहीं
उसको पशु-सा केवल तन से बांधना नहीं।" (पृ-20, आत्मजयी)

कनुप्रिया के लिए कनु के साथ बिताए हुए क्षण तथा उसके शब्द ही उसके लिए आकर्षक थे। इसके बाद भी वह कनु से सार्थकता का प्रश्न करती है। अर्जुन की तरह कभी उसे भी समझा दे कि ---

"सार्थकता है क्या?" (पृ-74, कनुप्रिया)

संशय की रात के राम संशयित है वे भी यही प्रश्न करते हैं क्या यही सार्थकता है --

"शत चुभे बाण के टूटे फलक से/अधिक अपनी सार्थता
क्या है/ यदि यह सार्थता है।" (पृ-13, संशय की रात)

अहल्या भी जीवन की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाती है। वह गौतम ऋषि की पत्नी है लेकिन उनकी अपनी लब्धियाँ कब पूर्ण होगी। आत्मदान में ---

"बाध्यता से जुड़ी/ ये लब्धियाँ/कितनी अपनी हैं
कैसे पा सकते हैं सार्थकता।/जीवन को।" (पृ-4·आत्मदान)

नचिकेता को अपना जीवन व्यर्थ लगता है उसे ऐसा लगता है कि वह अपना जीवन व्यर्थ में गंवा रहा है, बेबस जो किसी के लिए सहायक न हो, उपयोगी न हो---

"लोगों के बीच/यूँ ही जीवित हूँ क्या - केवल गंवाया हुआ
किसी को उपलब्ध नहीं।?" ﴾पृ-33, आत्मजयी﴿

यम से साक्षात्कार करने के बाद जिज्ञासु नचिकेता को जीवन की व्यर्थता समझ में आती है। वे सुख, सुविधा, विश्राम, स्वप्न परिधि में रहना नहीं चाहता। क्योंकि वह जानता है कि इससे जीवन की सार्थकता प्राप्त नहीं होगी। इसलिए वह यम से कुछ और इस जीवन के अतिरिक्त कुछ और मांगता है --

"सुख, सुविधा, विश्राम नहीं/कुछ और ध्येय है।
--- --- ---
वही विमूढ व्यर्थ जीवन फिर
वह पागल संसार! नहीं।" ﴾पृ5 83, आत्मजयी﴿

अगर मानव जिन्दगी भर अशान्त रहे और बुद्धि कुटिल ही रहे तो वह कैसे जीवन सार्थक कर पाएगा। नचिकेता प्रश्न करता है। कब तक विडम्बनाओं से हृदय न ऊबेगा--

"यदि यही बुद्धि की दशा हमेशा बनी रही
तो स्वर्ग मिलेगा नहीं/मिला तो डूबेगा।" ﴾पृ-84, आत्मजयी﴿

इसलिए नचिकेता यम से साक्षात्कार करने पर वह यम से सही जिन्दगी जीने हेतु सही दृष्टि चाहता है और कुछ नहीं ---

"मिल सके अगर तो/एक दृष्टि चाहिए मुझे
जीवन बच सके/अंधेरा हो जाने से- बस।" ﴾पृ-84, आत्मजयी﴿

सूरज भी प्रतिदिन पृथ्वी पर अपने पद चिह्न द्वारा सार्थकता को दृष्टिगत करता है-- आत्मदान में --

"जैसे - जैसे दिन उघड़ता है।

--- ---

जो रागों की पहली पहचान के।" {पृ-1, आत्मदान}

डॉ॰हरिश्चन्द्र वर्मा के अनुसार जब अश्वत्थामा यह देखता है कि कृष्ण अपने अवसान के समय स्वयं बाण विद्ध होकर भी उसकी पीड़ा को धारण करते हैं। तो इस क्षमापूर्ण अनुग्रह के व्यवहार से उसकी वध - लिप्सा की मनोग्रन्थि छिन्न हो जाती है और वही दण्डित होकर मुक्त हो जाता है, मानसिक स्वास्थ्य के इस क्षण में जब उसे वृद्ध वधिक के मुख से कृष्ण का नूतन निर्माण और मर्यादायुक्त आचरण का पुनीत लोकसंग्रह सन्देह सुनने को मिलता है, तो उनके मन में अपने विकृत जीवन को इस नये अर्थ {एसेन्स} से सार्थक करने की प्रेरणा जाग्रत होती है।

"उसके इस नये अर्थ में/क्या हर छोटे से छोटा व्यक्ति
विकृत, अर्द्ध बर्बर, आत्मघाती, अनास्थामय
अपने जीवन की सार्थकता पा जायेगा।" {पृ-128, अंधायुग}

निष्कर्ष:---

प्रत्येक मानव को अपनी जिन्दगी पर पछतावा नहीं होना चाहिए। मृत्यु के समय उसे ऐसा न लगना चाहिए कि जीवन व्यर्थ गया। आज का आदमी जीवन की सार्थकता ही इस बात में समझता है कि वह भीड़ में भी पहचान लिया जाए।

निष्कर्ष :-

इस अध्याय में विभिन्न मानवीय संबंधों के प्रति मानव किस तरह का बर्ताव करता है तथा प्रेम, घृणा, इच्छा से वह समाज में रहता है, और प्रश्न, असहमति, असंतोष प्रकट करते हुए अपने स्व का, अपने विवेक का उपयोग करते हुए नैतिक मूल्यों पर बल देते हुए चेतना के द्वारा अस्तित्व का बोध करता है। और जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। अगले अध्याय में संप्रेषण और संपूर्ण अस्तित्वमय जीवन दर्शन में भी विभिन्न काव्यों के उदाहरणों को लेते हुए किस तरह से संप्रेषण करते हुए मानव संपूर्ण अस्तित्वमय को प्राप्त करता है। यह देखने का प्रयास किया जाएगा।

-=-=-

सन्दर्भ सूची
****

1• अस्तित्ववाद : दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका
-डॉ•लालचन्द गुप्त "मंगल" पृ-34

2• हिन्दी के खंडकाव्य - आधुनिक काल के खंड काव्य
-डॉ•शिवप्रसाद गोयल पृ-122

3• नयी कविता - कथ्य और विमर्श - रामधारी सिंह दिनकर, पृ-62

4• नयी कविता में प्रेम सम्बन्ध - डॉ•सुषमा भटनागर पृ-48

5• The more I am loved the more I lose my being -
Jean Paul Sartre - B eing & Nothingness - Pg-49

6• Thus my project of recovering myself is fundamenta lly
a project of absorbing the other - Jean Paul Sartre -
Being & Nothingness - Pg-475

7• T= You cannot love me, much as you would like if you are
unhappily in lover with your love for me, but your love with
your for me is no t in love with your - Franz Kafka -
The Diaries - Pg-22

8• विवेकानन्द ने कहा था - गिरिराज शरण पृ-104•

9•अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य
-डॉ•श्यामसुंदर मिश्र पृ-165•

10• नयी कविता में वैयक्तिक चेतना -डॉ•अवधनारायण त्रिपाठी,पृ-39•

11• प्रकर, दिसम्बर पौष 2040-83 - डॉ•मधुरेश नंदन कुलश्रेष्ठ,पृ-12•

12• अरविन्द ने कहा था- भारतीय संस्कृति के विषय में
-डॉ•गिरिराज शरण पृ-36•

13• पुनश्च - डॉ• हरिचरण शर्मा पृ–130

14• प्रकर, दिसम्बर , पौष – डॉ•मधुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ पृ–13•

15• नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर – डॉ•संतोषकुमार तिवारी,पृ–

16• नयी कविता में मूल्य बोध – शशि सहगल पृ–165•

17• नई कविता में प्रेम सम्बन्ध – डॉ•सुषमा भटनागर पृ–39•

18• अस्तित्ववाद दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका
–डॉ•लाल चन्द गुप्त"मंगल" पृ–35•

19• नई कविता में प्रेम सम्बन्ध – डॉ•सुषमा भटनागर पृ–6•

20• साहित्य के विविध आयाम – धर्मवीर भारती पृ–59•

21• आलोचना – मनोहर वर्मा – 26 अप्रैल–1959, पृ–123•

22• अस्तित्ववाद – महावीर दाधीच पृ–38

23• मार्डन मैन इन सर्च आॅफ सोल – सी•जी•जुंग पृ–194•

24• देवराज – साहित्यकार और चिन्तक –डॉ•विश्वंभरनाथ उपाध्याय
–डॉ•प्रेमशंकर पृ–6•

25• वही वही पृ–4•

26• वही वही पृ–173•

27• नयी कविता के नाट्य काव्य – डॉ•हरिश्चन्द्र वर्मा पृ–187•

****

छठा अध्याय

****

संप्रेषण और संपूर्ण अस्तित्वमय जीवन - दर्शन

****

मानवीय इकाई संप्रेषण के द्वारा अन्य प्राणियों से अपनी विशिष्टता और उच्चता प्रामाणित करती है। संप्रेषण केवल दूसरे मनुष्यों की प्रस्तुती में ही संभव है।

मनुष्य अपनी विभिन्न परियोजनाओं के माध्यम से स्वयं को अभि-व्यक्त करता है और विभिन्न कार्यकलापों में स्वयं को ढालता हुआ अपने अस्तित्व को प्रस्तुत करता है। व्यक्ति सारगर्भित स्थितियों में चयन करता है। यह मानवीय आत्मपरकता है और इसे संप्रेषित किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन ब्रह्म की पूर्णता में विश्वास करता है तथा आत्मा और ब्रह्म के एकत्व द्वारा वह व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता है। **ब्रह्म पूर्ण है।** इस पूर्ण में संपूर्ण को घटा देने से पूर्ण ही शेष बचता है। यह पूर्ण निरपेक्ष राशि है। अत: कहीं भी द्वैत नहीं है। पूर्णमदं पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, अत: ब्रह्म हर समय से उपस्थित है उसके अस्तित्व को खतरा नहीं है। चूँकि व्यक्ति भी ब्रह्म है। अत: उसे भी अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ कर्म करना चाहिए। श्रेष्ठता के साथ किया गया कर्म योग है। अर्जुन जब अपने प्रियजनों के लिए दुखी होते हैं, तब कृष्ण सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ युद्ध करने की सलाह देते हैं।[1]

डॉ॰हुकमचन्द राजपाल कहते हैं मानव एक इकाई अथवा व्यक्ति रूप में तो समाप्त हो सकता है पर इससे जीवन का अस्तित्व अथवा क्रम समाप्त नहीं हो जाता। क्योंकि एक समाप्ति सम्पूर्ण अस्तित्व की इति नहीं कही जा सकती।﴾2﴿

प्रामाणिक अस्तित्व के धरातल पर सम्पूर्ण अस्तित्वमय से सम्प्रेषण सम्भव है। संपूर्ण अस्तित्वमय उस विश्व में नहीं पाया जा सकता, जिसका अनुभव हम करते हैं। कार्ल यास्पर्स का कथन है कि "निर्मित स्थायित्व मानव-संस्थान और सभी पार्थिव अस्तित्व भ्रमपरक है। प्रत्येक वस्तु विकास परक और अशाश्वत है। अशाश्वत तत्वों की स्वीकृति सकारात्मक परिणामों को जन्म नहीं देती।﴾3﴿ इस तरह कालयास्पर्स भारतीय चिन्तन के अत्यधिक निकट हैं। वह लोकोत्तर सम्पूर्ण अस्तित्वमय की परिकल्पना को महत्व देता दिखाई देता है और आन्तरिक अस्तित्व के उदात्त स्वरूप की व्याख्या करता हुआ"स्वयं अस्तित्वमय" के सिवाय किसी बाहरी शक्ति के आश्रय और आलम्बन की निरर्थकता मानता है।

6·1· सम्प्रेषण :---

संप्रेषण केवल भाषा से ही नहीं बल्कि मुद्रा से भी मन की भावनाओं को व्यक्त किया जा सकता है। कनुप्रिया काव्य में वह कहती है ---

"तुम्हें वह प्रणाम की मुद्रा और हाथों की गति
इस तरह भा गयी कि
तुम मेरे एक - एक अंग की एक - एक गति को
पूरी तरह बांध लोगे । "﴾पृ-16, कनुप्रिया﴿

6•2• स्पर्श:--

संप्रेषण का एक और माध्यम है स्पर्श। चीड़ और देवदारु वृक्ष का पुरुषार्थ भी हिम को स्पर्श कर शेष हो जाता है और तब आरम्भ होता है। विशाल निर्वेद हिम वक्षस्थल से अकेले सुपर्ण भोजपत्र की स्वाहा - यात्रा --

"चीड़ और देवदारुओं का पुरुषार्थ भी
हिम के पावित्र्य का/केवल स्पर्श कर
शेषहो जाता है। "(पृ-137, म•प्र)

प्रकृति ही नहीं महाप्रस्थान में युधिष्ठिर ने भी अपने, वैचारिक, व्यक्तित्व को सम्बन्ध स्थिति, वांछा से स्पर्श होने नहीं दिया। अर्थात प्रज्ञा अग्नि को किसी का स्पर्श होने नहीं दिया।

"किसी सम्बन्ध/ किसी स्थिति/ किसी वांछा
किसी को भी इस प्रज्ञा अग्नि का
स्पर्श नहीं करने दिया।"(पृ-12, म•प्र•)

युधिष्ठिर ने तो अपनी प्रज्ञा अग्नि को किसी का स्पर्श होने नहीं दिया। लेकिन हवा तो चुप नहीं बैठ सकती, वह सभी को स्पर्श करती हुई विभिन्न मनोभावों को जगाती हुई चली जाती है। कनुप्रिया कहती है कि आज की रात हर दिशा में अभिसार के संकेत क्यों हैं --

"हवा के हर झोंके का स्पर्श
सारे तन को झनझना क्यों जाता है।"(पृ-53, कनुप्रिया)

आत्मदान की अहल्या का भी यही हाल है। गन्ध से बोझिल वायु उसे उकसाती है --

"गन्ध बोझिल वासंती वायु के स्पर्शों ने
नित ही मुझ को उकसाया है।"(पृ-15, आत्मदान)

जिस तरह से हवा संप्रेषित करती है। उसी प्रकार से सूर्य की किरणों अहल्या के शरीर को बेध रहीं थीं और उनके स्पर्श से ऐसे लग रहा था, जैसे कि माया का आवरण गिरने लगा है। अहल्या पूछती है---

"अंधकार को बेध तुम्हारे स्पर्श/पहुँचते मुझ तक कैसे।"
(पृ-2, आत्मदान)

सूर्य की किरणें अहल्या को बेधती हैं तो इन्द्र भी अपनी पहली रश्मियों से अहल्या का स्पर्श करते हैं और उसमें अजीब सा रोमांच भर देते हैं। अहल्या की सम्पूर्ण देह कांप उठती है। वह कहती है ---

"मेरी अलसायी, निढाल देह पर
उन्मत स्पर्श दिये थे धर।"(पृ-6, आत्मदान)

पति-पत्नी सम्बन्धों पर गौतम ऋषि खरे नहीं उतरते। उन्होंने कभी स्नेह से भी अहल्या को स्पर्श नहीं किया। बल्कि वे अहल्या को उन्मुक्त कर देते हैं। अहल्या कहती है --

"स्नेह - युक्त अपने स्पर्शों से/नहीं दिया कभी क्लेश।"
(पृ-33, आत्मदान)

नचिकेता को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई नन्हीं उंगलियाँ उसे स्पर्श कर कह रही हों कि अब घर चलें। उसके नेत्रों की सरल जिज्ञासा में नचिकेता पुन: अपना भविष्य देखता है। उपस्थित, उपलब्ध,पूर्ण आश्वस्त ---

"मेरी उंगलियों में किसी नन्हें स्नेह का संस्पर्श
अब घर चलो।" (पृ-73, आत्मजयी)

लेकिन नचिकेता को डर है कि कहीं उसकी पीड़ा के स्पर्श के कारण खिला हुआ क्षण कुम्हला न जाये। वह कहता है ये उज्जल दिशाएँ कितने सजीव उल्लास से भर गयी हैं। वह ---

"मेरे अपवाद पीड़ाओं के स्पर्श से कहीं
कुम्हला न जाये यह खिला क्षण।"(पृ-97,आत्मजयी)

उसे यह बोध होता है कि स्पर्श के सुख से भी कुछ गूढतर सुख है इसलिए मानव को स्पर्श के सुख में समर्पित नहीं हो जाना चाहिए।--

"समर्पित मत हो त्वचा को/स्पर्श गहरे मात्र
इससे श्रेष्ठतर मूर्धन्य सुख।"(पृ-115, आत्मजयी)

इसलिए नचिकेता एक ऐसे स्पर्श की अपेक्षा करता है जो अमिट हो--

"अमिट स्पर्श निष्कलंक मर्यादाओं के
बात एक बनने का साहस - सा करती।"(पृ-15,आत्मजयी)

निष्कर्ष:-- स्पर्श संप्रेषण का माध्यम अवश्य है लेकिन यह मानव को बोध कराता है कि यह सुख ही अन्तिम सुख नहीं।

6·3· <u>सूक्ष्मता</u> :---

सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी अपना अस्तित्व रखती है।

इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष स्त्री के रूप सौंदर्य की बात करते हैं कि आज की नारी पौष्टिक भोजन करते हुए गालों पर क्रेम - पाउडर का सूक्ष्म पर्त लगाते हुए श्रृंगार पर ध्यान देने लगी है।

"गालों पर शुभ्र क्रीम पाउडर की सूक्ष्म पर्त
घुंघराले, कटे केश ।" §पृ-18, इतिहास पुरुष§

जब मन जलता है तो चाहे कितने ही देश विदेश कोई क्यों न विचरण कर ले इतिहास पुरुष कहते हैं कि उसे शांती नहीं मिलती ---

"कैसी यह सूक्ष्म-जटिल - बुद्धि की विडम्बना है
भाग्य की उलटबांसी/सत्यव्रती, रसकांक्षी।" §पृ-15, इ·पु§

इसलिए तो इतिहास पुरुष अपनी सूक्ष्म निगाहों से देखते हुए कहता है कि मानव पग-पग पर छला जाता है --

"पग - पग पर छले, डरे मानव के चित्त की
देखें अव्यक्त आह/सूक्ष्म जरा नम निगाह।" §पृ-40, इ·पु§

विज्ञान ने ऐसे सूक्ष्म यंत्र बना लिए हैं जो जल थल समीर में मन के वेग से दौड़ते हैं। इतिहास पुरुष कहते हैं ---

"सूक्ष्म समीकरणों के पेचीदे हलों से/रचना के मन्त्र ले
गढ़ लेता यान-यन्त्र, जल - थल समीर में
मनवेगी दौड़ते ।" §पृ-29, इ·पु·§

यही नहीं विज्ञान ने ऐसे सूक्ष्म तंत्र भी बना लिए हैं जो सूक्ष्म अणुओं के विशाल ग्रह तारों के गति कम्पन को ज्ञापित करता है। इतिहास पुरूष कहते है ---

"गणना प्रवीन, सूक्ष्म अणुओं विशाल ग्रह
तारों के गति - कम्पन
नाप - जोख, मानव की देवोचित शक्तियों का
करते ज्ञापन वधीन।" (पृ-16, इ॰पु॰)

विज्ञान के प्रभाव से मानव को बचाने के लिए इतिहास - पुरूष मानव के सूक्ष्म - मन को छूना चाहता है, जिससे कि मानव का मन दृगकर्षों दर्पण के रूप में बदल जायेगा। और वह मानव के मन को अच्छी तरह समझ सकेगा --

"मेरी विशाल दिव्य छाया के छूते ही
मानव का सूक्ष्म मन
बन जाता जगती के लाख - रूपों का
दृगकर्षी दर्पण।" (पृ-6॰ इ॰पु॰)

कितने ही आवर्तनों, उप्पलव के बाद प्रकृति से लेकर आदमी की पहचान में सभी परिवेश बदले, कल्पांतर काव्य में ---

"आई है दुनिया अब सूक्ष्म के किनारों तक।" (पृ-25, कल्पांतर)

निष्कर्ष:--

अस्तित्ववादी दर्शन में सूक्ष्मता का अत्यधिक महत्व है। क्योंकि मानव का स्वभाव है कि वह शक्ति तो और ही बनता है। वह यह

भूल जाता है कि हाथी जो कार्य नहीं कर सकती वह चींटी कर सकती है। अर्थात् सूक्ष्म वस्तु का भी अस्तित्व होता है।

6·4· लज्जा :-

डॉ·श्यामसुन्दर मिश्र के अनुसार संचेतना के स्तर पर लज्जा का गठन भावस्थिति में रहता है। मूलत: दूसरों की उपस्थिति में अस्तित्वमय की प्रतिक्रिया है। दूसरों के लिए स्वयं के प्रति चेतन करती है और अंतत: वह उसे लज्जा के रूप में अभिव्यक्त करता है। §4§

कीर्केगार्द कहता है -- "मैं लज्जित हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है। §5§

अट्ठारह दिनों का महासंग्राम जो अधर्म से लड़ा गया था, जिसमें अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य को भी अधर्म से मारा गया और जिसका बदला अश्वत्थामा लेना चाहते हैं। कृतवर्मा कहते हैं अश्वत्थामा से कि अपनी अधर्म युक्त अज्ज्वल वीरता कहीं और आजमाएँ क्योंकि वे कहते हैं --

"खत्म हो चुका यह लज्जाजनक युद्ध। " § पृ·65, अंधायुग §

भीम, कर्ण, हलधर जैसे सोमपायी देवों के लहू में प्रवेगवान ये वासनाएँ उगी-पलीं इसलिए इतिहास पुरूष कहते हैं ---

" -- मत उनसे लज्जित हो, नहीं उन्हें
हरगिज़ अपूत मान। " § पृ· 26, इ·पु· §

लज्जा की मनोवृत्ति का चित्रण कीर्केगार्द के दर्शन में विशेष रूप से मिलता है। उसने लज्जा की अनुभूति में अस्तित्व को खोजा है लज्जा की यह अस्तित्ववादी चेतना राधा के व्यक्तित्व में भी समाहित है --

"तुम यह क्यों नहीं समझ पाते कि लाज़
सिर्फ जिस्म की नहीं होती/मन की भी होती है।"
(पृ-23, कनुप्रिया)

स्त्री जिस पुरुष से प्रेम करती है उसे देखते ही प्रेम में वह सिमट जाती है। कनुप्रिया कहती है कि उसने अपने शरीर के पोर - पोर को अवगुण्ठन में ढंक उसके सामने आयी है वह और उसे कितनी लाज आती थी और इस कारण से ---

"मैं ने अक्सर अपनी हथेलियों में
अपना लाज से आरक्त मुँह छिपा लिया है।" (पृ-14, कनुप्रिया)

और इस लज्जा के क्षण में कही गई बातों का कोई अर्थ था या नहीं यह भी वह नहीं जानती।--

"लजाते हुए/ मैं ने जो कहा था
पता नहीं उसमें कुछ अर्थ था भी या नहीं।" (पृ-65, कनुप्रिया)

राधा के चरणों को कनु अपनी गोद में रख जंगली लतरों के पके फलों को तोड़ कर, मसल कर उसकी लाली से राधा के पावों पर महावर रचते हैं। तो कनुप्रिया कहती है --

"तो मैं लाज से धनुष की तरह दोहरी हो जाती हूँ।"
(पृ-26, कनुप्रिया)

निष्कर्ष:--

केवल अस्तित्वान व्यक्ति ही लज्जित होता है उसमें वह खूबी होती है वह बड़प्पन होता है कि वह गलत कार्य पर लज्जित हो सके और

अस्तित्वहीन व्यक्ति को लज्जा नहीं होती क्योंकि उसका कोई अस्तित्व नहीं होता।

6·5· अस्तित्व खोना :--

जब व्यक्ति स्वतन्त्र न होकर किसी के अधीन रहता है या फिर किन्हीं परिस्थितियों में वह किसी का दास बनता है। तब उसका अस्तित्व टूटता है, बिखरता है। क्योंकि दूसरे के लिए उसका अस्तित्व कोई मायने नहीं रखता।

महाप्रस्थान काव्य में द्रौपदी का चीरहरण कर दुशासन यह प्रतिपादित करते हैं कि नारी अबला है और वह केवल वस्तु है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं---

"व्यक्ति को वस्तु बनाया/ पण्य हो गयी
प्रियापदी कृष्णा।-"(पृ-66, म·प्र·)

इसका कारण था धर्मराज ने अपनी भार्या को दाँव पर रखा और वे हार गए थे। यह नारी की कैसी दुर्गति है कि उसे मात्र वस्तु के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। फलस्वरूप दुशासन दासी का प्रयोग कर चीरहरण करते हैं तो दुर्योधन अपनी जंघा पर बलात् बैठाते हैं, सभी चुप और शांत देखते रहते हैं क्योंकि ---

"हार गये थे धर्मराज/सम्पूर्ण राज्य के साथ
स्वयं की भार्या भी। "(पृ-64, महा प्रस्थान)

एक ओर मानव ही मानव की दुःस्थिति का कारण बनता है तो दूसरी ओर विज्ञान अपने वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा मानव को एक पशु

मान उस पर वह रसायनिक प्रयोग करता है। कारण मानव ने खुद अपने ही हाथों से इस विज्ञान को पैदा किया है। कल्पांतर काव्य में स्वर्ण दैत्य कहते हैं। वैज्ञानिक से कि नये रसायन,अस्त्र, शस्त्र। विनाश की विधियों का ---

"--- प्रयोग इन निर्धन लोगों पर करवाओ
उन्हें परीक्षण का चूहा, खरगोश बनाओ।"(पृ-73,कल्पांतर)

विज्ञान मानव के अस्तित्व का नामों - निशान मिटा देना चाहता है। कल्पांतर काव्य में स्वर्ण दैत्य कहता है।

"क्या वह कीड़ा इंसान/कर रहा है विरोध अंधियारे का
--- --- --- ---
ऐसा आपरेशन कर दूंगा/जिससे विचार भी रहे न उसके
दुनिया में।"(पृ-69,कल्पांतर)

और जब मानव शरीर और मन से टूट जाता है तब विज्ञान उसे तोता पाठ पढ़ाता है, क्या स्थिति बन गई है मानव की, खुद अपने ही हाथों मानव ने अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारी है- मनदोहक कहता है--

"सब बुद्धि,तर्क,निर्णय, उनका हमने छीना
अतिनायक के अनुभवी वचन को बार-बार
रटवाया है।"(पृ-89, कल्पांतर)

जबतक व्यक्ति का अस्तित्व रहता है तबतक ही उसका मान है, सम्मान है, सबकुछ छोड़ - छाड़कर हिमपथ पर प्रस्थान करनेवालों का क्या अस्तित्व रह जाता है, यही द्रौपदी कहती है अश्वत्थामा से।

महाप्रस्थान में ---

"सन्दर्भ से कट जाने के बाद/कैसा ही मेधावी/
घास की अनाम पत्ती की भाँति
कैसा निरीह हो जाता है/अश्वत्थामा!" ﴾पृ-89, म॰प्र॰﴿

ऐसी ही स्थिति अहल्या की भी है वह अपने पतन का कारण इन्द्र को मानती है। लेकिन साथ ही साथ इसमें उसके पति गौतम ऋषि का भी उतना ही हाथ है, क्योंकि वे उसे मंझधार में छोड़ चले जाते हैं। अहल्या कहती है आत्मदान में ---

"धारा-मध्य छोड़ मुझे नौका - सी/ तुम
तट पर खड़े हुए माझी हो।" ﴾पृ-28, आत्मदान﴿

ऐसी ही स्थिति शम्बूक की है। शम्बूक के राम एक शूद्र प्राणी का वध कर देते हैं। उसका अस्तित्व मिटा देते हैं। ऐसे शूद्र इंसान की कब्र पर न तो कोई रोने वाला है और न ही दुख करनेवाला। शम्बूक कहते हैं---

"जहाँ पर मैं तोड़ा गया/ दुनिया ने
रहने दिया मुझको/वहाँ ही पड़ा।" ﴾पृ-81, शम्बूक﴿

आत्मजयी का नचिकेता भी अपने आपसे प्रश्न करता है कि "वह क्या है" उसका क्या अस्तित्व है और उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह बुना नहीं बस एक अलग सूत है।

"छूते ही चीज़े मुझमें से छन जाती
और मैं विपर्यस्त हवाओं की तरह
सर्वत्र बिखर गया हूँ।" ﴾पृ-52, आत्मजयी﴿

उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह अपनी पहचान खो रहा है --

"सन्दर्भ - रहित/पूर्वानुरागों से टूटा अस्तित्व किन्तु
अपने को सिद्ध न कर पाये।" (पृ-28, आत्मजयी)

जिस प्रकार से नचिकेता अपने अस्तित्व को टूटा मानते हैं। उसी प्रकार से संशय की रात के राम भी अपने आप को यह मानते हैं --

"भटके सार्थ के/टूटे हुए सन्दर्भ हैं।" (पृ-11, संशय की रात)

तो अहल्या भी इन्द्र में अपने अस्तित्व को खो, उनमें लय हो जाती है

"मुझ में लय हो गये आदित्य/
और मैं उनमें लयमान।" (पृ-6, आत्मदान)

फलस्वरूप, अहल्या को अपने पति गौतम ऋषि से श्राप मिलता है। अब उसके पास क्या रह गया है वह कहती है ।

"अब मैं बुझी - सी राख शेष हूँ /सोयी
चुकी - सी आह/पिटी सी साँस।" (पृ-16, आत्मदान)

लेकिन इन्द्र जो इस कृत्य के उतने ही समभागी है, जितनी की अहल्या फिर भी वे आकाश में विहरण करते हैं और अहल्या का अस्तित्व खंड खंड हो जाता है। इसे आकाश और धरती के रूप में चरितार्थ करते हुए कहा गया है आत्मदान में ---

"आकाश ने भोगा एकच्छत्र/अखण्ड राज्य
किन्तु धरती को/ बाँटा खण्ड - खण्ड में।" (पृ-21, आत्मदान)

कैसी विडंबना है नारी पुरुष में विलय होते हुए अपने अस्तित्व को खोते हुए तृप्ति पाती है --

"स्वयं को खोकर/पुरुष में/ सर्वांग विलय हो
नारी पाती है अपनी चिर गुप्त साध।" (पृ-15, आत्मदान)

अहल्या की ही तरह कनुप्रिया भी कृष्ण में खो जाना चाहती है वह अपना अलग व्यक्तित्व रखना नहीं चाहती। वह कहती है।

"---- मैं तुम्ही में हूँ
तुम्हारे ही रेशे - रेशे में सोयी हुई।" (पृ-12, कनुप्रिया)

कनुप्रिया राधा को अपने सम्पूर्ण सर्म्पण के लोभी प्रेमी कृष्ण का अस्तित्व राधा के रोम-रोम के साथ बाहर की सृष्टि के भी अणु-रेणु को व्याप जाने का उसे बोध होता है। अपने प्रेमी कृष्ण के साथ वह उसके एक - एक इशारे पर बाँसुरी की धुन पर उसकी ओर खिंच जाती है। तभी तो कनुप्रिया कहती है ---

"तुमको क्या मालूम कि/मैं कितनी बार केवल तुम्हारे लिये
धूल में मिली हूँ। " (पृ-12, कनुप्रिया)

कनुप्रिया में राधा जहाँ अपना अस्तित्व कनु के महान बनने में खो देती है तो दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो सारे संसार को अपने मुट्ठी में बंद करना चाहते हैं, जैसे कि संसार का कोई अस्तित्व ही न हो, आत्मजयी काव्य में --

"यहाँ तक कि सारा संसार/मेरी सृष्टि में
सिकुड़कर तिल बराबर रह जाय/और इसे जब चाहूँ मूंदकर
अंधेरे में घोल दूँ।" (पृ-117, आत्मजयी)

निष्कर्ष:---

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका अस्तित्व बहुत महत्त्व रखता है। सामाजिक कारणों से अगर उसका अस्तित्व बिखरता है। टूट जाता है, तब भी यह दर्शन यह कहता है कि व्यक्ति को निराश नहीं होना चाहिए। उसे फिर अपने अस्तित्व को कायम करने का प्रयास करना चाहिए। यह इसका सामाजिक रूप है। आत्मा और परमात्मा के अर्थ में लिया जाय तो उसमें मानव अपना अलग अस्तित्व न रखकर पूर्ण रूप से ईश्वर में अपने अस्तित्व को लोप कर देना चाहता है। यह उसका आध्यात्मिक अर्थ हुआ।

6·6· मुक्ति :---

विवेकानन्द संचयन में विवेकानन्द ने कहा - एक परमाणु से लेकर मनुष्य तक, जड़-तत्व के अचेतन,प्राणहीन कण से लेकर इस पृथ्वी की सर्वोच्चता - मानवात्मा तक, जो कुछ हम इस विश्व में देखते हैं, वे सब मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं। असल में यह समग्र विश्व इस मुक्ति के लिए संघर्ष का ही परिणाम है।॥6॥

इसलिए तो कनुप्रिया काव्य में कनुप्रिया के अधरों, पलकों, बाहों, चरणों, अंग - प्रत्यंग संक्षेप में सारी चम्पकवर्णी देह को, कनु मात्र पग-डंडियाँ मानते हैं, जो चरम साक्षात्कार के क्षणों में रहती नहीं रीत - रीत जाती है। कनु के इस कथन का आधार शरीर और चेतना का सम्बन्ध है। कनुप्रिया उसे अधिक स्पष्ट करती हुई, मुक्ति से जोड़कर कहती है ---

"मुझे ऐसा लगा है
जैसे किसी ने सहसा इस जिस्म के बोझ से
मुझे मुक्त कर दिया है।" ॥पृ-30, कनुप्रिया॥

श्रृंगारिक रूप में जहाँ कनुप्रिया मुक्त होती है तो शम्बूक काव्य में शम्बूक को देह से मुक्ति प्राप्त होती है। विप्रबालक की मृत्यु का संबंध शम्बूक से जोड़ने के कारण श्रीराम समाज के लिए शंबूक की हत्या कर उन्हें मुक्त करना चाहते हैं, जिस पर शम्बूक .कहते हैं मुक्ति दूसरों के हाथों में नहीं होती वह खुद अपने ही हाथों में होती है। राम कहते हैं --

"तुम्हें मैं मुक्ति देता हूँ/शान्ति मन को मिले
ऐसी मुक्ति देता हूँ/"।

जिस पर शम्बूक कहते हैं कि ऐसी मुक्ति नहीं चाहिए क्योंकि

"मानता हूँ मुक्ति, मानव की/ उसी के साथ।" ॥पृ-63, शंबूक॥

वध के पश्चात् शम्बूक को एक अलग ही प्रकार की अनुभूति होती है, जैसे पूर्ण रूप से वह मुक्त हो गया है और उनकी दृष्टि जैसे सर्वव्यापी हो गयी है ---

"जड़ता की सीमा में/मुक्ति की ऐसी
विडम्बना भरी अनुभूति।" ॥पृ-82, शम्बूक॥

इधर राम मुक्ति देते हैं शम्बूक को तो उधर महाप्रस्थान में द्रौपदी मुक्ति चाहती है। जब अश्वत्थामा मणि की मांग करता है। द्रौपदी से, जो उसके पास नहीं है। पर वह किसी भी हाल में मणि

चाहता है। हिम से पीड़ित द्रौपदी प्राणों की मणि देकर मुक्त हो जाना चाहती है ---

"चाहो तो/ मेरे प्राणों की मणि ले लो अश्वत्थामा!
और मुझे हिम की इस यातना से/मुक्त हो जाने दो।"
§पृ-91, म•प्र•§

ऐसी ही आशा करते हैं संशय की रात के राम कि युद्ध के बाद शांति होगी और उपलब्धियों की सिद्धि होगी इस मिथ्यात्व से मुक्ति की प्रार्थना करते हैं भाद्रपदी वृष्टि से ---

"इस मिथ्यात्व से/इस मरीचिका से/मुक्ति दो।"
§पृ-33, संशय की रात§

तो आत्मजयी काव्य में "प्रलोभन" अंश में नचिकेता को ऐसा प्रतीत होता है कि प्रलोभन एक मनुष्य का रूप धारण कर यह कह रहा हो कि वह उसे भूल जाए और यह सोचे कि स्वप्न में उसने चाहा था और यही उसे मुक्ति देगा---

"मुझे भूल जाना, या/इस तरह सोचना
जैसे मैं स्वप्न में चाही गयी थी/यह तुम्हें मुक्ति देगा।"
§पृ-43, आत्मजयी§

दूसरी ओर विज्ञान मानव की मुक्ति की चाहत को खतम कर देना चाहता है। कल्पांतर काव्य में स्वर्णदैत्य कहते हैं ---

"जाओ घेरो इन इंसानी कीड़ों को/जो मुक्ति चाहते
रोगों के कीटाणु बिखेरो/भूख उगाओ।"§पृ-73,कल्पांतर§

और यही नहीं विज्ञान मानव को मन - वाणी से मुक्त कर, उनमें स्वार्थ, अर्थ, काम की क्षुधा बढ़ाकर उनमें पशुता को जाकर --

"मन वाणी को मुक्त बताकर
अर्थ , काम की क्षुधा बढ़ा कर
मनुज विरोधी स्वार्थ सिद्ध में
मानव की पशुता उकसाकर ।"(पृ-32, कल्पांतर)

यह कैसी विडंबना है, जो दूसरों की हत्या करे उसे मुक्ति मिलती है। लेकिन जो आत्मघात करे उसे कभी मुक्ति नहीं मिलती। अंधायुग में ---

"मुक्ति मिल जाती है सभी को कभी न कभी
वह जो बन्धुघाती है।
----- --- --- ---
किन्तु आत्मघाती/भटकता है अंधियारे लोकों में
सदा - सदा के लिए बनकर प्रेत।"(पृ-113, अंधायुग)

माता गांधारी के श्राप से श्रीकृष्ण की मृत्यु होती है और अन्तिम समय में वे अश्वत्थामा के जिनको कृष्ण ने श्राप दिया था, उनकी पीड़ा को हर उन्हें पीड़ा से मुक्त करते हैं। अश्वत्थामा कहता है ---

"मैं हूँ दण्डित/लेकिन मुक्त हूँ।"(पृ-129, अंधायुग)

नचिकेता आत्मजयी काव्य में पिता वाजश्रवा के क्रोध का मारा है। वह पिता के आदर्शों से मिथ्या सत्यों से मुक्ति चाहता है। इसलिए वह प्रार्थना करता है। आत्मजयी में ---

"धर्माधिकारी/इन प्रासादों के वासी
इन मिथ्या सत्यों से अब मुझको मुक्त करो।"
(पृ-31, आत्मजयी)

नचिकेता अपने आपको निर्जीव वस्तुओं के आकर्षण से मुक्त करना चाहता है। आत्मजयी के "जिज्ञासा" प्रसंग में ---

"अभी और कितनी दृढ़ता से/मुझे विमुख होना होगा।
--- --- --- ---
कैसे निर्जीव वस्तुओं के आकर्षण से
हेकी आत्मा को मुक्त करूँ?" (पृ-83, आत्मजयी)

नचिकेता "आत्मजयी" के "आत्महत्या" प्रसंग में यज्ञ के लिए हुई बलि के बाद की स्थिति की कल्पना करता है --

"बलि के बाद की वेदी सदृश एकान्त
--- --- ---
समर्पण की इस व्यथा के बाद/केवल मुक्ति हो।"(पृ-58,आत्मजयी)

जिसे देख नचिकेता को दुख होता है और पिता से वाद - विवाद कर श्राप पाता है। इस श्राप के बाद नचिकेता जिस बन्धन में इतने वर्षों से बंधा था अब वह मुक्त हो गया है ---

"बांध सकनेवाली कड़ियाँ बिखर गयीं/एक
भटकती चिन्तनशीलता
जिसके लिए आजीवन कारावास तक की सुरक्षा नष्ट हो चुकी
अब मुक्त ---------।(पृ-48, आत्मजयी)

नचिकेता को मुक्त होने के पश्चात् एक ऐसे प्रकाश की अनुभूति होती है। आत्मजयी में ---

"इस प्रपंच से छूटते/इतनी मुक्ति कि विरक्त भी जी सकूँ।"
(पृ-51, आत्मजयी)

नचिकेता को यम आत्मशक्ति प्रसंग में मुक्ति का मार्ग बताते हैं। वे कहते हैं कि बाहर के अन्धकार से कहीं भीतर प्रकाश है। और वे फिर कहते हैं कि नचिकेता से कि तेरे होने और न होने का बाहर से अधिक पुष्ट भीतर प्रमाण है। इसलिए --

"उसे सिद्ध कर/ तू पाएगा/ वही स्त्रोत है।
वही मुक्ति है/ वही त्राण है।" (पृ-75, आत्मजयी)

जिस तरह से नचिकेता को मुक्ति प्राप्त होती है। शम्बूक काव्य में शम्बूक भी मुक्ति की आशा करते हैं। वे घोंसले से नीचे गिरे चिड़िया के बच्चे को देखते जो उड़ने की शक्ति पा पंख खोल पृथ्वी छोड़कर --

"नीले आकाश में/ मुक्त उड़ जाता है।" (पृ-84, शम्बूक)

व्यक्ति केवल मुक्ति की आशा करने मात्र से कुछ नहीं होता, उसे अपने पुराने - पिछड़े संप्रदायों से भी मुक्त होना है और बदलते हुए परिवेश के अनुसार अपने आप को ढालना है कल्पांतर काव्य में --

"क्रूर संप्रदायों से मुक्ति नया जीवन है।
नागरी नवीना जिज्ञासा है मानव की
माध्यम विविधता का/समता अनागत की।" (पृ-37, कल्पांतर)

अब मानव के प्रयासों से विज्ञान के कुप्रभाव से पृथ्वी को अब मुक्ति लब्ध हुई है ---

सदियों के बाद हमारी मुक्त हुई दुनिया ।"§पृ-40, कल्पांतर§

जब पृथ्वी मुक्त हो गई तो आत्मजयी का नचिकेता भी मुक्त आत्मा की कल्पना करता है, जो अदृष्ट रहकर एक कलाकार ईश्वर की तरह अनुपस्थित अथाह समय में जिये --

"केवल आत्मा/ अमरत्व।"§पृ-117, आत्मजयी§

तो महाप्रस्थान काव्य में युधिष्ठर धर्मपथ को पार कर स्वर्ग द्वार पहुँचते हैं। जहाँ मानव देह से मुक्त हो जाता है। इसी संदर्भ में डॉ॰संतोष कुमार तिवारी कहते हैं सरस्वती माँ को "प्रज्ञा अग्नि" का स्तवन स्वीकार कराते हुए आभ्यन्तर श्वेत - व्यक्तित्व युधिष्ठर धर्म - चक्र का साक्षात्कार करते है। वे इतिहास और गाथाओं के उस कोलाहल से मुक्त हो जाते हैं। जहाँ राज्याकांक्षी की गोद में कटी हुई मानवता जयद्रथ का रक्तरंजित सिर होती है।§7§ वे देह का बोध त्यागकर आत्मा में हिमालय का वरण करते हैं ---

"जो प्रतीती शेष रह जाती है/ उससे अपने को
सर्वथा मुक्त कर लेना/ देह को
अपने ही हाथों उतारकर/ प्रक्षालित करना है।§पृ-138, म॰प्र॰§

डॉ॰मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ के अनुसार अहल्या सोचती है। देह मुक्ति आवश्यक है परन्तु आत्ममुक्ति परम आवश्यक है। देह को योग द्वारा जीता जा सकता है। आन्तरिक शक्ति के समक्ष बाह्य - बन्धन निरस्त हो जाते हैं। इस चिन्तन के साथ - साथ अहल्या तदनुरूप व्यवहार

करके अपने तपस्वी शरीर को आलोक से आवृत्त पाती है। अहल्या को आत्मबोध होता है उसे भक्ति नहीं अब मुक्ति का मार्ग मिल जाता है--

"मेरा यह तप नहीं आत्म - बंधन अब
आत्म ज्ञान था/ सहज स्वीकार्य मार्ग
भक्ति छोड़ मुक्ति का दुर्जय उपाय ।"{पृ-41, आत्मदान}

निष्कर्ष :---

अस्तित्ववाद के लिए मुक्ति एक परम तत्व है क्योंकि इस मार्ग के द्वारा ही उसे आत्मबोध होता है। आत्मानुभूति होती है और मानव ईश्वर से आत्मसाक्षात्कार करता है।

6·7· आत्मानुभूति : आत्मसाक्षात्कार :---

आत्मचिन्तन ही जीवन का सत्य है तथा एकमात्र वैयक्तिकता ही वास्तविक महल का केन्द्र बिन्दु है।

सूरज और चन्द्रमा के प्रकाश से किसी के मन का अंधेरा दूर नहीं होता। मन के अंधेरे को दूर करने के लिए उसे आत्मज्ञान की आवश्यकता है। नचिकेता को यम इसका बोध कराते हैं और जब मन प्रकाशवान हो जाए तो यही वह क्षण होता है जब व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार होता है।

"तेरे भीतर घिरा अंधेरा/दूर न होगा सूर्य चन्द्र से
तुझको अपने भीतर/नया प्रकाश चाहिए।"{पृ-91,आत्मजयी}

मृत्यु अर्थात् यम से जब नचिकेता का साक्षात्कार होता है तो यम कहते हैं। नचिकेता से कि उसे सृष्टि का मूल रहस्य जानना है।

यम कहते हैं आत्मजयी से ---

"केवल सुख ही अब सन्तुष्ट न होगा/
तुझको मूल रहस्य/नया विश्वास चाहिए।"॥पृ-70,आत्मजयी॥

इसलिए नचिकेता को यम इन्द्रियों पर न लाकर हृदय में छुपे सच्चिदानन्द तक पहुँचने पर जोर देते हैं। यम कहते हैं --

"उस अव्यय आत्म - चेतना को पहचान
सच्चिदानन्द रूप/जो शुद्ध ज्ञान है तुझसे दूर नहीं
तेरे ही आस = पास है।"॥पृ-74, आत्मजयी॥

आत्मजयी अर्थात आत्मा को जीतने वाला। आत्मबोध की सार्थकता के अभाव में आत्मजयी हो पाना ही कठिन है। इसलिए उपशीर्षक आत्म-शक्ति में कहा गया है --

"केवल मन को कर संयमित
उसे तू नया अर्थ दे। -नया माध्यम
आत्म शक्ति पर निर्भर होकर ।"॥पृ-74, आत्मजयी॥

नचिकेता अपने ही भीतर यम को पाकर आत्मज्ञान से साक्षात्कृत होता है। अचेतावस्था में साक्षात्कार और सचेतावस्था में एक नये सिरे से मिले आत्मबल से वह पुन: आत्मवान बनता है।

"नहीं/ ऐसे नहीं - ऐसे नहीं, ऐसे नहीं।
--- --- ---
आत्मोत्सर्ग में तो शान्ति होनी चाहिए।
हिंसा नहीं --"।॥पृ-58, आत्मजयी॥

नचिकेता जीवन के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करता है। जीवन या आत्मा के किसी भी पक्ष पर विचार करता है। एक का बोध होने लगता है ऐसा नहीं, ऐसा है, जैसा परस्पर विरोधी स्थितियों में आत्मबोध की सत्ता चिरंतन रहती है।

वस्तुत: नचिकेता को आत्मबोध अथवा आत्मा के धरातल पर संघर्षरत रहने पर ऐसा अनुभव होने लगा कि वर्तमान के इस विघटन ने मनुष्य के युगीन संचित (अर्जित) लक्ष्य को ध्वस्त अथवा अस्त-व्यस्त कर बिखेर दिया है और नया मनुष्य उसकी प्रत्याशा में भी खाली हाथ है। ऐसी स्थिति में भी वह हताश न होकर अपनी असीम बोधात्मक शक्तियों के प्रति आश्वस्त है। इसी कारण उसमें गतिशीलता विद्यमान है। चिरन्तन जीवन के सम्बन्ध में जीवन में प्राप्ति अथवा लोप का इतना महत्व नहीं रहता जितना कि उसमें(जीवन में) गतिशीलता का रहता है। आत्मबोध - जीवन के गतिशील एवं चिरन्तन होने में पूर्णत: सहायक है।

अहल्या भी इन्द्र के साथ देह सम्बन्ध रखती है उसकी नैतिकता अनैतिकता पर विचार करती है। देह धर्म को भूलकर तपस्या यात्रा करना उसके लिए छूछी नैतिकता है। इसलिए वह इन्द्र मिलन पर पश्चाताप नहीं करती वरन उसे "आत्मा की चरम उपलब्धि तथा आत्म साक्षात्कार स्वीकार करती है। इतना ही नहीं अपनी पवित्रता पर उठाए जानेवाले बिच्छुओं से विषैले प्रश्नों को अनुचित समझती हुई वह मानती है कि ---

"वह व्यक्ति का अपने प्रति/सर्वोच्च न्याय है
अपनी रुचि का साक्षात्कार/आत्माभिव्यक्ति है।
(पृ-12, आत्मदान)

डॉ•मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ के अनुसार "मिलन उपरान्त" में अहल्या की सम्भोगोपरांत मानसिक और शारीरिक स्थितियों का चित्रण है। सम्भोग समय की मादकता अभी बनी हुई है और क्रमश: क्षीण होती जा रही है, उसे अपने "स्व" के निरुद्वेग क्षणों का अनुभव होता है। पूर्ण तृप्ति का एक क्षण जिसमें उसने अपनी अस्मिता का अनुभव किया। यांत्रिकता से मुक्ति पायी – उस चरम क्षण को लेकर अहल्या के मन में कोई पश्चाताप नहीं है।"(8)

आत्मानुभूति या आत्मान्वेषण में वह अनुभव करती है कि इन्द्र ' मिलन मात्र दैहिक और वासनात्मक था, वह पूर्णत: एक वैयक्तिक सत्ता की अनुभूति थी, सुविचारित और सद्विवेक मुक्त कर्म नहीं था। वह अतीत और भविष्य के विचार से अलग केवल वर्तमान के क्षण का असामाजिक उपयोग था ---

> "नहीं, यह बिखराव नहीं/देह – मन का
> आत्मसाक्षात्कार है।"(पृ-11, आत्मदान)

एक कंठ विषपायी में जब विष्णु बाण चलाते हैं शिव पर, उन्हें आत्मसाक्षात्कार का समय दिए बिना ही। तब विष्णु कहते हैं कि उन्होंने प्रणाम बाण चलाकर इसका मौका दिया है शिव को। इन्द्र का प्रश्न इस प्रकार है --

> "फिर क्यों प्रभु आपने/ आत्म साक्षात्कार का
> अवसर दिए बिना ही उन पर बाण चलाया।"
> (पृ-12, एक कंठ विषपायी)

निष्कर्ष:--

जीवन तभी सार्थक माना जाएगा जब मानव को आत्मबोध होगा, क्योंकि आत्मबोध के द्वारा उसे यह पता चलता है कि वह क्या है और उसे क्या हासिल करना है। इसी प्रकार से आत्म - साक्षात्कार के समय भी वह अपने आत्म से साक्षात्कार करता है।

6·8· शून्य :---

श्री अरविन्द के अनुसार मस्तिष्क में शून्यता और विशालता का होना एक बहुत अच्छा लक्षण है। यह एक अवस्था है, जिससे सीधे विश्वगत चेतना में और ऊपर की ओर आत्मा तथा मस्तक से ऊपर उच्चतर आध्यात्मिक मन में उद्घाटन होता है।"(7)

मनुष्य वर्तमान में चयन करने तथा कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। जबकि आधारत: वह संकल्पहीन है। अपनी वर्तमान की स्वतंत्रता के आधार पर मनुष्य अपने अतीत को नकार भी सकता है। क्योंकि वह उससे बंधा हुआ नहीं है। उसे सदैव अपना विकास करते रहना है। निरंतर बढ़ते चलना है। यह अतीत का नकारना ही उसके अतीत की शून्यता है।

मनुष्य सदैव सम्भावनाओं के संसार में रहता है। वह सोचता है कि वह कुछ भी नहीं है। भविष्य में असंख्य संभावनाएँ हो सकती हैं। उन्हीं में से चयन करके उसे कुछ बनना है। इस प्रकार मनुष्य अपनी सम्भावनाओं के संसार में से ज्यों - ज्यों प्रयास करेगा, त्यों - त्यों उसे शून्यता का बोध होगा।

अस्तित्ववादी दार्शनिक - व्यक्तित्व तथा कृतित्व में हेडगर के सन्दर्भ में कहते हैं - अस्तित्व की समस्या को समझने के लिए हमें पहले शून्यता की समस्या का सामना करना पड़ेगा। अस्तित्व की अभिव्यक्ति "जो वह नहीं हैं, का निषेध करने पर होती है। "जो वह" नहीं है, उसे अन-अस्तित्व या"शून्य" कह सकते हैं।

प्रेम में भी मानव इतना संज्ञा शून्य हो जाता है। जो प्रेम की प्रगाढ़ता को दृष्टिगत करता है। कनुप्रिया में राधा को ऐसे लगता है, जैसे कि कनु उसे जगा रहें हैं, आधीरात में, प्यार को दोहराने के लिए ---

"और मैं प्रसुप्त, संज्ञा - शून्य ।"§पृ-45, कनुप्रिया§

और इसी शून्य सन्नाटे में वह फिर जागती है।

"और लो/वह आधीरात का प्रलय शून्य सन्नाटा।"§
§पृ-46, कनुप्रिया§

तो दूसरी ओर जब कनु दुखी होता है तो वह शून्य में देखता हुआ शून्य से ही संप्रेषण करने लगता है ---

"और तुम फिर उदास होकर किनारे बैठ जाते हो।
और विषादपूर्ण दृष्टि से शून्य में देखते हुए।"§पृ-82,कनुप्रिया§

उधर कनु दु:खी है तो प्रवाद पर्व काव्य में राम उदिग्न है। उनकी आदिम जिज्ञासा का उत्तर उन्हें प्राप्त नहीं होता, उनकी अन्तरात्मा उनसे कहती है शून्य से लौटकर कोई नहीं आता --

"शून्य से किसी का देखना नहीं लौटता।"§पृ-20,प्र·पर्व§

नचिकेता को अपने जीवन में शून्य ही नज़र आता है। वह कहता है--

"सारा और सारांश जीवन/केवल मेरे लिए सूना है
क्योंकि दृष्टि है - केवल आँखें नहीं।"(पृ-52, आत्मजयी)

नचिकेता अपने पिता के मुख से निकले शाप वचन के अनुसार आत्म-हत्या का प्रयास करता है और इस प्रयास में उसे ऐसे लगता है कि चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा छा गया है। जैसे शून्य को कोई बुन रहा है। अर्थात् चारों ओर का वातावरण बहुत भयंकर प्रतीत होता है।

"सरासर शून्य को धुनते/वृत्त पर वृत्त बनते।"(पृ-60,आत्मजयी)

नचिकेता को उस महाशून्य में निर्वासित कर दिया जाता है जहाँ वह वह अपने ही सपनों को बनाता मिटाता है। मुक्ति - बोध प्रसंग में ---

"और आश्चर्य/महाशून्य में निर्वासित।"(पृ-118, आत्मजयी)

तो आत्मदान की अहल्या बड़े ही मार्मिक शब्दों में स्त्री-पुरुष के बारे में रेखाचित्र खींचती है। पुरुष विचरण करता है। पवन के समान उसे ठिकाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन स्त्री एक लहर के समान है, जिसे एक किनारा चाहिए उसी में उसका अस्तित्व है --

"पवन विचरता शून्य में निर्बाध
जबकि लहर को/ सबल किनारा चाहिए।"(पृ-25,आत्मदान)

इधर अहल्या जीने का सहारा मांगती तो उधर कृष्ण श्राप देते हैं। अश्वत्थामा को क्योंकि उन्होंने उत्तरा के गर्भ पर वज्र डाला था।

उस मर्मांतिक पीड़ा को ले फिरते हैं। क्योंकि कृष्ण उन्हें कच्चे घाव सहते रहने का और अमरता का श्राप देते हैं। उनकी पीड़ा इन शब्दों में - अब उनकेजीवनमें क्या रह गया है शून्यता के सिवा। वे द्रौपदी से कहते हैं---

"हाँ द्रौपदी/प्रत्येक शून्य अश्वत्थामा है।"(पृ-32, अंधायुग)

कितनी दर्दनाक स्थिति है मानव की वह अब शून्य बन गया है। यही इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष कहते हैं मानव शून्य पथ पर रॉकेट में संवार अवनी की परिक्रमा कर रहा है ---

"रॉकेट सवार शून्य पथ ने संवेग वे
अवनी की परिक्रमा।"(पृ-16, इ.पु.)

और इस शून्यता में माया, ममता, धड़कनें आदि कुछ नहीं है, सभी यांत्रिक हैं ---

"तप्त लोहे गीले की दीप्ति - सोतरंगहीन
दृष्टि नहीं चितवनें
करती विलास जहाँ, शून्य बोधचित जहाँ
उठती न धड़कनें। "(पृ-7, इ.पु.)

इतिहास - पुरुष काव्य में सीता के नाम क्लिओपेट्रा पत्र लिखती है कि सीता कभी एक चमकती लौ थी कवियों के लिए निराकार वाणी थी। लेकिन अब शून्य में सुलगते बुझे अंगारें के समान रह गई है। जिसका अब कोई अस्तित्व न रहा ---

"शिखा - चमकती लौ - जो केवल राख ही नहीं
कहीं शून्य में सुलग जल बुझे अंगार की।"(पृ-63, इ.पु.)

ग•त्र्यं•अष्टेकर के अनुसार-

एक परम्परा की समाप्ति और दूसरी परम्परा की शुरुआत के बीच एक शून्य की स्थिति उत्पन्न होती है।॥1॥

इसी सन्दर्भ को एक कंठ विषपायी में देखा जा सकता है और इसी शून्यता में से नया अंकुर प्रस्फुटित होता है। विष्णु के शब्दों में ---

"थोड़े दिन पश्चात् शून्य की उसी भूमि पर
कोई नया रूप धर/नन्हा अंकुर एक उभर आता है
जो कि अन्ततः/हर उपेक्षा पर अपना विकास पाता है।"
॥पृ-120, एक कंठ विषपायी॥

निष्कर्ष:---

संप्रेषण का यह एक अच्छा माध्यम है। शून्य की स्थिति में हर कोई नहीं पहुँचता क्योंकि इसमें भाषा नहीं होती केवल मन आध्यात्मिकता से ही संप्रेषित करता है।

6•9• संपूर्णता :---

किसी भी कार्य को मानव जब संपूर्ण रूप से समर्पित होकर करता है। उसे ही संपूर्णता कहते है।

कनुप्रिया में कृष्ण के प्रेम में राधा उत्कंठलीन थी और इस प्रेमानुभव की मर्मांतक व्याकुल चेतना उनमें मानवीय व्यक्तित्व में अनवरत उद्वेलन को जन्म देती है। राधा कृष्ण की इच्छा है और इनकी इच्छा द्वारा विनिर्मित सम्पूर्ण सृष्टि भी वही है --

"तुम्हारी सम्पूर्ण सृष्टि का अर्थ है
मात्र तुम्हारा इच्छा।"(पृ-47, कनुप्रिया)

राधा अपने आपको प्यार में कृष्ण को आत्मसमर्पित कर तो देती लेकिन उसके प्यार को ठीक से नहीं समझ पाती जो उसे संपूर्णता में बांधते हुए सम्पूर्णतः मुक्त छोड़ देता है ---

"तुम्हारा अजीब सा प्यार है/जो संपूर्णतः बांध कर भी
संपूर्णतः मुक्त छोड़ देता है।"(पृ-34, कनुप्रिया)

प्रपंच के महासुख में अपने अस्तित्व के पूर्णतः विलय न होने पर पछतावा होता है। परन्तु उसमें व्यक्ति के अधूरे व्यक्तित्व को सम्पूर्णतया प्राप्त होती है। यह सम्पूर्णतया ही शरीर में वेदना जगाती है। दूसरे के प्रति अर्पित होने के लिए इसलिए कनुप्रिया की राधा कहती है --

"तुमने तो उस रास की रात
जिसे अंशतः भी आत्मसात किया
उसे संपूर्ण बनाकर
वापस अपने घर भेज दिया
पर हाय वही सम्पूर्णता
इस जिस्म के एक - एक कण में
बराबर टीसती रहती है
तुम्हारे लिये।---(पृ-20, कनुप्रिया)

वस्तुतः राधा ने कृष्ण के साथ संपूर्ण समर्पण से तन्मयता के क्षण बिताने का अवसर पाया था। उन क्षणों में भोगा हुआ महासुख भी दुख

में बदल जाता है। राधा की व्यथा का वास्तविक कारण उसकी मांग के सूनेपन में निहित है। यद्यपि उसका कनु के प्रति आत्मसमर्पण और निष्ठा इतनी गहरी है कि उसे अपनी मांग के भरे जाने या सूने रहने की परवाह करने की कोई आवश्यकता नहीं थी --

"और अपने को नयी व्याख्याएँ देनी चाही हैं
सखी - साधिका - बांधवी/मां -बंधु-सहचरी।"
(पृ-40, कनुप्रिया)

राधा की रिक्त मांग कृष्ण आम्र मंजरियों से भर देते हैं। उसे संपूर्णता से भर देते हैं। ये समझते हुए कि वह मांग उन दोनों के बीच की पार्थक्य रेखा हो - राधा कहती है ---

"कि वह जिसे भी रिक्त करना चाहता है
उसे संपूर्णता से भर देता है।" (पृ-30, कनुप्रिया)

पुरुष जब स्त्री का पूर्ण सम्पूर्ण चाहता है। तन से मन से चाहता है तो स्त्री का केवल दूर से प्रणाम करना वह स्वीकार कैसे कर सकता है। अर्थात् सम्पूर्ण अस्तित्वमय की आशा है वहाँ कनुप्रिया के शब्दों में---

"इस सम्पूर्ण के लोभी तुम/भला उस प्रणाम मात्र को क्यों ----
-स्वीकारते।" (पृ-16, कनुप्रिया)

कृष्ण द्वारा सम्पूर्ण बनाए जाने का बड़ा ही सुन्दर वर्णन करती है राधा। कनुप्रिया कहती है कृष्ण से कि जब वह जाना ही नहीं चाहती तो बांसुरी के एक गहरे आलाप से मदोन्मत मुझे खींच बुलाते हो और जब वापस नहीं आना चाहती तब--

"---- मुझे अंशत: ग्रहणं कर/सम्पूर्ण बना कर लौटा देतो हो।"
(पृ-20, कनुप्रिया)

तो दूसरी ओर प्रवाद पर्व के राम यज्ञ के पश्चात . . सी पवित्र तथा मांगलिक सीता को सीमान्त तक काल ग्रास सा रख आने को कहते हैं लक्ष्मण ---

जिसके उपरान्त वह नहीं समझ पाते कि क्या उनके सम्पूर्ण जीवन की यही . इतिश्री है ---

"तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन की पुरुषार्थता
सारी ऐतिहासिक सदाशयताओं की
इतिश्री है राम। "(पृ-106, प्रवाद पर्व)

हर मानव अपनी जिन्दगी में पूर्णता चाहता है और यह पूर्णता तभी उसे प्राप्त होती है जब वह जीवन को एक विशिष्टता देता है।

"केवल शरीर के भोगों को दोहराने से/पूर्णता नहीं मिलती
बस, मन भर जाता है।"(पृ-88, आत्मजयी)

उसे मुक्तिबोध प्रसंग में ममता, मैत्री, महत्वाकांक्षा के अन्त तक पहुँच कर भी अपने आपको पूर्ण नहीं मानता।

"मैथुन/ मैत्री/ममत्व/ महत्वाकांक्षाएँ
क्योंकि इनके अन्त तक आकर भी/पूर्ण नहीं हुआ।"
(पृ-118, आत्मजयी)

और फिर नचिकेता का आत्मजयी में स्वप्नांत पर जैसे कि उसका पुनर्जन्म होता है और इस पुनर्जन्म में उसे सही जीवन का बोध होता है

और यही उसके जीवन में सम्पूर्णता ला देती है।

> "कण - कण में स्पंदित / पुन: नया
> प्रत्युष और यह पुनर्जन्म/मैं जागृत हूँ
> संपूर्ण बोध।" ४ पृ-104, आत्मजयी ४

निष्कर्ष:--

मानव को कोई भी कार्य संपूर्णता के साथ करना है तभी वह कार्य सफल होता है। आधे मन और अधूरे व्यक्तित्व से नहीं।

6·10· नए अर्थ :---

अस्तित्ववादी जीवन दर्शन ही मानव के सम्मुख जीवन के नये अर्थों को सामने रखता है। यही नहीं यह दर्शन मानव में नयी शक्ति, नया साहस भरता है, जिससे कि मानव परिस्थितियों से लड़ता हुआ हताश होकर बैठ न जाए बल्कि पूरी दृढ़ता से अपना अस्तित्व कायम करे। कल्पांतर काव्य में ऐसा लग रहा है कि जैसे तारे भी बोल रहे हैं और वे भी जीवन के अर्थ को खोल रहे हैं ---

> "नीले आसमान में झिलमिल/अनगिनत तारे बोल रहे हैं
> लगता है जैसे जीवन के/ अर्थों को खोल रहे हैं।" ४पृ-20,क·४ कल्पांतर

तारे ही नहीं मेघ भी मानव में नयी स्फूर्ति, नये सपने जगाते हैं। इतिहास पुरुष काव्य में --

> "---मेघ घने/दिशाओं के धुन्धभरे चित्तों में कौंध जाते
> जगमग . नये सपने।" ४पृ-9, इतिहास पुरुष४

इतिहास पुरुष काव्य में इतिहास पुरुष अपनी रश्मियों से जन-जन की भावना को छेद कर उनके मन के अंधियारे को दूर करता है।

"मैं अन्तर्लीन तेज/ चेतवाले जन-जन की भावना-मनीषा में
रश्मिदेवी बह रहा/तम घेरे अन्न वायु कोशों से नित्य नयी
ज्योतिकथा कह रहा।" (पृ-4, इतिहास पुरुष)

और आगे नयी दृष्टि, नयी भंगिमाओं से मानव के मन में नये अर्थबोध जगाते हैं इतिहास पुरुष ---

मेरे "उपासकों के चित्त में समा जाते
नये अर्थबोध घने।" (पृ-4, इतिहास पुरुष)

यही नहीं इतिहास पुरुष हर तरह से मानव में नयी शक्ति, नया साहस लाने का प्रयास करता है, जिसके लिए उसे अब प्रेयसी का रूप भी धारण करना पड़ता है।

"प्रेयसी प्रकट करती नव साहस शक्ति - नयी
संकट सहिष्णुता।" (पृ-13, इ.पु.)

यही कारण है कि मानव भी नयी - नयी तकनीकें सीखता है, क्योंकि उसमें कुछ नया सीखने की चाहत है, जिज्ञासा है --

"काव्य कला-रचना की प्रवचन-विवेचना की
नित्य नयी तकनीकें
सीखते हैं, फैशन के रेतवाले तटों पर
रचते हैं नयी लीकें।" (पृ-16, इ.पु.)

मानव नित नयी खोज से, कल्पना से, नव-नव निर्माण करता है। ऐसे व्यक्ति ही जीवन में आगे बढ़ते हैं और समाज में अपना स्थान बनाते हैं ---

"नित्य नयी खोजों से, नयी कल्पनाओं से
नव - नव निर्माणों से
नवालोक, स्फूर्ति नयी। नव बल दे, बांध मुझे
निज गतिमय प्राणों से। "॥पृ-12, इ.पु.॥

इसलिए इतिहास पुरुष की नूरजहाँ भी अपने आशिक से जिन्दगी और सल्तनत को एक नया मोड़ देने को कहती है --

"मेरी और अपनी जिन्दगी को
इश्क की सल्तनत और हुस्न की हुकुमत
अब एक नया आयाम दो।"॥पृ-78, इ.पु.॥

एक ओर नूरजहाँ नये मोड़ की आशा करती है तो दूसरी ओर दुश्मनों से जान बचाकर पति की रक्षा के लिए उसके पास पहुँचती है तो पति अपनी पत्नी के लिए मौत के हुक्मनामे पर हस्ताक्षर कर एक नया इन्साफ खड़ा कर देता है।

"मेरी नश्वर जिन्दगी का पण देकर
अपनी इन्साफ पसन्दी के/नये,अमर प्रमाण हस्तगत किये हैं।
॥पृ-82,इ.पु.॥

इसलिए मानव को अपने अन्तस् में झांकना है और यह देखना है कि वह क्या है और वह इस दुनिया में अपने अस्तित्व के लिए क्या प्रयास

कर रहा है- इतिहास पुरुष काव्य में इसलिए प्रेयसी की कल्पना की गई है, जो मानव के अंतर में झांकती है ---

"नज़रों से नयी - नयी बेसुधियाँ, नये बोध
अन्तस् में आंकती ।"(पृ-12, इ.पु.)

इधर प्रेयसी मानव के हृदय में झांक उसे नया बोध कराती है तो उधर कनुप्रिया काव्य में राधा को श्रीकृष्ण नए-नए रूप में ढालते हैं --

"मुझे नित नये शिल्प में ढालनेवाले।"(पृ-30, कनुप्रिया)

विज्ञान का प्रभाव मानव पर इतना अधिक छाया हुआ है कि वह चलती - फिरती कब्र के सिवा और कुछ नहीं है। लेकिन मानव को इसमें से उभरकर पुरानी नींव से नया शिखर बनाना है।

"श्रद्धाओं का स्रोत यहाँ मरणान्तक डर है
वही पुरानी नींव,स्तंभ का नया शिखर है।(पृ-84,कल्पांतर)

यही इतिहास पुरुष की आशा है वह मानव का निराश चेहरा नहीं, खिला हुआ चेहरा देखना चाहता है ---

"चेतना सरोवर में घुस पाता नयी रूप
लहरों का सेहरा
नयी-नयी हंसियों में स्नेह समझ धैर्यवती।"(पृ-12, इ.पु.)

इतिहास पुरुष सृष्टि के निर्माता होने के कारण मानव में नये जोश को प्रोत्साहित करता है --

"नव वय का नया जोश, रक्त में उभार नये
राग औ, विरागों का
मैत्री का चाव नया, नया-सा दबाव, पुलक
प्रणय प्रीति मांगो का। ---(पृ-42,अ इ·पु·)

निष्कर्ष:---

मानव को पुराने आदर्शों पर पुरानी पिछड़ी मान्यताओं पर नहीं बल्कि नित नये के लिए प्रयास करना है।

निष्कर्ष:---

संप्रेषण और सम्पुर्ण अस्तित्ववादी जीवन दर्शन में संप्रेषण और सम्पूर्णता को मूल में लेते हुए उनके अंतर्गत आनेवाली विधायें जैसे कि स्पर्श किस प्रकार से संप्रेषण का माध्यम बनता है। तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का भी कैसा अस्तित्व होता है। किन-किन कारणों से मानव का अस्तित्व लोप होता है तथा उसे मुक्ति कैसे प्राप्त होती है और वह आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार द्वारा जीवन सत्य को कैसे प्राप्त करता है। तथा शून्य तक वह कैसे पहुँच सकता है और संपूर्णता के साथ कार्य करते हुए जीवन को नया अर्थ देता है। इन सभी को काव्यों से विभिन्न उदाहरणों के द्वारा देखने का प्रयास किया गया है।

****

सन्दर्भ सूची

****

1• भारतीय दर्शन - श्रीमद्भागवत् - अध्याय पृ-51•

2• नयी कविता की नाट्यमुखी भूमिका
डॉ•हुकुमचन्द राजपाल पृ-79

3• अस्तित्ववाद - दार्शनिक और साहित्यिक भूमिका पृ-65•

4• अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य
डॉ•श्यामसुन्दर मिश्र पृ-50•

5• Existentialism and Indian thought- Kierkegaard
Pg-16

6• विवेकानन्द ने कहा था -8विवेकानंद संचयन8गिरिराज शरण,पृ-25,132

7• नयीकविता के प्रमुख हस्ताक्षर - डॉ•संतोष कुमार तिवार पृ-204•

8• प्रकर - दिसम्बर - पौष 2040 -डॉ•मधुरेशनन्दन कुलश्रेष्ठ,पृ-13•

9• अरविन्द ने कहा था -"श्री अरविन्द के पत्र8 चतुर्थ भाग
"डॉ•गिरिराज शरण पृ-72,149•

10•अस्तित्ववादी दार्शनिक - व्यक्तित्व तथा कृतित्व
-डॉ•हेडगर के सन्दर्भ में पृ- 56

11•दुष्यंत कुमार-रचनाएं और रचनाकार - ग•तु•अष्टेकर, पृ- 102

****

उपसंहार

******

प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट कृति मानव है। मानव को उसके समग्र रूप में समझना ही अस्तित्ववाद का कार्य है। इंद्रिय सुलभ प्रत्येक उपस्थिति को अस्तित्वपूर्ण कहा जा सकता है। ईश्वर में आस्था रखनेवाले, मानव में ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति रखते हैं तो ईश्वर में अनास्था रखनेवाले मानव की सर्वशक्तिमत्ता को दर्शाते हैं। सृजनशील मनुष्य अपने स्वरूप का निर्माण एवं निर्धारण स्वयं करता हुआ अपना आत्मनिर्माण करता है। अस्तित्ववाद यूरोपिय चिंतन की देन है।

यूरोप में युद्धोत्तर परिस्थितियों के कारण इस चिंतनधारा का तेजी से विकास हुआ। युद्ध की विभीषिका में मानव अस्तित्व की रक्षा का सवाल मुख्य हो गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रमुख अस्तित्ववादी विचारक हैं सोरेन कीर्केगार्द, मार्टिन बूबर, कार्ल जैस्पर्स ग्रैब्रियल मार्सल, नीत्शे, डॉ॰मार्टिन हैड्गर, ज्यॉ पाल सार्त्र और आल्बेयर कामू विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतीय चिन्तकों में महर्षि अरविंद, राधाकृष्णन, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, चार्वाक तथा महात्मा बुद्ध के दर्शनों में तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार अज्ञेय में अस्तित्ववाद के आधुनिक स्वरूप का चिन्तन उपलब्ध होता है।

युद्धों के पश्चात् व्यक्ति के पास केवल उसका अपना अस्तित्व रह गया था। युद्ध के पूर्व जिस अस्तित्व पर सन्देह किया जाता था। उस अस्तित्व पर विचार करने के लिए मनुष्य विवश हो गया। खंडित होते हुए मूल्यों और टूटते हुए विश्वासों के बीच आदमी प्रश्नाकुल हो उठा था। इसी पृष्ठभूमि में अस्तित्ववाद पनपा।

अस्तित्ववाद व्यक्तिगत जीवन या "अस्तित्व" का दर्शन है। यह उस व्यक्ति की स्थिति को समझने का प्रयत्न है जो वास्तविक अर्थ में स्वतंत्रता का उपभोग करते हुए अपने जीवन की दिशा का स्वयं निर्धारण करते हुए अपने कर्मों के लिए स्वयं पूरी जिम्मेदारी महसूस करते हुए जीवन - यापन करता या करना चाहता है।

अस्तित्ववाद के प्रेरक तत्व हैं फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति, दोनों विश्वयुद्ध और विज्ञान। युद्धकालीन विभीषिका ने मानव जीवन की क्षुद्रता, नृशंसता, स्वार्थपरता एवं कटुता का ऐसा पर्दाफाश किया कि मानवता के शुभ पक्षों पर से आस्था ही डगमगाने लगी। इन परिस्थितियों में मानव की गरिमा का नये स्तर पर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपने में स्वतः सार्थक और मूल्यवान है, वह आन्तरिक शक्तियों से सम्पन्न, चेतना स्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वतः निर्णय लेनेवाला प्राणी है। फलस्वरूप लोगों की प्रवृत्ति आत्मपरक चिन्तन की ओर झुकने लगी।

अस्तित्ववादी दर्शन को सही रूप में समझने के लिए उसके तत्वों का अवलोकन करना आवश्यक है।

मनुष्य स्वयं को न जाने कहाँ से इस संसार में फेंका हुआ समझता है वह स्थान उसके लिए अज्ञात है। मृत्यु के बाद वह कहाँ जायेगा, इसका उसे भान नहीं है। यह मनुष्य के भूत और भविष्य संबंधी शून्यता है और यह मनुष्य के संरचनात्मक पक्ष से सम्बन्धित है, अतः यह मनुष्य के वर्तमान पर भी भारी रहती है। मनचाही वस्तु की अप्राप्ति पर मानव निराश होता है। मानवीय इकाई की मूलभूत चेतना और आकांक्षा का दमन ही विसंगति है। संत्रास मनुष्य की वह बीजभूत भावावस्था है जो उसके समक्ष उसके संसार में होने तथा उसके अस्तित्व के संरचनात्मक पक्ष को व्यक्त करती है। कर्म के द्वारा ही मनुष्य स्वतन्त्र निर्णय लेता है और अपने अस्तित्व को सार

प्रदान करता है। मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमा मृत्यु है। अस्तित्ववादी मनुष्य क्षण - क्षण में जीवित रहता है। वह प्रत्येक क्षण स्वतंत्र चयन करता हुआ अपने अस्तित्व को अर्थ प्रदान करता है। मनुष्य दूसरों से सम्बद्ध होने पर ही स्वयं को प्रकट कर सकता है। मूल्य ही मानव के चयन की भावना का नियंत्रण करते हैं। इतिहास और काल मानवीय अस्तित्व का एक बुनियादी आयाम है। आस्थावादी दार्शनिक ईश्वर को महत्व देते हुए मानव को स्वयं हर एक के लिए उत्तरदायी मानते हैं। मध्यमार्गी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता में आस्था न रखते हुए किसी दिव्य सत्ता की आवश्यकता अनुभव करते है। अनास्थावादी दार्शनिक ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करके मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्र मानते हैं। अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। मनुष्य अपना सार स्वयं नहीं चुन सकता तो उसकी सारी स्वतन्त्रता दासता से कम नहीं है। अस्तित्ववाद मनुष्य के नैतिक अस्तित्व को ही बल देता है। क्योंकि नैतिकता का उद्देश्य आत्मोत्थान ही होता है। घृणा एक वैयक्तिक प्रक्रिया है, जिससे मानव को दूर रहना है। अलगाव में व्यक्ति समाज में रहते हुए भी अपने को अलग समझता है, सारे संबंधों से अपने को विमुख पाता है। अस्तित्ववाद प्रेम को मानवीय चेतना के अनिवार्य तत्व के रूप में उपस्थित करता है। व्याकुल भावस्थिति में मानव अपने अस्तित्व के लिए प्रयत्नशील रहता है। अहं मानव व्यक्तित्व का आधार और अस्तित्व चेतना का बोधक है। झूठी मर्यादाओं और अनेक सामाजिक वर्जनाओं के कारण इंसान अंतर्मुखी हो जाता है। अस्तित्ववादी दर्शन का मूल केन्द्र - बिन्दु मनुष्य और उसका अस्तित्व है। मनुष्य अपने हर कार्य के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। अस्तित्ववाद यथार्थ को हमारे सामने रखते हुए जगत-जीवन की निरर्थकता से मानव - मन को निर्भीक बनाता है, निराशावादिता से तरंगित करना चाहता है। बाह्य वस्तुओं और चेतनामय अस्तित्व के कारण व्यक्ति अपना अस्तित्व कायम करता है।

अस्तित्ववाद तात्विक विवेचनों को आधार मानकर विकसित हुआ है। इस काल में दो तरह के अस्तित्ववादी विचारक हैं जिन्हें ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी चिन्तकों की संज्ञा दी जा सकती है। लेकिन दोनों विचार धाराओं में एक समानता है कि अस्तित्व मानवीय तत्व की दिशा में उन्मुख है और यह कि विषयात्मकता अथवा विषयगत सम्बद्धता ही प्रारंभिक बिन्दु है। इन दोनों विचारधाराओं का प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी में कीर्केगार्द और नीत्शे के दर्शन से होता है।

ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को मानते हैं किन्तु व्यक्ति के अस्तित्व के लिए उसे किसी प्रकार भी उत्तरदायी नहीं मानते। ईश्वरवादी विचारधारा में पाश्चात्य दर्शन के अंतर्गत सारेन कीर्केगार्द, मार्टिन बूबर, गैब्रियल मार्सल आते हैं। अपने वर्तमान रूप में अस्तित्ववाद पाश्चात्य चिंतनधारा की देन है। किन्तु कुछ अर्थों में भारतीय चिंतन से इसकी समता प्रकट होती है। अस्तित्ववाद और भारतीय चिंतन दोनों की चिंतन प्रक्रिया आत्मपरक है। भारतीय संधारणा में आनेवाले दार्शनिक हैं-- अरविंद, राधाकृष्णन, दयानन्द सरस्वती। अनीश्वरवादी विचारधारा के अनुसार मानव ही सब कुछ है और उसी का अस्तित्व है। इसके अंतर्गत नीत्शे, हैडगर, सार्त्र और आल्बेयर कामू आते हैं तथा भारतीय संधारणा में चार्वाक दर्शन, महात्मा बुद्ध आते हैं।

अस्तित्ववाद पर व्यक्तिवाद का आरोप लगाया गया है। व्यक्ति-वाद समाज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण की स्थापना है। इसमें व्यक्ति विशेष केवल अपने ही सम्बन्ध में सोचता है और अपने निर्णयों को सर्वोपरि समझता है। अस्तित्ववाद इन विचारों से सहमत नहीं है। उसके अनुसार दार्शनिक चिन्तन विधि को वस्तुगत न होकर आत्मगत चिन्तन होना

चाहिए। इस आत्मगत चिन्तन में सार्वभौमिक उदार दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में यदि इसे मानवतावाद कहा जाए तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं। अस्तित्ववाद पर घोर निराशावादिता का आरोप लगाया गया है। लेकिन अस्तित्ववाद आशावाद का सन्देश देता है।

हिन्दी की नयी कविता पर अस्तित्ववाद का स्पष्ट प्रभाव है। अस्तित्ववाद की प्रवृत्तियों को सोदाहरण नयी कविता के कुछ खंड काव्यों में देखने का प्रयास किया गया है।

ईश्वरवादी विचारधारा के अंतर्गत आनेवाले तत्त्व इस प्रकार हैं -- ईश्वर वह है जो वस्तुओं से पहले था और वस्तुओं के बाद भी रहेगा। भय अथवा संत्रास मानव को प्रमाणित करता है। नियति उस चपला स्त्री के समान है, जो उसे चाहता है उसकी वह परवाह नहीं करती पर जो उसकी परवाह नहीं करता उसके चरणों पर वह लोटती रहती है। दूसरे की आनुषंगिक उपस्थिति और उनकी उत्कृष्टता व्यक्ति को भीतर समेट लेती है। मानव तब उदास होता है जब उसे मनचाही वस्तु नहीं मिलती। अस्तित्व दुःख पूर्ण है, आदमी को अधिक से अधिक दुःखों की कामना करनी चाहिए। जिससे वेदना विजय से उठनेवाला उसका आनन्द अधिक से अधिक सघन हो जाए। पीड़ा से अस्तित्व का बोध होता है। जो व्यक्ति निराशा के चरमक्षण का अनुभव करके भी जीने की लालसा से भरपूर है, सार्थक जीवन पाने का अभिलाषी है। मानव जीवन की चरम विसंगति यह है कि वह स्वयं के लिए इस संसार में रहता है किंतु दूसरे व्यक्तियों के समक्ष ही अपने कार्यों के द्वारा जाना जाता है। कुण्ठा का कारण विज्ञान से उत्पन्न मानवीय जिजीविषा है। धर्म कोई पद्धति है जिससे व्यक्तिगत विशेषता का नाश होता है। उस से मुक्त होने का अर्थ है स्वतन्त्र होना और यही हमें प्रमाणिकता प्रदान करता है। महायुद्धों के विनाशकारी दृश्यों के कारण निरर्थकता की भावना बढ़ने लगी थी।

अनीश्वरवादी विचारधारा के अनुसार कर्म का अर्थ है आत्मा को जागृत कर देना। संशय विवेक निसृत है द्वन्द्व एक मानसिक संघर्ष है। संशय और द्वन्द्व की स्थिति से उभरते हुए अस्तित्ववान व्यक्ति सही निर्णय लेता है। वर्तमान विघटन और विद्रूपता से घिरे हुए परिवेश में सार्थक मानवीय अस्तित्व संभव नहीं है। मानवीय अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष अनिवार्य है। हर कार्य संकल्पचित्त होकर करने पर ही पूरा होता है। मानव "मैं" के आधार पर जो निर्णय लेता है उसका वही उत्तरदायी होता है। स्व के आधार पर ही वह चिंतन करता है और सही और गलत का निर्णय लेता है। व्यक्ति के लिए पौरुष आवश्यक है उसके बिना वह अधूरा है। छायावाद के महामानव और प्रगतिवाद की सामूहिकता के विरुद्ध नयी कविता में लघुमानव को देखा गया है। जो किसी से भी कम नहीं है। प्रत्येक कृत्य का मानव स्वयं उत्तरदायी होता है। मानव व्यक्तित्व का आधार अहं और व्यक्ति चेतना का द्योतक है। आस्था और विश्वास के खंडित हो जाने पर व्यक्ति में अनास्था का प्रादुर्भाव होता है।

नयी कविता से पूर्व की काव्यधाराओं में व्यक्ति का जो सम्प्रत्यय ग्रहण किया गया था, उससे भिन्न रूप में नयी कविता व्यक्ति की व्याख्या करना चाहती है। प्रगतिवाद आदि में व्यक्ति को प्रायः नकार दिया जाता था और सामाजिक चेतना तथा सामाजिक सत्ता और सामाजिक मूल्यों की बात ही अधिक होती थी। लेकिन व्यक्ति चेतना और व्यक्ति की सत्ता को नयी कविता के माध्यम से स्थापित करने का श्रेय अस्तित्व-वादी दर्शन को ही जाता है। व्यक्ति की अस्मिता का आग्रह और प्रतिष्ठा आज के युग का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। समाज व्यक्ति की शक्ति और व्यक्तित्व को बढ़ाने का एक साधन मात्र है। स्वयं समाज कभी साध्य नहीं होता। वैयक्तिक स्वच्छन्दता ही परम मूल्य है। जीवन मूल्यों के उन्हीं तत्वों, स्थितियों को स्वीकार किया जा सकता है, जिनसे जीवन में उत्कृष्टता, सार्थकता एवं औचित्य की रक्षा अथवा विकास किया जा सके।

सच्ची व्यवस्था वह है, जो अधिकतम संभावनीय स्वाधीनता पर आधारित हो। क्योंकि स्वाधीनता ही समस्त विविधता की ओर अग्रसर है साथ ही स्वप्राप्ति की शर्त है। मर्यादा जीवन का परम तत्व है जिसे सामयिक परिस्थितियाँ नष्ट नहीं कर सकती। मानव जाति का हित, परंपराओं के प्रति मोहित रहने में नहीं प्रत्युत बदलती हुई परिस्थितियों, परम्पराओं, मान्यताओं और परिवर्तित मूल्यों को स्वीकार करने में ही उनका लाभ निहित है। इतिहास उस मानवीय यात्रा की दूरियों का पता देता है, जहाँ से चलकर हम यहाँ पहुँचे हैं। साथ ही वह दृष्टि भी जिससे पिछली भूलों को न दुहराकर हम वे आधारे पा जाएँ जिनसे मानवता आगे बढ़ सकती है। व्यक्ति के संघटन के लिए उसकी वे विशेष परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं, जिनके द्वारा उनका व्यक्तित्व विशिष्ट आकार ग्रहण करता है और जो उसके अधिकार में नहीं होती।

नई कविता उस संपूर्ण संभावित मानव को चित्रित करना चाहती है, जो जीवन के व्यापक धरातल पर ग्रहण करता है और भोगे गए क्षणों की यथार्थ अनुभूति के आधार पर उसके स्तरों की सार्थक अभिव्यक्ति करता है। यथार्थ   को देखने की दृष्टि पर नहीं बल्कि वस्तुओं के आपसी रिश्तों को बदलने की इच्छा पर निर्भर है। सत्य अस्तित्वबोध है और धर्म कर्मबोध। जब इसी सत्य को जीवन के साथ रखते हैं तो उस समय जीवन सत्य का तात्पर्य सम्पूर्ण जीवन के मर्म-स्पर्श से हो सकता है। देश और समष्टि के न्याय और सत्य की रक्षा के लिए युद्ध के वरण करने में ही बुद्धिमता है। काल मानव अस्तित्व सापेक्ष है। मृत्यु का बोध व्यक्ति को अपने अस्तित्व के प्रति जागरुक बनाता है। क्षण - क्षण से ही जीवन का निर्माण होता है। क्षण अपनी उर्वरता के नाते सार्थक है और लघुता में भी पूर्ण है। भौतिक जगत में मनुष्य अपने अस्तित्व की सार्थकता का प्रयास करता है।

विज्ञान ने मानवीय सम्बन्धों को परिवर्तित कर दिया है। तथा उसे नया रूप प्रदान किया है। इसलिए मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध और सृष्टि मात्र के साथ सम्बन्धों को देखना आवश्यक है। अस्तित्ववाद प्रेम को मानवीय चेतना के अनिवार्य तत्व के रूप में उपस्थित करता है। चिन्ता अस्तित्व के प्रारूप का वह गठन है जो वर्तमान और भविष्य के संभावनात्मक रूपों का स्वरूप अंकित करता है। अस्तित्ववादी दर्शन जीवन में स्थिरता को स्वीकार नहीं करता इसलिए उसकी दृष्टि में जीवन एक संकट है, जिससे उत्पन्न होनेवाली घृणा को व्यक्ति आत्मचेतना के विद्रोहात्मक स्वरूप से ठुकरा कर ही कोई मार्ग पा सकता है। व्यक्ति का अस्तित्व व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। केवल अस्तित्वप्रधान व्यक्ति ही प्रश्न करते हुए अपने अस्तित्व को सार्थक बनाता है। स्व के प्रति दाम्भिक भाव होने पर व्यक्ति कभी उदात्त नहीं हो सकता। विवेक मानव मूल्यों की कड़ी में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मानव की व्याकुल स्थिति ही उसके असंतोष और आक्रोश की पृष्ठभूमि तैयार करती है। आक्रोश उभरता है जब व्यक्ति सहते - सहते एक सीमा पार कर जाता है और फिर उसके हृदय की ज्वाला एक प्रखर रूप लेती है। हर व्यक्ति आत्मानुभव से अपने अस्तित्व का बोध कराता है। नैतिकता सापेक्ष-वस्तु है। वर्तमान क्षण की सज्ञात क्रियाओं को चेतना कहकर पुकारा जाता है। जब व्यक्ति का जीवन यांत्रीकृत हो जाता है तभी जीवन की सार्थकता का प्रश्न उठता है।

मानवीय इकाई संप्रेषण के द्वारा अन्य प्राणियों से अपनी विशिष्टता और उच्चता प्रमाणित करती है। प्रामाणिक अस्तित्व के धरातल पर सम्पूर्ण अस्तित्वमय से संप्रेषण सम्भव है। संप्रेषण केवल भाषा से ही नहीं मुद्रा से भी मन की भावनाओं को व्यक्त किया जा सकता है। संप्रेषण का एक और माध्यम है स्पर्श। सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी अपना अस्तित्व रखती है। संचेतना के स्तर पर लज्जा का गठन भावस्थिति में रहता है। जब व्यक्ति स्वतंत्र न होकर किसी के अधीन रहता है तब उसका अस्तित्व टूटता है,

बिखरता है क्योंकि दूसरे के लिए उसका अस्तित्व कोई मायने नहीं रखता। समग्र विश्व इस मुक्ति के लिए संघर्ष का ही परिणाम है। आत्मचिन्तन ही जीवन का सत्य है तथा एकमात्र वैज्ञानिकता ही वास्तविक महल का केन्द्र बिन्दु है। शून्यता एक अवस्था है, जिससे सीधे विश्वगत चेतना में और ऊपर की ओर आत्मा तथा मस्तक से पार उच्चतर आध्यात्मिक मन में उद्घाटन होता है। किसी भी कार्य को मानव जब संपूर्ण रूप से समर्पित होकर करता है उसे ही संपूर्णता कहते हैं।

निष्कर्ष:--

अस्तित्ववाद की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने आज के वातावरण में मनुष्य के अपने और समाज से हुए अलगाव को रेखांकित किया। इस चिंतन-धारा का उद्देश्य समस्याओं का कोई पिटा-पिटाया समाधान प्रस्तुत करना नहीं था। बल्कि प्रश्नों को इस तरह उठाना था कि मानव मन में अपनी उग्रता का रूप ग्रहण करें। उसे पूर्णत: समेट लें और इनसे टकराने को अपनी नियति के प्रति आदमी ज्यादा संवेदनात्मक ढंग से जागरूक हो सके। अस्तित्व-वाद इसी कारण प्रत्येक दर्शन का प्रस्थान बिन्दु बन जाता है। क्योंकि वह अस्तित्व से सम्बन्धित प्रश्नों को इस ढंग से सामने रखता है कि पहले के समाधान रद्दी और व्यर्थ लगने लगते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि आज के क्रूर एवं जड़ व्यवस्थावाद से व्यक्ति को पार उठाकर उसे स्वतन्त्रता की प्रतीति कराना ही नई कविता का चरम लक्ष्य रहा है।

उपर्युक्त विवेचन विश्लेषण के द्वारा यथासंभव अस्तित्ववादी दर्शन तथा मृत्युबोध को हिन्दी के नगर काव्यों में अभिव्यक्त रीति में प्रस्तुत किया गया है। काव्य दर्शन ग्रंथ नहीं होते। दर्शन की अभिव्यक्ति को तथा

जीवन के व्यावहारिक सन्दर्भों को काव्य में संभावित व्यवहार का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। अधुनातन दर्शन चिन्तन के तत्वों को आधुनिक हिन्दी के खण्ड काव्यों में खोजने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत विश्लेषण मेरे सीमित परिधि में अध्ययन का परिणाम है। मेरे अध्ययन व अनुसन्धान के निर्णय संशोधन की संभावना है, क्योंकि मेरे अध्ययन व विश्लेषण की अपनी सीमाएँ हैं। दर्शन की गहराई तक पहुँचने में और कलात्मक अभिव्यक्ति के मर्म को पकड़ने में कुशाग्रता अपेक्षित होती है और कोई निर्णय अन्तिम नहीं माना जा सकता। आज के अध्ययन का यह निर्णय है। अस्तु। व्यक्ति महान है। व्यक्ति को अपनी महिमा का एहसास करना चाहिए और उसके महत्तम रूप को साध्य करने का प्रयत्न करना है। समष्टि उसके महान रूप को प्राप्त कराने में आत्मचेतना सिद्ध करने में पूर्ण सहयोग देना चाहिए।

आधार ग्रंथ

1.	बलदेव वंशी	आत्मदान	नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1982
2.	गिरिराज कुमार माथुर	कल्पांतर	नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1988
3.	जगदीश गुप्त	शम्बूक	इलाहाबाद - लोक भारती प्रकाशन, 1977
4.	धर्मवीर भारती	अंधायुग	इलाहाबाद किताब महल 1954
		कनुप्रिया	दिल्ली - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 1978
		महाप्रस्थान	दिल्ली, ज्ञानपीठ प्रकाशन 1965 लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय सं. 1977
5.	डॉ. देवराज	इतिहास पुरुष	दिल्ली, ज्ञान पीठ प्रकाशन 1965
6.	नरेश मेहता	संशय की रात	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई 1962 प्रथम सं.
		प्रवादपर्व	लोक भारती, प्रकाशन, इलाहाबाद 1975
7.	दुष्यन्त कुमार	एक कंठ विषपायी	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1976
8.	कुंवर नारायण	आत्मजयी	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली, आ. सं 1990

आलोचनात्मक ग्रंथ

1·	अरविंद	मानव से अतिमानव की ओर मानव एकता का आदर्श अरविंद ने कहा था § चतुर्थ भाग § भारतीय संस्कृति के आधार	संपादक – डॉ·गिरिराज शरण प्रतिभा प्रतिष्ठान नई दिल्ली
2·	डॉ·अयधनारायण त्रिपाठी	नयी कविता में वैयक्तिक चेतना	जवाहर, पुस्तकालय 1976
3·	अज्ञेय	इन्द्रधनु रौंदे हुए ये अरी ओ करुणा	इलाहबाद सरस्वती प्रेस 1957
4·	आल्बेयर कामू	मानवीय चेतना और विवेक जर्मन मित्र का लिखा गया पत्र देखे	विकल्प § प्रवेशांक § 1987
5·	कुमारी दुर्गापन्त	मनुष्य तथा मानवीय अस्तित्व पर ज्यां पाल सार्त्र देखे	दार्शनिक त्रैमासिक
6·	काम्बोज जियालाल	मुण्डक उपनिषद् द्वितीय मुण्डक, प्रथम खण्ड	
7·	डॉ·इन्द्रसेन	अरविंद का जीवन दर्शन	नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, 1982
8·	कान्ति कुमार	नयी कविता	भोपाल, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1972·

9.	गणेश तुलसीराम अष्टेकर	दुष्यन्तकुमार रचनाएँ और रचनाकार	जयपुर, पंचशील प्रकाशन, 1981
10.	डॉ. गिरिराज कुमार माथुर	शिलापंख चमकीले	नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 1979
11.	डॉ. गोविन्द रजनीश	समसामायिक हिन्दी कविता - विविध परिदृश्य	जयपुर, देवनागर प्रकाशन 1973
12.	डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे	धर्मवीर भारती का साहित्य सृजन के विविध रंग	जयपुर, 1989
13.	जगदीश गुप्त	धर्मयुग	1 अप्रैल, 1972
		चक्रव्यूह का कवि	इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन
14.	जगदीश कुमार	नयी कविता की चेतना	
15.	पटेल अभिचन्द्र	नरेश मेहता का काव्य - संवेदना और शिल्प	कानपुर - आराधना ब्रदर्स
		परवर्ती रचनाएँ आख्यान काव्यों का अनुशीलन	
16.	धर्मवीर भारती	संवेदना के धरातल साहित्य के विविध आयाम	

17·	पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव	आदर्श और यथार्थ	काशी नागरी प्रचारिणी सभा,
18·	पृथ्वीनाथ शास्त्री	अस्तित्ववाद एक पुनरीक्षण	
19·	प्रकाश दीक्षित	अस्तित्ववाद और नयी कविता	स्मृति प्रकाशन
20·	बच्चन सिंह	आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983
21·	डॉ·बलभद्र तिवारी	आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका	दिल्ली साहित्य प्रचार, 1977
22·	बल भीराज मोरे	हिन्दी के बहुचर्चित काव्य - नये सन्दर्भ	कानपुर, अनुभव प्रकाशन 1980
23·	महावीर सिंह	मधुमती	
24·	मनोहर वर्मा	अस्तित्ववाद	आलोचना - वर्ष 1978
25·	मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ	प्रकर	दिसंबर पौष, 2040
26·	महावीर दाधीच	अस्तित्ववाद	शब्द लेखी प्रकाशन, बीकानेर, 1968
27·	महीप सिंह	संचेतना : साहित्य समीक्षा	लिपि प्रकाशन, 1989

28.	डॉ॰रामस्वरूप चतुर्वेदी धीरेन्द्र वर्मा प्रधान	अस्तित्ववाद दे॰ हिन्दी साहित्य कोश	ज्ञान मण्डल लिमिटेड तृतीय संस्करण 1985
29.	रामधारी सिंह दिनकर	शुद्ध कविता की खोज नयी कविता कथ्य और शिल्प	पटना, उदयांचल, 1966 नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1987
30.	राजेन्द्र प्रसाद प्रो॰प्र॰ मराठे	परामर्श - हिन्दी	पुणे विश्वविद्यालय, प्रकाशन वर्ष 9, अंक 2 मार्च 1988
31.	उषा नानी	नयी कविता पुनर्मूल्यांकन	आलोचना रंजना प्रकाशन मन्दिर आगरा, 1980
32.	डॉ॰रामगोपाल शर्मा दिनेश	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य	दिल्ली, राजपाल 1972
33.	डॉ॰रामदरश मिश्र	हिन्दी कविता तीन दशक	नयी दिल्ली, नयी पब्लिशिंग हाउस, 1977
34.	राजेन्द्र प्रसाद आनन्द प्रसाद	सारेन कीर्केगार्द का मानव व्यक्ति एक विवेचन	परामर्श हिन्दी वर्ष 7, अंक 2, जून 1986
35.	डॉ॰रामजी सिंह	नयी कविता कथ्य एवं विमर्श - समिष्ट के स्थान पर व्यक्ति बोध गांधी से सार्त्र को ओर	गांधी दर्शन मीमांसा बी कृपलानी द॰ गांधियन वे

36.	रघुवीर सहाय	यथार्थ यथास्थिति नहीं	दिल्ली, वाणी प्रकाशन 1984
37.	लक्ष्मीकांत वर्मा	नयी कविता के प्रतिमान, अतुकांत	इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन, 1981
38.	डॉ.लालचन्द गुप्त मंगल	अस्तित्ववाद और नयी कहानी	शोध प्रबंध प्रकाशन, दिल्ली, 1975
39.	डॉ.देवराज	नयी कविता - साहित्य और संस्कृति	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली 1987
40.	विवेकानन्द	विवेकानन्द संचयन पत्रावली - द्वितीय खण्ड विवेकानन्द साहित्य तृतीय, पंचम खण्ड विवेकानन्द ने कहा था	डॉ.गिरिराज प्रतिभा प्रतिष्ठान नई दिल्ली - 2 1685
41.	देवेश ठाकुर	नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया	वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1975
42.	वेद प्रकाश शर्मा अमिताभ	समकालीन हिन्दी साहित्य	मथुरा, मधुवन, प्रकाशन 1987
43.	विश्वम्भर नाथ उपाध्याय	देवराज - साहित्यकार और चिन्तक	जयपुर, पंचशील प्रकाशन, 1983
44.	डॉ.विनय	आधुनिक हिन्दी कविता	दिल्ली, सम्भा सन्मार्ग प्रकाशन, 1983
45.	शशि सहगल	नयी कविता में वैयक्तिक बोध नयी कविता में मूल्य बोध	दिल्ली, अभिनव प्रकाशन 1976

46•	शिवकरण सिंह	आलोचना के बदलते मानदंड और हिन्दी साहित्य	इलाहाबाद किताब महल, 1969
		मानव मूल्य और साहित्य	
47•	डॉ•शिव प्रसाद गोयल	हिन्दी के खंड काव्य आधुनिक काल के खंड काव्य	पिलानी राजस्थान चिन्ता प्रकाशन 1987
48•	संगीत जोशी	शंकरमत का विज्ञानीकरण राधा कृष्ण का विश्व दर्शन	राजकमल प्रकाशन दिल्ली - 6, 1963
49•	डॉ•वेद प्रकाश गुप्त दर्शन विभाग	दयानन्द सरस्वती का त्रैत सिद्धान्त	प्रकाशन प्रतिष्ठान सुभाष बाजार मेरठ, प्रथम संस्करण
50•	श्याम सुन्दर मिश्र	अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य अस्तित्ववाद कुछ नयी स्थापनाएँ	विधा प्रकाशन मन्दिर दिल्ली - 6 1971
51•	सुषमा भटनागर	नयी कविता में - प्रेम सम्बन्ध	दिल्ली, पांडुलिपि प्रकाशन 1979

52.	डॉ॰ चन्द्र किशोर देवराज	भारतीय दर्शन चार्वाक दर्शन	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रयाग
53.		बृहदारण्यक उपनिषद, प्रथम अध्याय	
54.	डॉ॰ हेतु भारद्वाज	महाभारत, शान्ति पर्व, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मानव प्रतिमा से उद्धृत	जयपुर, पंचशील प्रकाशन, 1983
55.	डॉ॰ हृदय नारायण मिश्र	समकालीन दार्शनिक चिंतन	[illegible] किताब घर, कानपुर, 1966
56.	डॉ॰ हरिचरण शर्मा	पुनश्च, सातवें दशक की नयी हिन्दी कविता के संदर्भ में	जयपुर अनुपम प्रकाशन, 1975
		दुष्यंत कुमार और उनका साहित्य	शिवपुरी प्रमोद प्रकाशन, 1982
57.	डॉ॰ हुकुमचन्द राजपाल	नयी कविता की नाट्यमुखी भूमिका	दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 1976
58.	डॉ॰ संतोष कुमार तिवारी	नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर	मथुरा, पुस्तकालय 1980

59.	डॉ॰हनुमंत राय " नीरव "	अस्तित्ववाद स्वतंत्रता की अवधारणा और नयी कविता	सं अज्ञेय, तार सप्तक मुक्तिबोध
60.	डॉ॰हरिश्चन्द्र वर्मा	नयी कविता के नाट्य काव्य	शोध प्रबन्धक प्रकाशन, 1977
61.	नीरज ठाकुर	आधुनिक हिन्दी कविता - विकास के आयाम	पिलानी, चिन्ता प्रकाशन, 1986
62.	C.G. Jung	Modern Man in Search of Soul	Ark Paper Backs London, 1933
63.	Franz Kafka	The Diaries	
64.	Jean Paul Sartre	Being & Nothing ness	Methuen & coltd London, 1957
65.	E.L. Allen	Existenlialism from within	Roultedge & Kegan Paul Ltd-London, 1953
66.	John wild	The challenge of Existenlialism	North Western Univ. Press, Paris 1973
67.	K.Gurudutt	Existenlialism and Indian Thought	The Indian Institute of World Culture Bangalore-1960
68.	D.D. Runes	~~The concept of Man Introduction~~ The Dictionary of Philosophy	Jaicon Publishing House - Bombay -1,1957
69.	P.T.Raju	The concept of Man Introduction	London, George Allen and Unwin 1966
70.	Garden W.Alport	Personality A. Psyclological Interpretation	London, Safe Publicatio 1987
		Encyclopaedia Britannica 8	Encyclopaedia Britannica Ltd London- 1962